उद्‌देश्य

- शिक्षा, कला, विज्ञान, अनुसंधान, कानून और शासन आदि के लिए अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण कर हिंदी की समृद्धि करना;
- हिंदी को सब प्रकार की अभिव्यक्ति का सशक्त और प्रभावशाली साधन बनाने के उद्‌देश्य से उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रादेशिक भाषाओं का सहयोग लेना;
- समस्त भारतीय भाषाओं के बीच समानता की खोज करना और आदान-प्रदान का द्‌वार मुक्त करना।

नियम

- 'भाषा' में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध भाषा में होनी चाहिए।
- लेख आदि सामान्यतः फुलस्केप आकार के पाँच टाइप पृष्ठों से अधिक न होने चाहिएँ और हाशिया छोड़ कर कागज़ के एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिएँ।
- साधारणतया हस्तलिखित सामग्री स्वीकार करने का नियम नहीं है।
- अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना आवश्यक है।
- सामग्री के प्रकाशन के विषय में संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।
- लेखों की स्वीकृति की सूचना पंद्रह दिन के भीतर दे दी जाती है, अस्वीकृत रचनाओं के संबंध में सूचना देने का नियम नहीं है।
- अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है।
- समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिएँ।
- पत्रिका की बिक्री की व्यवस्था प्रबंधक, प्रकाशन शाखा, सिविल लाइंस, दिल्ली-6 द्‌वारा की जाती है। सदस्य बनने, विज्ञापन देने और वार्षिक चंदा जमा करने के लिए उन्हीं से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

अनुक्रम

काव्य

भाषा और व्याकरण

संपादक द्विवेदी

पत्र साहित्य

विविध विषय

तुलनात्मक विवेचन

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्म शताब्दी पर 'भाषा' का विशेषांक निकाला जा रहा है। द्विवेदी जी हिंदी साहित्य के युग-निर्माता थे। उन्होंने अपना समस्त जीवन हिंदी भाषा के परिष्कार और परिमार्जन में लगा दिया। विशेषांक के लिए अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

लालबहादुर शास्त्री
प्रधान मंत्री
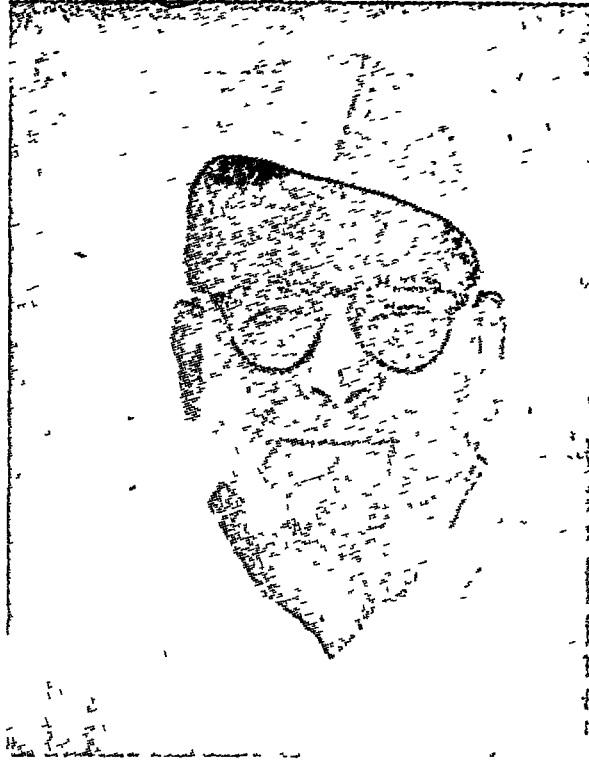
मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय आचार्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुण्य स्मृति मे केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'भाषा' (त्रैमासिक) का विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

स्वर्गीय आचार्य द्विवेदी जी के नाम का स्मरण करते ही हिंदी पत्रकारिता तथा साहित्य की वर्तमान प्रगति का सारा चित्र हमारे सामने स्वत स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने एक लबे समय तक हिंदी गद्य की शैली को सँवारने का जो कार्य किया वह अनेक युगो तक याद रहेगा। इतना ही नही उन्होंने अनेक उदीयमान हिंदी लेखको को प्रोत्साहित करके तथा उनका मार्ग दर्शन करके उन्हे आगे बढाया और उन्हें हिंदी के साहित्य-भडार की पूर्ति करने का यश दिलाया। इस प्रकार स्वर्गीय द्विवेदी जी को हिंदी साहित्य का भीष्म पितामह माना जा सकता है। उन्होंने हिंदी की अभिवृद्धि के लिए अनेक दिशाओ में जो प्रयत्न किया है वह वर्तमान पीढी के लेखको को भी नई प्रेरणा दे रहा है।

मुझे पूरा विश्वास है कि 'भाषा' का यह विशेषांक सब दृष्टियो से सर्वांगपूर्ण और सग्रहणीय होगा तथा उसके द्वारा स्वर्गीय द्विवेदी जी की स्मृति की रक्षा करने के कार्य में भी यथेष्ट सफलता मिलेगी।

मै आपके इस आयोजन की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

भक्त दर्शन

उप शिक्षा-मंत्री, भारत सरकार

संपादकीय

हिंदी भाषा के प्रवर्तको और उन्नायको मे द्विवेदी जी का अप्रतिम स्थान है। अपने जीवन-काल में हिंदी के लिए उन्होंने जो कुछ किया, उसका सर्वांग परिचय देने के उद्देश्य से प्रस्तुत विशेषांक का आयोजन किया गया है। हमारा प्रयत्न रहा है कि इस अक में द्विवेदी जी की बहुविध प्रतिभा का सम्यक् विवेचन किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमने ऐसे महानुभावो से सपर्क किया जो द्विवेदी जी के समकालीन रहे अथवा जिनका तत्कालीन साहित्यिक मान्यताओ और मूल्यो से प्रगाढ परिचय रहा। ऐसे अन्वेषको और गवेषणारत विद्यार्थियो का सहयोग भी हमें मिला, जिन्होंने द्विवेदीयुगीन साहित्य और आचार्य द्विवेदी की साहित्य-साधना के सबध में विशेष अध्ययन और अनुशीलन किया है। इनसे और ऐसे ही अनेक अन्य साहित्यिक-बंधुओ से हमें इतनी अधिक सामग्री प्राप्त हुई कि उसे विशेषांक के 250–300 पृष्ठो मे सकलित कर पाना सभव नही था। इनमें से हमने ऐसे लेखको और साहित्यकारो की सामग्री को चुना, जो या तो द्विवेदी जी के मार्गदर्शन में साहित्य-साधना करते रहे अथवा उनसे प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर प्रसिद्ध हुए।

द्विवेदी जी ने अपने जीवन-काल में इतना अधिक लिखा कि उनके समकालीन साहित्य और इतिहास का अवगाहन करने वाले जिज्ञासुओ को यह जानकर अचरज होता है कि अपने क्रियाशील जीवन के सीमित वर्षों में द्विवेदी जी इतना कैसे लिख पाए? हिंदी साहित्य के इतिहास में गिने-चुने साहित्यकारो को छोड़कर लेखनी की ऐसी कर्मठता का उदाहरण कदाचित् ही मिले।

द्विवेदी जी के विविध साहित्यिक रूपो में हमारे विचार से उनका सपादन-पक्ष विशेष प्रबल है। यह उनके अध्यवसाय और लगन का ही परिणाम था कि जिन्हे आज हम प्रतिष्ठित साहित्यकारो की कोटि में गिनते है उनकी रचनाओ मे प्रौढता, परिष्कार और प्रतिभा का उद्भास द्विवेदी जी के कारण सभव हुआ। मुशी प्रेमचद, चद्रधर शर्मा गुलेरी, मैथिलीशरण गुप्त, रायकृष्ण दास, सेठ गोविंददास आदि विविध साहित्य-विधाओ के प्रणेता द्विवेदी जी की कृपा के लिए ऋणी है और यह स्वीकार करते है कि यदि द्विवेदी जी की कलम से उनकी रचनाओ का परिमार्जन नही हुआ होता तो उनमें निखार न आता।

पत्रकार के नाते और सभवत व्यक्ति के नाते भी, द्विवेदी जी के एक विशेष गुण की चर्चा के बिना यह वृत्तात अधूरा रहेगा। स्पष्टवादिता के इस गुण को कभी-कभी दोष भी माना जाता है, तथापि उनके इस दोष का लाभ अनेको को मिला, और उनकी लेखनी कोयले से सोना बन गई।

भाषा के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा में द्विवेदी जी ने अपने आप को होम दिया। उनकी लगन, सूझ-बूझ, काव्य प्रतिभा और अनवरत परिश्रम को प्रदर्शित करने वाले कुछ अश इस विशेषांक में सकलित किए गए है। उनसे स्पष्ट होगा कि द्विवेदी जी की नज़र से भाषा-गत दोष बच नही पाता था। इसीलिए उन्हें तब तक सतोष नही होता था जब तक वे किसी रचना को पूरी तरह माँज न डालते। ऐसे कई प्रसग है, जिनमें लेखको को यह शिकायत रही कि 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई उनकी रचनाएँ नही छपी, बल्कि वे प्रकाशित हुई जिनमें नाम तो उनका ही रहा, पर जिन्हें स्वय द्विवेदी जी ने आद्योपात परिशोधित करके नया रूप दे डाला था।

भाषा के परिमार्जन में शैलीकार की प्रतिभा निहित होती है। शब्द-चयन, ध्वनि आलेखन, भाषा-विचार, तादात्म्य, उक्तियो की सजावट, प्रचलित शब्दो और मुहावरो का समुचित-सगठन यह सारा वैचित्र्य और विधान उन उद्धरणो से स्पष्ट होगा जो हमने यत्र-तत्र इस विशेषांक में सकलित किए है।

भाषा के सबध में द्विवेदी जी के विचार बड़े उदार और प्रगतिशील थे उदाहरण के रूप में हमने उनके 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख से एक अवतरण चुना है और उसका अनुवाद सभी भारतीय भाषाओ में किया है। आशा है इस अवतरण में पाठको को द्विवेदी जी के शैलीकार रूप का दर्शन मिलेगा।

हमें खेद है कि लगातार प्रयत्नो के बावजूद आचार्य द्विवेदी के रेलवे की सेवा में बिताए दिनो के सबध में तथ्यपूर्ण जानकारी प्राप्त न हो सकी।
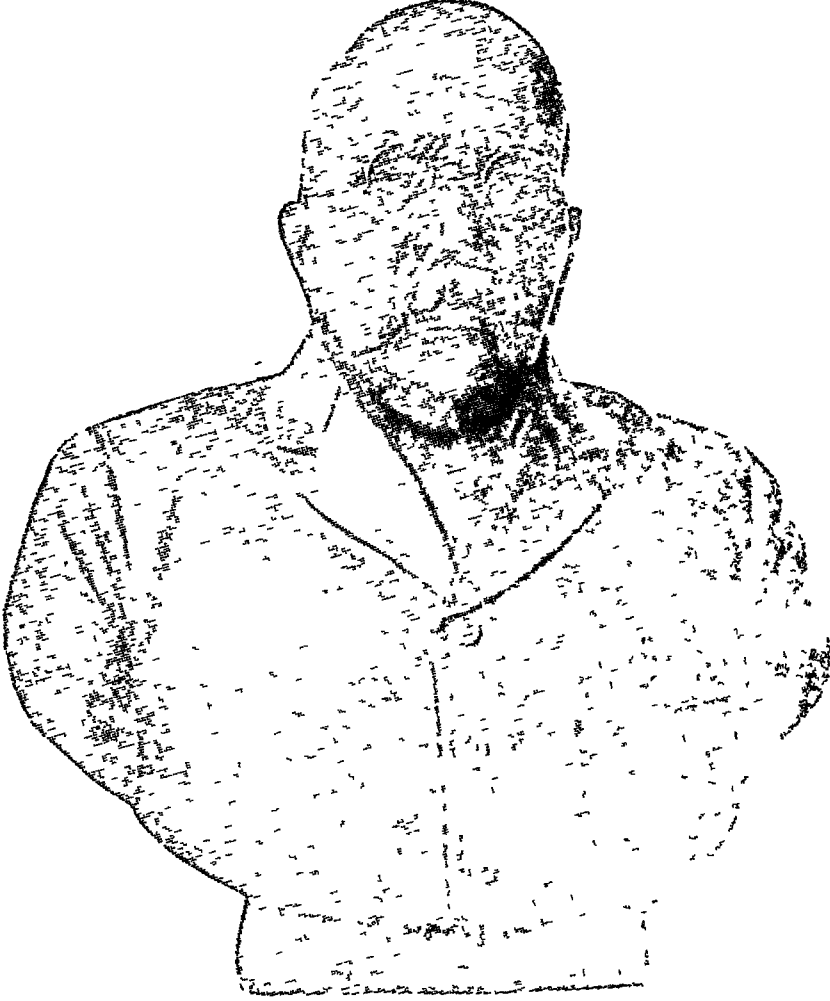
कांस्य प्रतिमूर्ति
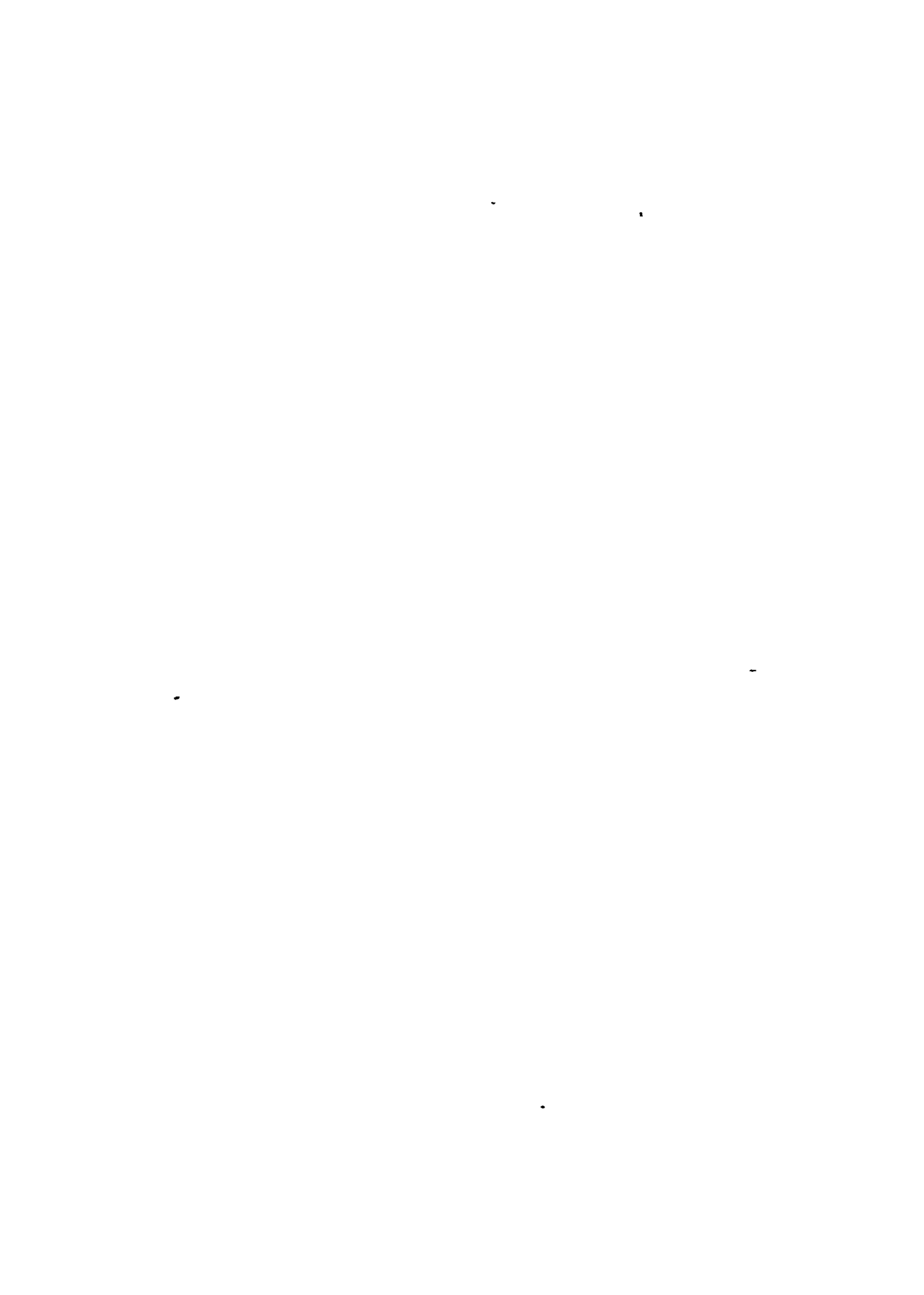
मेरी जीवन रेखा

महावीरप्रसाद द्विवेदी

मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यो मिली है, मालूम नही। कब, किसने दी हे, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मै बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।

यह लक्षण मुझ पर तो घटित होता है नही, क्योकि मैने कभी किसी को इक्का एक भी नही पढाया। शकराचार्य, मध्वाचार्य, साख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रजकण की बराबरी मैं नही कर सकता। बनारस के सस्कृत कालिज या किसी विश्वविद्यालय मे भी मैने कभी कदम नही रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया? विचार करने पर मेरी समझ मे, इसका एक मात्र कारण मुझ पर कृपा करने वाले सज्जनो का अनुग्रह ही जान पडता है। जो जिसका प्रेम-पात्र होता है, उसे उसके दोप नही दिखाई देते। जहाँ दोप देख पडते हैं, वहाँ तो प्रेम का प्रवेश ही नही हो सकता। नगरो की बात जाने दीजिए, देहात तक मे माता-पिता और गुरजन अपने लूले, लँगडे, काने, अधे, जन्मरोगी और महाकुरूप लडको का नाम श्यामसुदर, मनमोहन, चारुचद्र और नयनसुख रखते है। जिनके कब्जे मे अँगुल भर जमीन नही वे पृथ्वीपति और पृथ्वीपाल कहाते है। जिनके घर मे टका नहीं वे करोडीमल कहे जाते है। मेरी आचार्य पदवी भी कुछ-कुछ इसी तरह की है, पर इससे पदवी-दाताजनो का जो भाव प्रकट होता है उसका अभिनदन मै हृदय से करता हूँ। यह पदवी उनके प्रेम, उनके औदार्य, उनके वात्सल्य-भाव की सूचक है। अतएव प्रेमपात्र मैं अपने इन सभी उदाराशय प्रेमियो का ऋणी हूँ। बात यह है कि—

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि

अर्थात् गुणो का सबसे बडा आधार प्रेम होता है, वस्तु-विशेष नही। जो जिस पर कृपा करता है—जिसका प्रेम जिस पर होता है—वह उसे आचार्य क्या यदि जगद्गुरु समझ ले तो आश्चर्य की बात नहीं।

तथापि, मेरी धृष्टता क्षमा की जाए, मुझे ऐसी बातो से, स्तुति और प्रशसा से बहुत डर लगता है, क्योकि वे अहकार को जन्म देने वाली ही नही, उसे बढाने वाली है, और इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ। यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-सधान किया, कभी किसी ग्रथकार या ग्रंथ-प्रकाशक पर अपना रोब जमाया।

जब मुझ में ज्ञान की कुछ यों ही जरा-सी झलक थी तब मैं मदांध हाथी-सा हो रहा था—तब मुझ में अहंकार की मात्रा इतनी अधिक थी कि मैं अपने को सर्वज्ञ समझता था परतु किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से जब मुझे कुछ विज्ञ विद्वानो की सगति नसीब हुई और जब मैंने प्रकृत पडितो की कुछ पुस्तको का मनन किया, तब मेरी आँखे खुल गई, तब मेरा सारा अहकार चूर्ण हो गया। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं तो महामूर्ख हूँ। नतीजा यह हुआ कि मेरी झूठी सर्वज्ञता का वह नशा उसी तरह उतर गया जिस तरह 104 डिग्री तक चढा हुआ ज्वर उतर जाता है।

मेरी झूठी विज्ञता के आवेश ने, मुझसे पूर्वावस्था मे, अनेक अनुचित काम करा डाले। उस दशा में मुझ मे जो दुष्कृत्य हो गए, उन्होने मेरी आत्मा को कलुषित कर दिया। उन्होने उस पर काला पर्दा-सा डाल रखा है। इस कारण मैं थोडा-सा प्रायश्चित करके उस पर्दे के बहुत न सही, थोडे ही अश को हटा ही देना चाहता हूँ।

शठ सेवक मैं, चर-अचर, आप सभी भगवान।
दीन हीन मुझ को अधम समझो दयानिधान ॥

अहकार की व्याप्ति से बचने ही के लिए मैंने आज तक, आमत्रित होने पर भी, साहित्य-समेलन के सभापति-पद को स्वीकार नही किया। अनेक महानुभावो ने जिस आसन की शोभा बढाई उसी पर बैठना मेरे लिए बडी गुस्ताखी भी होती।

मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। परतु मैं क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रो और कृपालु हितैषियो को बहुत ही कम है। उन्होने मुझे अनेक पत्र लिखे है, अनेक उलाहने दिए है। अनेक प्रणयानुरोध किए है, वे चाहते है कि मैं अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्णरूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझ में नही। अपनी कथा कहते हुए सकोच भी बहुत होता है। उसमे कुछ तत्त्व भी तो नही। उससे कोई कुछ सीख भी तो नही सकता। तथापि जिन सज्जनो ने मुझे अपना कृपापात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लघन भी धृष्टता होगी। अतएव मैं अपने जीवन से सबध रखने वाली कुछ बातें, सूत्र रूप मे, सुना देना चाहता हूँ। बडे-बडे लोगो ने, इस विषय में मेरे लिए मैदान पहले ही से साफ भी कर रखा है।

मैं एक ऐसे देहाती का एक मात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन दस रु० था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोडी-सी उर्दू और घर थोडी-सी सस्कृत पढकर तेरह वर्ष की उम्र में मैं छब्बीस मील दूर, रायबरेली के ज़िला स्कूल मे अँग्रेजी पढने गया। आटा, दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही मे आटे के पेडे या टिकियाएँ पका करके पेट-पूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। सस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल मे वैसे ही अछूत समझी गई थी जैसी मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणो मे वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अँग्रेजी के साथ फारसी पढता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलो मे चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं इससे आगे न बढ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वही समाप्ति हो गई।

एक साल अजमेर मे पद्रह रु० महीने पर नौकरी करके, पिता के पास बबई में पहुँचा और तार का काम सीख कर जी० आई० पी० रेलवे में पचास रु० महीने पर तार का बाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनो की सगति करने की ओर थी, दैवयोग मे हरदा और हुशगाबाद मे मुझे ऐसी सगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धात या आदर्श निश्चित किए। यथा (1) वक्त की पाबदी करना, (2) रिश्वत न लेना, (3) अपना काम ईमानदारी से करना, और (4) ज्ञान वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धातो के अनुकूल आचरण करना तो सहज था पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमे सफलता भी होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सडक की निगरानी करने वाले प्लेटियर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरो की नज़र मुझ पर पडी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस

तरह कि एक दफे छोडकर मुझे कभी तरक्की के लिए दरख्वास्त नही देनी पडी। जब इडियन मिडलैंड रेलवे बनी और उसके दफ्तर झाँसी में खुले तब जी० आई० पी० रेलवे के मुलाजिम जो साहब वहाँ जनरल ट्राफिक मैनेजर मुकर्रर हुए वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाए और नए-नए काम मुझ से लेकर मेरी पदोन्नति करते गए। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञान-लिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुणग्राहकता थी। दस बारह वर्ष बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इडियन मिडलैंड रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई, तब कुछ दिन बबई में रहकर मैंने अपना तबादला झाँसी को करा लिया। वही रहना मुझे अधिक पसद था। पाँच वर्ष मै वहाँ डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नही कटे। लार्ड कर्जन का देहली दरबार उसी जमाने मे हुआ था। मेरे गौराग प्रभु अपनी राते अपने बगले या क्लब मे बिताते थे। मै दिनभर दफ्तर का काम करके रात भर अपनी कुटिया मे पडा हुआ, उनके नाम आए हुए तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन स्पेशल रेलगाडियो के सबध मे होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौडा करती थी। उन चाँदी के टुकडो की बदौलत जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किए इस अत्याचार को महीनो बर्दाश्त किया।

मै यदि किसी के अत्याचार को सह लूँगा तो उससे मेरी सहनशीलता अवश्य सूचित होती है, पर उससे मुझे औरो पर अत्याचार करने का अधिकार नही प्राप्त हो जाता। परतु कुछ समयोत्तर बानक ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरो पर अत्याचार करना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियो को लेकर रोज सुबह आठ बजे दफ्तर मे आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज़ मेरी मेज पर मुझे रखे मिले। मैंने कहा, मैं आऊँगा, पर औरो को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हे हुक्म देना हुजूर का काम है। बस, बात बढी, और बिला किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नही, सिफारिशें तक की गई। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापस लेना चाहिए यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्णा होकर कहा—"क्या थूक कर भी उसे कोई चाटता है?" मै बोला, नही, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने आठ आने रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह-कार्य चलाने का दृढ सकल्प किया और मैंने 'सरस्वती' की सेवा से हर महीने जो बीस रु० उजरत और तीन रु० डाक खर्च की आमदनी होती थी उसी मे सतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा किसी समय तो मुझे पद्रह रु० ही मिलते थे, तेईस रु० तो उसके ड्योढे से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नही।

मेरे पिता ईस्ट इडिया कपनी की एक पलटन में सैनिक वा सिपाही थे। मामूली हिंदी पढे-लिखे थे। बडे भक्त थे। सिपाहियाने के काम से छुट्टी पाने पर राम-लक्ष्मण की पूजा किया करते थे। इसी से साथी सिपाहियो ने उनका नाम रखा था—लछिमन जी। गदर में पिता की पलटन बागी हो गई, जो बच निकले वे बच गए। बाकी जवान तोपो से उडा दिए गए। पलटन इस समय होशियारपुर (पजाब) मे थी। पिता ने भागकर अपना शरीर सतलुज की वेगवती धारा को अर्पण कर दिया। एक या दो दिन बाद बेहोशी की हालत मे, सैकडो कोस दूर, आगे की तरफ, कही वे किनारे लग गए। होश आने पर सभले और हरी मोटी घास के तिनके चूम-चूम कर कुछ शक्ति सपादन की। माँगते-खाते, साधुवेश में, कई महीने बाद, वह घर आए। घर पर कुछ दिन रहकर, इधर-उधर भटकते हुए, वे बबई पहुँचे। वहाँ वल्लभ-सप्रदाय के एक गोस्वामी जी के यहाँ वे नौकर हो गए। इस तरह यहाँ भी उन्हे ठाकुर जी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे समर्थ होने तक वे इसी संप्रदाय के गोस्वामी की मुलाजिमत में रहे। फिर सदा के लिए उसे छोडकर घर चले आए।

मेरे पितामह अलबत्ता सस्कृतज्ञ थे और अच्छे पडित भी थे। बगाल की छावनियो मे स्थित पलटनो को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकडो हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो चार-पुस्तकें मुझे भी घर मे पडी मिलीं। मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम मात्र को हिंदी क्या कैथी जानते थे। पर उनमे नए-नए किस्से बना कर

रहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले में दानशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार, भूपालसिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे। मेरे नाना और मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की सस्कृतज्ञता का परिचय स्वय मैने, उनके पास बैठकर, प्राप्त किया था।

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे हुआ——पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्वजन्म के कृतकर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैने सैकडो कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवि-वचन-सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक-पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाज़िम थे, पिंगल का पाठ पढा। फिर क्या था। मैं अपने को कवि ही नही महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यो का त्यो बना रहा। झांसी आने पर जब मैंने, पण्डितो की कृपा से, प्रकृत कवियो के काव्यो का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छदोबद्ध प्रलापो के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य मे कुछ न कुछ लिखना जारी रखा। सस्कृत और अँग्रेज़ी पुस्तको के कुछ अनुवाद भी मैने किए।

जब मैं झाँसी मे था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमे बहुत से दोष दिखाए। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थी। इससे उस अध्यापक ने मुझ से उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार मे प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था, प्रयाग का इडियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सपादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोडने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोडने पर मेरे मित्रो ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा——'आओ, मैं तुम्हे अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा।' किसी ने लिखा——'मै तुम्हारे साथ बैठकर सस्कृत पढूँगा।' किसी ने कहा——'मैं तुम्हारे लिए छापाखाना खुलवा दूँगा' इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके सहायतादान की विशेष आवश्यकता नही। मैंने सोचा अव्यवस्थित चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सदेह रहता है। क्यो न मैं अगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ। प्रयत्न और परिश्रम की बडी महिमा है। अतएव 'सब तज हरि भज' की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही मे मै अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोडा बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और करता था। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से 'सपत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक को छोडकर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था उससे मुझे टको की प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रथकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थी, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रो और सलाहकारो ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा——अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हो। रुपए का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमे में आ गया। यूरोप और अमरीका तक में प्रकाशित पुस्तकें मँगाकर पढी। सस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रखा 'तरुणोपदेश'। मित्रो ने देखा, कहा, अच्छी तो है, पर इसमे सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम ही सुनकर और विज्ञापन मात्र ही पढकर खरीदार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड नहीं, बहते हुए घाव या गदगी पर मक्खियो के झुड के झुड टूटते है। काम-कला लिखो, काम-किल्लोल लिखो, कंदर्प

दर्पण लिखो, रति-रहस्य लिखो, मनोज-मजरी लिखो, अनग-रग लिखो ।' मैं सोच विचार में पड गया । बहुत दिनो तक चित्त चलायमान रहा। अत मे जीत मेरे मित्रो ही की रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसद न आए। मैं उनसे भी बास भर आगे बढ गया । कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरण वाले लबे-लबे छदो में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली—ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नही तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीन-चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ। आजकल की नही । आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनो को धनी, और धनियो को धनाधीश बना रहा है। अपने बूढे मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से, आपके सामने, उस नाम का उल्लेख करके मुझे बडी लज्जा मालूम होगी। पर पापों का प्रायश्चित करने के लिए आप पच-समाजरूपी परमेश्वर के सामने, शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा। अच्छा, तो उसका नाम था या है—सोहाग रात। उसमें क्या है, यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नही, क्योकि—

परेङि्गतज्ञानफला हि बुद्धय

मेरे मित्रो ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसद किया, उसे बहुत सरस पाया अतएव उन्होने मेरी पीठ खूब ठोकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा । अब लगा मैं हवाई किले बनाने । पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूँगा, मेरे घर रुपयो की वृष्टि होने लगेगी । शीघ्र ही मैं मोटर नही, तो एक विक्टोरिया खरीद कर उस पर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोडकर दशाश्वमेघ घाट पर कोई तिमजिला मकान बनवाकर या मोल लेकर वही काशीवास करूँगा। कई कर्मचारी रखूँगा । अन्यथा हजारो वैल्यू-पेबिल कौन रवाना करेगा।

परतु अभागियो के सुख-स्वप्न सच्चे नही निकलते। मेरे हवाई महल एक पल मे ढह पडे। मेरी पत्नी कुछ पढी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनो पुस्तकें मैंने लिखी थी। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तके देख ली। देखा ही नही, उलट-पलट कर पढा भी । फिर क्या था, उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कडे कशाघात किए कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन पुस्तको की कापियो को आजन्म कारावास या कालेपानी की सजा दे दी । वे उसके सदूक मे बद हो गई । उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस 'दायमुलहब्स' से हुआ । छूटने पर मैंने इन्हें एकातसेवन की आज्ञा दे दी है। क्योकि सती की आज्ञा का उल्लघन करने की शक्ति मुझ मे नही । इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पकपयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बडी कृपा हो। इसी से मैंने बहुत कुछ अप्रासगिक विषय के उल्लेख की यहाँ जरूरत समझी।

'सरस्वती' के सपादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए। मैंने सकल्प किया (1) वक्त की पाबदी करूँगा, (2) मालिको का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा, (3) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठको के हानि-लाभ का सदा ख्याल रखूँगा, और (4) न्याय-पथ मे कभी न विचलित हूगा । इनका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, सक्षेप में सुन लीजिए —(1) सपादक जी बीमार हो गए, इस कारण 'स्वर्ग समाचार' दो हफ्ते बद रहा । मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गए, लाचार 'विश्वमोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है । 'प्रलयकरी' पत्रिका के विधाता का फौंटेनपेन टूट गया। उसके मातम में तेरह दिन काम बद रहा। इसी मे पत्रिका के प्रकाशन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई । क्या किया जाता। 'त्रिलोक मित्र' का यह अश, इसी से समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड चुकी थी। मैंने कहा—मैं इन बातो का कायल नही । प्रेस की मशीन टूट जाए तो उसका जिम्मेदार मैं नही। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया । चाहे पूरा का पूरा अक मुझे ही क्यो न लिखना पडा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी । मैंने तो यहाँ तक किया कि कम से कम छह महीने आगे की सामग्री सदा

अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनो बीमार पड जाऊँ तो क्या हो ? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बंद रखना क्या ग्राहको के साथ अन्याय करना न होगा ? अस्तु ! मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घकाल मे, एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन नही रुका। जब मैंने अपना काम छोडा तब भी मैंने नए सपादक को बहुत से बचे हुए लेख अर्पण किए। उस समय के उपार्जित और अपने कुछ लिखे हुए लेख अब भी मेरे सग्रह में सुरक्षित हैं।

(2) मालिको का विश्वास भाजन बनने की चेष्टा मे मै यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन मे पडने की नौबत नही आई ? 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढता से की। एक दफे अलबत्ता मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के बगले पर हाजिर होना पडा। पर मै भूल से तलब किया गया था। किसी विज्ञापन के सबध मे मैजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनो की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढता गया और मालिको का मै जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास भाजन होता गया वैसे ही वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया, और मेरी आर्थिक स्थिति प्राय वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोडने के समय थी। इसमे मेरी कारगुजारी कम, दिवगत बाबू चिंतामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होने मेरे सपादन-स्वातत्र्य मे कभी बाधा नही डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसे ही समझते है।

(3) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिंदी का गौरव बढा रही है, पर उस समय एकमात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओ की रानी नही पाठको की सेविका थी। तब उसमें कुछ छापना या किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशन करना जरा बडी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बडे-बडे प्रलोभन दिए जाते थे। कोई कहता मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मै तुम्हे निहाल कर दूँगा। कोई लिखता —अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मै तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढिया घडी या पैरगाडी नजर की जाएगी। इन प्रलोभनो का विचार करके मै अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश महलो को खुद मेरी ही पत्नी ने गिरा कर चूर कर दिया, तब भला ये घडियाँ और गाडियाँ मे कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मै बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' मे वही मसाला जाने देता जिससे मै पाठको का लाभ समझता। मै उनकी रुचि का सदैव ख्याल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको, सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। सशोधन द्वारा लेखो की भाषा अधिक-सख्यक पाठको की समझ मे आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह है कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकाश पाठक समझ लेंगे या नही। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैने कभी नही की।

(4) सरस्वती मे प्रकाशित मेरे लघु लेखो (नोटो) और आलोचनाओ ही से सर्वसाधारण जन इस बात का पता लगा सकते है कि मैने कहाँ तक न्याय मार्ग का अवलबन किया है। जानबूझ कर मैने कभी अपनी आत्मा का हनन नही किया। न किसी के प्रसाद की प्राप्ति की आकाक्षा की, न किसी के कोप से विचलित हुआ। इस प्रात के कितने ही न्यायनिष्ठ सामाजिक सत्पुरुषो ने 'सरस्वती' का जो 'बायकाट' कर दिया था वह मेरे किस अपराध का सूचक था, इसका निर्णय सुधीजन कर सकते है।

अंतरंग क्षण

आचार्य देव

मैथिलीशरण गुप्त
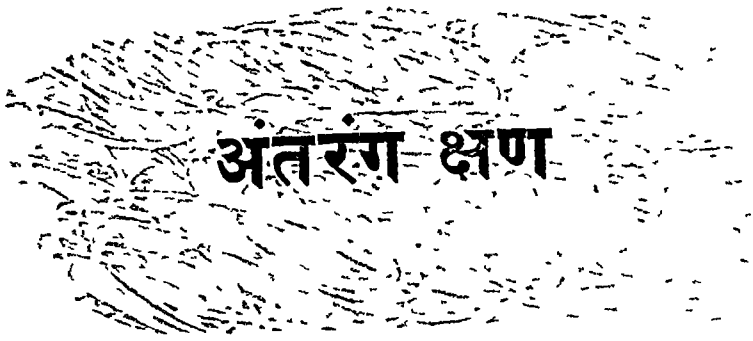
मै जब और कुछ न बन सका तब मैने कवि बनने की ठानी, हाय ! कही सब पीले बाँस वेणु बन सकते।

एक जन जो गधे पर बैठने की भी योग्यता न रखता था, बनाने वाले के बढावे मे आकर घोडे पर चढ बैठा। घोडा भी ऐसा, जो धरती पर पैर ही न रखना चाहता था। ऐसा आरोही तो उसके लिए अपमानजनक था। परतु क्या जाने घोडे को भी विनोद सूझा और वह उसे एक वर्जित स्थान में ले दौडा। वहाँ का प्रहरी सतर्क होकर चिल्लाया—सावधान ? परतु आरोही सावधान होकर भी क्या करे ? अब प्रहरी ने अपना अस्त्र सँभाल कर कहा—अच्छा, चला आ ऐसे ही। तब आरोही चिल्लाया—दुहाई आपकी, मै स्वय नही आ रहा हूँ, यह दुर्मुख मुझे लिए आ रहा है। प्रहरी भी समझ गया और जिसे अनधिकार प्रवेश करने का दड देने जा रहा था उस भाग्यहीन अथवा भाग्यवान की उसे उलटी सँभाल करनी पडी।

कवि तो बनाए नही जाते, परतु कोप-भाजन होने योग्य होकर भी मै पूज्य द्विवेदी जी महाराज का अनुग्रह भाजन हो गया। इससे बढकर किसी का क्या सौभाग्य होगा।

पैंतीस-छत्तीस वर्ष पहले की बात है, मै कुछ पद्य बनाने लगा था। पडित जी उन दिनो झाँसी में ही थे, उनका नाम सुन चुका था और उनकी 'सरस्वती' के दर्शन भी मैने पा लिए थे। मेरे मन में प्रश्न उठा—क्या सरस्वती में अन्य कवियो की भाँति मेरा नाम नही छप सकता ? इसका उत्तर अपने ही दीर्घ नि श्वास के रूप में मुझे मिल जाना चाहिए था, परतु लडकपन अल्हड होता है और दुस्साहसी भी ।

पिताजी के साकेतवास के पीछे उनके नाते कृपा बनाए रखने के प्रार्थी होकर अपने काका जी के साथ हम लोग पहली बार कलक्टर साहब को जुहारने झाँसी गए थे। मेरे जाने का प्रधान उत्साह और ही था। भीतर-भीतर *'सरस्वती' में अपना नाम छपवाने का डौल लगाने की लालसा से और बाहर आकर ऐसे महानुभाव के दर्शन* करने की इच्छा से, अपने अग्रज को साथ लेकर मै पडित जी के स्थान पर पहुँचा। घर छोटा ही था, द्वार पर बाँस की सीको की बनी लिपटी हुई चिक बंधी थी, जिसकी गोट का हरा कपडा कुछ फीका पड चला था। एक ओर उनके नाम की पट्टी लगी थी, दूसरी ओर भी एक पटली थी। उसमें लिखा था—सवेरे भेट न होगी। हम लोग इस बात को सुन चुके थे। अतएव तीसरे पहर गए थे। तब भी वे आफिस से नही लौटे थे। छोटे से उसारे में एक बैंच पडी थी। उसी पर हम बैठ गए। भीतर कमरे में खुली अलमारियो की पुस्तको की दूसरी दीवार-सी लगी थी। बाईं ओर के पक्खे से सटकर एक पलग पडा था उस पर लपेटे हुए बिछौने ने लोड का रूप धारण कर रखा था। दाईं ओर के पक्खे से लगी हुई दो तीन कुर्सियाँ पडी थी। बीच के रिक्त स्थान में पलग से कुछ हट कर प्रवेश द्वार के खुले किवाड को छूता हुआ-सा एक छोटा-सा टेबुल या चेयर डेस्क था। उसके सामने भी एक कुर्सी पडी थी। टेबुल लिखने-पढने की सामग्री से भरा था, परंतु सब सामग्री बडे ढंग से सजाई गई थी। प्रवेश द्वार के सामने ही भीतर जाने का द्वार था उसमे से एक मझपौरिया दिखाई देती थी। सारा स्थान बहुत ही परिष्कृत, स्वच्छ और शात-कात दिखाई पड़ता था। तो भी पडित जी के आने का समय निकट जान कर घर की परिचारिका हाथ मे गमछा लिए उसे कमरे मे इधर-उधर फटकार रही थी। ऐसा जान पडता था मानो

यह एक विधि है, जिसे आवश्यक हो या न हो, पूरा करना ही चाहिए। ऐसी समझदार और कुशल सेविकाएँ विरली ही होती हैं। बड़ी अपनाहत के साथ उसने हम लोगो का स्वागत-सत्कार किया। उसकी मृत्यु होने पर पंडित जी ने मुझे यथार्थ ही लिखा था—ऐसा जन अब मिलने का नही।

तनिक देर पीछे उसने एक बार इधर-उधर देखा फिर उसारे से नीचे उतरकर कुछ दूर तक पडित जी के आने का मार्ग भी बुहार दिया। इतना करके मानो वह उस समय के कार्य से निश्चित हो गई। उसी समय पडित जी आते हुए दिखाई दिए। व्यक्तियो की विशिष्टता मानो उनके आगे चलती है। हम लोगो ने देखते ही समझ लिया, यही पडित जी हैं, यद्यपि बिना पगडी के पडित जी का अनुमान ही न कर सकता था और उनके सिर पर टोपी थी। मैंने सध्या समय दफ्तर लौटते हुए बहुत से बाबुओं को झाँसी मे ही देखा था। जान पडा बाबू के वेश मे वे कोई साहब हैं। विलायती साहब बहादुर से तो हम लोग मिल ही चुके थे। उनका जो तेज था बहुत कुछ उनके अधिकार के कारण था, पडित जी का प्रताप सर्वथा व्यक्तिगत। हम लोग सभ्रम उठ खडे हुए। जाडे के दिन थे। वे हल्के कत्थई रग का नीचा ऊनी कोट या अचकन पहने थे और ऊनी ही सफेद फलालैन का पतलून जैसा पाजामा। बाएँ हाथ मे कुछ कागज-पत्र लिए थे, दाएँ में छडी, दफ्तर से लौटने वालो के विपरीत अनातुर धीर गति से पैदल जा रहे थे। ऐसे मानो, अभी सवारी से उतरे हो। आफिस दूर न था और पैदल जाने मे वे छोटे नही होते थे क्योंकि स्वभावत बडे थे। झूठे सम्मान के पीछे वे टहलने के सुयोग से वचित क्यो होते जब सच्चा सम्मान उन्हे सुलभ था। ऊँचे ललाट के नीचे घनी और मोटी भौहें उनके अनुरूप ही थी। उनकी छाया में विशेष चमकती हुई आँखे बडी न होने पर भी तेज से भरी दिखाई देती थी। पडितजी वेश-भूषा से सुसज्जित चितनशील जान पडते थे। हम लोगो का प्रणाम स्वीकार कर और हम पर एक दृष्टि डालकर वे कमरे के भीतर जाकर ही रुके। वहाँ इधर-उधर देखकर और तुरत ही 'आइए' कहकर उन्होने हमे भीतर बुलाया। जब तक हम कमरे मे भीतर पहुँचे तब तक छडी और कागज-पत्र यथास्थान रखकर उन्होने अपनी टाइमपीस घडी उठा ली थी और उसमे ताली देना आरभ कर दिया था। वे बडे ही नियमबद्ध थे और सभवत आफिस से लौटकर घडी कूकने का समय उन्होने बाँध रखा था।

'बैठिए' सुनकर भी हम लोग खडे ही रहे। हमारा भाव समझकर घडी रखते हुए वे पलंग पर बैठ गए। सामने की कुर्सी की ओर हाथ बढाते हुए फिर स्निग्ध स्वर में बोले—बैठिए। हम लोगो के नाम और परिचय से वे कुछ आकर्पित से हुए और हाल ही में हमे पितृहीन हुआ सुनकर सहानुभूति प्रकट करने लगे। पिताजी की अनन्य भक्ति की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने यह भी पूछा की आप लोग किस सप्रदाय के अनुयायी है। 'विशिष्टाद्वैत' सुनकर बोले—हाँ, बहुत दिन हुए पीछे प्रसिद्ध विद्वान माननीय बार्हस्पत्य जी से जब मै पहली बार मिला तब उन्होने भी मुझसे यही पूछा था और उत्तर सुनकर कहा था, हम विशिष्टाद्वैत मत के तो नही है पर अच्छा उसी को मानते हैं। यह कहकर वे मुस्कराने लगे थे। मै भी उन्ही का अनुसरण करके हँस गया था। पडित जी ने हाँ करते हुए अपना संप्रदाय भी बताया था, सभवत वल्लभ। इसी सबध मे उन्होने एक बार कहा था हमारे पिता कुछ लिखने के पहले लिखा करते थे—श्रीलाडलेश्वराय नम, परतु अब हम देखते है यह लाडले और ईश्वर का सधि सयोग ही ठीक नही है।

पडित जी से हम लोगो की बातचीत आरभ ही हुई थी, इतने मे भीतर से एक सुदर और हृष्ट-पुष्ट बिल्ली आई और उछलकर पडित जी की गोद में आ बैठी। उनके कठस्वर से उन्हें आया जानकर ही वह भीतर से दौड आई है। पशु-पक्षी मैंने भी पाले है परतु पली बिल्ली मैंने पहले पहल वही देखी थी। मुझे बडा कौतूहल हुआ। मैंने देखा, पडित जी धीरे-धीरे उस पर हाथ फेर रहे हैं और वह हर्प और गर्व से एक असाधारण शब्द कर रही थी। जो लोग पक्के गाने से चिढ़ कर उसे बिल्लियो का लडाना कहते हैं वे कही उस बिल्ली का शब्द सुनते तो जानते कि बिल्लियाँ भी स्नेह में कैसा प्यारा बोलती है। पडित जी ने पशु-पक्षियो की चेष्टाओ पर 'सरस्वती' में एक लेख लिखा था। मुझे ठीक स्मरण नही, इस बिल्ली को देखकर मुझे उसका ध्यान आ गया था अथवा उसे देखकर इसका।

परंतु जिस उद्देश्य को लेकर मैं पडित जी के यहाँ गया था उसके विपय मे कुछ कहने का मुझे साहस ही न हुआ । मेरा सारा उत्साह न जाने कहाँ चला गया। मेरे अग्रज ने प्रसग लाकर एक वार कहा भी कि ये भी कुछ कविता वनाते है। 'बडी अच्छी बात है' कहकर पडित जी ने मेरी ओर देखा । मै तो कुछ नहीं, कुछ नही कहकर सकोच से सिकुड गया । मुझे विपत्ति मे पडा देखकर फिर उन्होने कुछ नही कहा । कुछ कहने के लिए मैंने कहा हम लोग तो सवेरे ही आने वाले थे परतु सुना कि सध्या को ही आपसे भेट होती है, इसलिए इस समय सेवा मे उपस्थित हुए है। वे हँसकर बोले—हाँ, सबेरे हम 'सरस्वती' का काम करते है और कुछ लेखादि लिखते हैं, फिर अवकाश नही पाते। परतु जब आप इतनी दूर से आए है तव क्या हम उस समय भी आपसे न मिलते। कभी झाँसी आया कीजिए और सुविधा हो तो मिला कीजिए।

उनका अधिक समय लेना अपराध करना था। रोकने पर भी हम लोगो को विदा करने वे वाहर आए। आगत का स्वागत सभी करते है परतु अपने छोटो के प्रति भी उनका सदा ऐसा ही उदार व्यवहार रहा।

अपने पद्यो के विषय मे प्रत्यक्ष कुछ कहने की अपेक्षा पत्र-व्यवहार करने मे ही मुझे सुविधा दिखाई पडी। वस्तुत उनके प्रभाव से मैं अभिभूत हो गया। पीछे न जाने कितनी वार उनकी सेवा मे उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे भी कृपा कर एक वार यहाँ पधारे परतु वैसा आतक कभी नही जान पडा । इसके विरुद्ध जैसे-जैसे निकट से उनका परिचय मिलता गया वैसे-वैसे उनकी सदयता और सहृदयता का ही अधिकाधिक अनुभव होता रहा । अपने कर्तव्य मे ही वे कठोर प्रतीत होते थे । आत्मसम्मान का प्रश्न आ जाने पर उनमे अग्रता भी आ जाती थी अन्यथा उनका-सा कोमल हृदय दुर्लभ ही है। एक बार वाद-विवाद मे दूसरे पक्ष ने लिखा यह विवाद व्यर्थ है, आप तो ब्राह्मण है आपको क्षमा नही छोडनी चाहिए । पडित जी ने उत्तर में लिखा—हमने जो आरोप लगाए है उन्हें व्यर्थ कहने से काम न चलेगा या तो आप कहिए कि वे झूठे है, हम आपसे क्षमा याचना करेंगे या उनके लिए खेद प्रकट कीजिए । उस समय हम आपको हृदय से क्षमा न कर दे तो ब्राह्मण नही।

उनकी वैसी वेषभूषा भी फिर मैंने नही देखी। एक वार भेट के साथ उन्हे वडा कोट पहने देखकर तो ऐसा भी लगा, जैसे यह उनके अनुरूप न हो ।

इधर प्राय कुरता और धोती ही वे पहना करते थे और यह वेश उन्हें वहुत सोहता भी था। अभिनदन के अवसर पर वे इसी परिच्छद मे थे। अस्तु ।

उस दिन लौटकर मुझे एक आत्मग्लानि-सी हुई कि मै क्यो इतना हतप्रभ हो गया कि अपनी वात भी उनसे न कह सका । और, झूठ क्यो कहूँ, उनके प्रति कुछ ईर्ष्या भी मन में उत्पन्न हो गई । परतु 'सरस्वती' में नाम छपने का लोभ प्रवल था । आशा भी वलवती थी। कुछ दिन पीछे मैंने एक रचना भेज ही दी और उत्सुकता से मै उनके पत्र की प्रतीक्षा करने लगा । मुझे स्मरण नही, इतने लबे समय मे भी, पडित जी ने मेरे किसी पत्र का उत्तर देने में विलव किया हो। इतनी तत्परता मैंने और किसी से पत्र-व्यवहार मे नही पाई। मैंने भी वहुत दिन उनका अनुकरण करने की चेष्टा की, परतु अत मे मै हार गया और अव तो शरीर और मन प्रकृतिस्थ न रहने से एक आध पत्र लिखना भी भारी हो उठा है। परतु पडित जी वृद्ध और क्षीण होने पर भी अत तक अपना नियम निभाते रहे, कितनी दृढता थी उनमें ।

यथासमय उनका उत्तर आ गया—आपकी कविता पुरानी भाषा मे लिखी गई है । सरस्वती मे बोल-चाल की भाषा में ही लिखी गई कविताएँ छापना पसद करता हूँ। राय कृष्णदास जैसे वधु के ससर्ग से भी, जो एक-एक चिट भी यत्न से छाँट कर रखते है, मै पत्रो के सग्रह मे उदासीन रहा हूँ। इसी प्रकार डायरी न रखने मे प्रसगवश अथवा अचानक उठे हुए कितने ही विचार किंवाभाव भी मुझे खो देने पडे है। परतु पडित जी के पत्र न जाने कैसे मै आरभ से ही रखता रहा। कुछ प्रारंभिक पत्रो की एक गड्डी सभवत कही ऐसी सुरक्षित रखी है कि इस समय मुझे भी नही मिल रही है। ऊपर मैंने जिस पत्र का उद्धरण दिया है, सभव है, उसमे शब्दो मे कुछ हेर-फेर हो, किंतु वात वही है।

'बोल चाल की भाषा' अर्थात् खड़ी बोली और पुरानी भाषा अर्थात् व्रजभाषा। पाठक ही समझ ले मेरे मन में अपनी रचना की अस्वीकृति खली या व्रजभाषा की उपेक्षा। मन कुछ विद्रोही था ही, आशा भी पूरी न हुई। अब क्या था। एक बडा-सा पत्र लिख दिया। एक बात सुनी थी कि शेखसादी साहब को फारसी भाषा की मधुरता का बडा अभिमान था। एक बार वे यहाँ आए। व्रजभाषा की प्रशसा सुनकर उन्होने नाक सिकोडी और भौंहें चढाई। घूमते-घामते वे व्रज मे पहुँचे, वहाँ मार्ग मे पहले-पहल एक छोटी-सी लड़की की बात सुनी। वह अपनी माता से कह रही थी—"मायरी माय मग चल्यो न जाए—साँकरी गली पाँय कांकरी गड़तु हैं।" इस बात का सकेत भी मैंने अपने पत्र मे कर दिया और समझ लिया कि बदला ले लिया। परंतु उस पत्र का कोई उत्तर न मिला। भगवान ही जाने, इसे मै अपनी जीत समझा या अपने प्रहार को सर्वथा निष्फल समझकर और भी हताश हो गया। प्रतिघात सह लिया जा सकता है किंतु आघात का व्यर्थ होना प्रतिघात से भी कठोर होता हैं। तथापि मेरी क्षुद्रता का वे क्या उत्तर देते? मैंने धृष्टतापूर्वक एक पत्र और भी इस सबध में भेजा वह वैसा ही लौट आया अथवा लौटा दिया गया।

इस बीच कलकत्ते के 'वैश्योपकारक' मासिक-पत्र में मेरे पत्र छपने लगे थे। इससे मुझे अपने कवि होने का अभिमान हो गया था। परतु हिंदी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' थी। कवि होने का प्रमाण तो उसी में कविता छपने से मिल सकता था, छाप उसी के नाम की लगती थी। मन मेरा उधर ही लगा था। झख मार कर खड़ी बोली के नाम से 'हेमत' शीर्षक कुछ पद्य लिखे। उन्ही दिनो स्वर्गीय राय देवी प्रसाद पूर्ण की 'शरद' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में छपी थी। वह पुरानी भाषा मे ही थी, शरद छपी तो 'हेमत' छप सकता है। उसे भेजते हुए मैंने निर्लज्जतापूर्वक इतना और लिख दिया कि प्रसन्नता की बात है, अब 'पुरानी भाषा के सबध मे आपका विचार 'बदला है।' जिस दिन उत्तर मिलना चाहिए था, उत्सुकतापूर्वक मैं स्वय डाक-घर पहुँचा। उनका उत्तर पोस्टकार्ड के रूप में उपस्थित था। धड़कते हृदय से पढा, लिखा था—"आपकी कविता मिली। राय साहब की कविता अच्छी होने से हमने छापी है।" अब समझ में आया कि नई-पुरानी भाषा का तो एक बहाना था, मेरी कविता अच्छी न होने से न छप सकी थी। यह उस समय भी न समझ में आया कि मेरी रचना अच्छी न थी, फिर भी उन्होने उसे बुरा न बता कर भाषा की बात कह कर कितनी शिष्टता से उत्तर दिया। यद्यपि यह ठीक था कि बोलचाल की भाषा की कविता के ही वे पक्षपाती थे और उसी का प्रचार भी कर रहे थे। जो हो, मेरा जी बैठ गया। एक महीना बीत गया। 'सरस्वती' आई पर 'हेमत' न आया। वह क्यो नही आया, आवेगा भी या नही, यह पूछने का धीरज न रहा। कन्नौज से 'मोहिनी' नाम की एक समाचार-पत्रिका निकलती थी। उसी मे छपने के लिए मैंने 'हेमत' भेज दिया और अगले सप्ताह ही वह छपकर आ गया। एक द्विवेदी जी न सही तो दूसरे गुणग्राहक तो विद्यमान है, यो मैंने मन समझाने की चेष्टा की। मन ने मान भी लिया, कारण, अपमान भी उसी ने माना था तथापि उसके एक कोने से यह शब्द उठे बिना न रहा कि हाय सरस्वती।

नए वर्ष की 'सरस्वती' आई, नई ही सजधज से। अब उसका रूप रग और भी सुदर हो गया। देखकर जी ललचा गया। परतु जिस बात की आशा भी न थी उस 'हेमंत' को भी वह ले आई। मेरा रोम-रोम पुलक उठा, जिस रूप में मैंने उसे भेजा था उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी, बाहर से ही नही भीतर से भी। पढ़ने पर मेरा आनद आश्चर्य मे बदल गया। इसमें तो इतना सशोधन और परिवर्द्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नही कही जा सकती थी। कहाँ वह ककाल और कहाँ यह मूर्त्ति। वह कितना विकृत और यह कितना परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पडित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। परिश्रम उन्होने किया उसका फल मुझे दे डाला। यह तो मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि मेरे जैसे न जाने कितने लोग उनसे इस प्रकार उपकृत हुए हैं। नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण बात नही है। परतु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है। पडित जी अपने सपादकीय जीवन भर यही करते रहे। उनके तप और त्याग का मूल्य

आँकना सहज नही। हिंदी के प्रभविष्णुकवि स्वर्गीय नाथूराम शंकर शर्मा ने एक पत्र मे मुझे लिखा था 'सपादक जी वहुधा कविताओ मे सशोधन भी कर देते है।' 'केरल की तारा' नाम की कविता मे लिखा था।

पीठ पर टपका पडा तो आँख मेरी खुल गई
चार बूँदो से मिले मन की लगोटी धुल गई।

इसमे नीचे की पक्तियाँ उन्होने वदलकर छापी —

विशद बूँदो से मिले मन मौज-मिश्री घुल गई।

लाभ से मेरा लोभ और भी वढ गया। कुछ दिन पीछे 'क्रोधाष्टक' नामक तुकवदी और भेज दी। उपद्रव सहने की भी एक मीमा होती है। इस वार क्षुब्ध होकर उन्होने जो पत्र लिखा वह, इधर स्मृति विकृत होने पर भी मुझे भली-भाँति स्मरण है —

हम लोक सिद्ध कवि नही। वहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढने योग्य वन पाते है। आप दो वातो में से एक भी नही करना चाहते। कुछ भी लिखकर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पडता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोडे ही समय लिखा होगा परतु उसे ठीक करने में हमारे चार घटे लग गए, पहला ही पद्य लीजिए।

होवे तुरत उनकी वलहीन काया
जाने न वे तनिक भी अपना-पराया
होवे विवेक वर बुद्धि विहीन पाई
रे क्रोध, जो जन करे तुझको कदापि।

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे है जो आपने क्रियाओ का प्रयोग किया। इसे हम अवश्य 'सरस्वती' मे छापेंगे, परतु आगे आप सरस्वती के लिए लिखना चाहे तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छपाने का विचार छोड दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कही दूसरी जगह छपवाइए, न किसी को दिखलाइए। ताले में वद करके रखिए।

रोष ही मेरे लिए परितोष वन गया। अयोग्य देखकर पडितजी ने मुझे त्यागा नही, सदा के लिए अपना लिया। इसी पत्र मे मुझे वोलचाल की भाषा में पद्य रचने का गुर मिल गया। परन्तु वातें इतनी ही नहीं हैं, आज और कुछ न लिखकर अपने प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि परलोक में भी उनका पथ-प्रदर्शन मुझे प्राप्त हो।
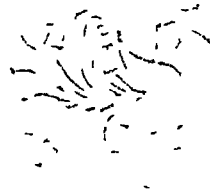
महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीप्रकाश

प्रयाग से प्रकाशित हिंदी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' को मेरी माता आरभ से ही लेती थी। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, 1 जनवरी, 1900 को इसका प्रथम अक निकला था। मेरी अवस्था उस समय दस वर्ष की भी नही थी। 'सरस्वती' को मैं वडे प्रेम मे नियमित रूप से पढता था। उस समय उसका सपादन कई सज्जनो का मडल करता था। मभवत इसमे श्री श्यामसुदर दास और पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी दोनो ही थे। हिंदी के अनन्य सेवको मे इन दोनो का ही नाम लिया जा सकता है। पीछे पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ही उसके सपादक रहे, और उनके मार्ग दर्शन मे पत्रिका की वडी उन्नति हुई और उसकी लोकप्रियता वढती गई। मुझे स्मरण है कि श्री श्यामसुदर दास और पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी मे किसी विपय पर घोर मतभेद हुआ और 'सरस्वती' के स्तभो मे श्री श्यामसुदर दास के पक्ष की वहुत दिनो तक कटु आलोचना होती रही। विवाद का विपय मुझे याद नही है पर यह अवश्य याद है कि दोनो ही अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते रहे और अटल खडे रहे। दोनो ही वडे आग्रही और हठी थे।

मेरा प्रथम सपर्क द्विवेदी जी से सन् 1916 में हुआ। दिसवर, 1913 के वडे दिन (क्रिसमस) की छुट्टी मैंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अपने कुछ सहपाठियो के साथ फ्रास की सुदर राजधानी पेरिस में विताई थी। वहाँ के दृश्यो का वर्णन मैंने अपनी माता के पास एक लवे पत्र मे भेजा था। उन दिनो काशी के कुछ नवयुवक हस्तलिखित मासिक-पत्रिका निकालते थे। मालूम पडता है कि किसी मित्र ने माता से यह ले लिया और उसे इसमे प्रकाशित कर दिया। उस समय श्री हरिभाऊ उपाध्याय 'औडवर' नाम की पत्रिका निकालते थे। उन्होंने मेरे पत्र को देखा और उसे अपनी पत्रिका मे प्रकाशित कर दिया। सयोगवश द्विवेदी जी ने इसे पढा और वहुत पसद किया।

द्विवेदी जी का अचानक मुझे पत्र मिला। उन्होंने लिखा कि 'औडवर' म आपका लेख पढके परमानद हुआ। 'सरस्वती' के लिए भी आप लिखिए। इसके वाद ही लेख लिखकर मैंने उनके पास भेजे। हिंदी में लेख लिखने की प्रेरणा मुझे इसी घटना से मिली। अपने मित्र श्री हरिभाऊ उपाध्याय और पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति मैं इसके लिए अनुगृहीत हूँ। वास्तव मे मैं उनका चिर ऋणी हूँ। 'सरस्वती' मे अधिक लेख न लिखने का कारण यह हुआ कि द्विवेदी जी को अपनी ही शैली पसद थी। वे सवके लेख फिर से इस शैली

विशेष में लिखते थे और तब प्रकाशित करते थे। मुझे यह न पसद था, न है । इस सबध मे द्विवदी जी मे मेरा कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ । पत्र लिखने में वे बडे प्रवीण थे। तुरत उत्तर देते थे। इस सबध में मेरा उनका मतभेद बना रहा । इस कारण दो के बाद तीसरा लेख मैंने नही लिखा । वास्तव मे द्विवेदी जी लेखको की भाषा इतनी बदल देते थे कि मूल लेखक अपनी लिखाई को स्वय ही नही पहिचान सकता था । कम मे कम मेरा अनुभव तो ऐसा ही हुआ ।

बहुत वर्षों बाद—मुझे साफ याद नही है—सभवत' द्विवेदी जी की मृत्यु के थोडे ही दिन पहले उनके समानार्थ काशी की नागरी प्रचारिणी सभा में बहुत बडा आयोजन किया गया । उसी में मुझे द्विवेदी जी का प्रथम और अतिम दर्शन करने का अवसर मिला । हिंदी के तो वे प्रवर्तक थे ही, सस्कृत भाषा पर भी उनको अपूर्व अधिकार था। उन्हें कितने ही सस्कृत श्लोक कटस्थ थे। जब मै उनसे मिला तो उन्होंने सुदर श्लोक पढते हुए मेरा स्वागत किया । जो-जो उनसे मिलता गया, वह इसी प्रकार से नए-नए श्लोको द्वारा अभिनदित किया गया । बहुत बडी सभा हुई। बहुत से विशिष्ट लोगो ने द्विवेदी जी के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की । हिंदी भाषा और साहित्य की उनकी सेवाओ की प्रशसा की। मालूम नही क्यो, मुझसे भी कुछ बोलने को कहा गया। जो मैंने वहाँ कहा, उसी का यहाँ भी उद्धरण कर सकता हूँ। उनकी सराहना करने के बाद मैंने कहा कि द्विवेदी जी का एक बहुत बडा गुण है जो हम भारतीयो मे साधारणतया नही पाया जाता, और साथ ही एक दोष है, जिससे सभी साहित्यिको को बचे रहना चाहिए । गुण यह है कि द्विवेदी जी नए-नए लेखको की खोज मे रहते है और उन्हें उत्साहित करते है। इस प्रकार वे नए लेखको का निर्माण करते है और साहित्य की वृद्धि मे सहायक होते हैं। हमारे देश में सफल वयोवृद्ध व्यक्ति कभी भी नवयुवकों को सहायता नही देते। उनको उत्साहित नही करते । उनकी प्रशसा करना तो जानते ही नही । इसी कारण हमारे देश में वास्तविक उन्नति तो होने ही नहीं पाती । सब परपरा लुप्त हो जाती है। व्यक्ति विशेष अपना नाम छोड जाते है। उनका काम उनके साथ चला जाता हैं। मैंने इस पर अपने पेरिस के पत्र और "औडवर" की कहानी सुनाई और कहा कि यदि सभी प्रवीण हिंदी साहित्यिक गण द्विवेदी जी का अनुकरण करे तो हिंदी की कितनी उन्नति हो सकती है और कितने नए लेखक तैयार किए जा सकते हैं। साथ ही मैंने बिना सकोच उनका यह दोष भी बतलाया कि वे भाषा की अपनी ही शैली पसद करते हैं। किसी दूसरी शैली को स्थान नही देना चाहते । लेखक की शैली उसके व्यक्तित्व की द्योतक है और उसे उत्साहित करना चाहिए, रोकना नही चाहिए । एक ही भाषा भिन्न-भिन्न लेखकों के हाथ मे विभिन्न शैलियो द्वारा नाना प्रकार के सुदर रूप और रग लेती है। मेरा आग्रह था कि द्विवेदी जी कृपाकर इस आवश्यक विषय के इस पहलू पर भी विचार करे।

बहुत से लोगो ने मेरे भाषण को पसद किया । प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने तो यहाँ तक कहा कि उस सभा में मौलिक बातें तो केवल मैंने ही कही। अन्य सब लोग तो साधारण शिष्टाचार की ही बातें कहते रहे। मै नही कह सकता कि यह बात कहाँ तक ठीक थी। पर मै उस समय नया लेखक ही था, इस कारण प्रसन्न ही हुआ । द्विवेदी जी ने क्या समझा, यह मुझे कभी नहीं मालूम हुआ।

द्विवेदी जी का हिंदी जगत में उचित रूप से इतना ऊँचा स्थान है कि उनके समय को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है। मै अपना सौभाग्य समझता हूँ कि "द्विवेदी शती" के शुभ अवसर पर "भाषा" त्रैमासिक के द्विवेदी स्मृति अक के द्वारा मै भी श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित कर सकूं। यह सर्वथा उचित है कि आज हम इन दिग्गज साहित्यिक और विशिष्ट सपादक को स्मरण करे, और उनकी मुक्तकठ से प्रशसा करें। उन्होने हिंदी की ऐसे समय सेवा की जब उसके समर्थक बहुत थोडे थे और हर तरफ से उनका विरोध ही विरोध होता था। भारतीय सविधान मे और भारत के जीवन में हिंदी ने आज विशेष स्थान प्राप्त किया है । द्विवेदी जी जैसे नेताओ के ही परिश्रम का यह फल है। हमे आज यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम अपने को इनके योग्य सिद्ध करें और इनके बताए हुए मार्ग पर चलकर देश, साहित्य और समाज की सेवा करने में सदा कटिबद्ध रहे। ●

आचार्य द्विवेदी

हरिभाऊ उपाध्याय

पूज्य द्विवेदी जी का स्मरण होते ही मेरे सामने पिता और गुरु की एक समिलित मूर्ति खडी हो जाती है। जब मैं 'सरस्वती' में जाने लगा था, तब मुझको कुछ हितैषियो ने मना किया था कि 'द्विवेदी जी से तुम्हारी पटेगी नही, तुम वहाँ न रह सकोगे, वे बहुत कडे और क्रोधी है। कोई सहायक उनके पास अधिक समय तक नही टिका है।' मैंने अपने मन में सोचा कि 'जब पूज्य द्विवेदी जी इतने विद्वान, ऐसे सुयोग्य सपादक, और हिंदी संसार में ऐसे मान्य पुरुष है, तब ऐसा कोई कारण नही कि मै उनके अधीन काम करने मे हिचकूँ या किसी भावी भय को हृदय मे स्थान दूँ। यदि वे कड़े है तो काम ही तो अधिक लेंगे, यदि क्रोधी होंगे तो कुछ भला-बुरा ही तो कह लेंगे, कोई अमानुषिक व्यवहार तो करेंगे नही।' फिर मैं तो उनके प्रति बहुत श्रद्धा और गुरु-भाव रखकर जाना चाहता था। तो, मैंने मित्रो से कहा कि उनकी कडाई मेरे लिए अच्छी ट्रेनिंग का काम देगी और उनका क्रोध मेरे लिए वरदान होगा। बस, मै चल पडा। प्रयाग में 'इडियन प्रेस' के एक कमरे में मै पूज्य द्विवेदी जी के सामने पहले-पहल पेश किया गया। मै मन में कुछ सहम रहा था। उनका खासा लम्बा कद, विशाल और रोबदार चेहरा, बडी-बडी मूँछें ये सब उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप डाल रहे थे। उनके सामने मैं दुबला-पतला अधमरा-सा युवक पहुँचा। पहुँचते ही उन्होंने मुझसे पूछा 'ओहो! आप भी ऐनक लगाते है।' मेरे पाँव के नीचे से ज़मीन खिसक गई। मैंने सोचा, क्या पहली परीक्षा में ही फेल होना होगा? उन्होने और कुछ चुने हुए प्रश्न किए, जिनके उत्तरो मे उन्होने मुझे भीतर बाहर सब अच्छी तरह समझ लिया। मै खूब समझ रहा था कि मुझ पर जबरदस्त 'सर्चलाइट' पढ़ रही है। लेकिन उस समय भी मुझे यही प्रतीत हो रहा था कि मैं एक सहृदय और सहानुभूतिशील बुजुर्ग के सामने हूँ। अस्तु, कोई तीन वर्ष मुझे द्विवेदी जी के चरणो में रह कर 'सरस्वती' की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त रहा। मुझे कभी याद नही पडता कि क्रोध करने की बात ही क्या, कभी तेज़ स्वर में भी द्विवेदी जी ने मुझे कुछ कहा हो। मुझे याद है कि 'जुही' में दस बारह रोज मेरे काम करने के बाद ही उन्होंने मुझसे कहा 'उपाध्याय जी, आप इतनी जल्दी काम पूरा करके क्यो दे देते है। जो बहुत ज़रूरी होगा, उसके लिए मै स्वय कह दिया करूँगा। बाकी काम फुरसत से और आराम से कर दिया कीजिए। दिन रात मेहनत करने की ज़रूरत नही।' उसी समय मैंने इस रहस्य को समझ लिया कि द्विवेदी जी काम करने और काम चाहने वाले आदमी है। खुद भी कडे परिश्रम से काम करते है और चाहते है कि दूसरे भी ऐसा ही करें। जो आदमी स्वयं परिश्रमी होता है, वह इस बात को सहन नही कर सकता कि दूसरा आदमी आलसी बना रहे या काम में टालमटोल करता रहे। मुझे तो यहाँ तक याद है कि कोई कठिन समय आ पडा है, मैं बीमारियो और कौटुबिक कठिनाइयो में घिर गया हूँ, तो पूज्य द्विवेदी जी ने खुद ही 'आर्डिनेंस' निकाल कर मुझे 'सरस्वती' के काम के बोझ से मुक्त कर दिया है और स्वय वह काम कर लिया है। नि सदेह उनके रोबदार चेहरे और लबे-चौडे डील डौल के अदर बडा ही सहानुभूति-पूर्ण और करुणार्द्र हृदय छिपा हुआ है। मेरे दो छोटे भाइयो का जीवन बचना असंभव था, यदि पूज्य

द्विवेदा जी उनके इलाज का बोझ मुझ अनुभवहीन युवक के हाथ से लेकर अपने ऊपर न डाल लेते। कहाँ तक कहूँ, पूज्य, द्विवेदी, जी की तेजस्विता और नियमनिष्ठा की भी बड़ी गहरी छाप मेरे हृदय पर पड़ी है। उनके दैनिक कार्यक्रम से परिचित रहने वाला मनुष्य यह नि सदेह बता सकता है कि द्विवेदी जी अमुक समय पर अमुक काम करते हैं। अपने गुरुजनो से तो मैंने उनसे बढकर नियमनिष्ठ महात्मा जी—गाधी जी—को ही देखा है। पूज्य द्विवेदी जी इस बात को गवारा नही कर सकते कि कोई आदमी चालाकी से या दबाकर उनसे कोई काम करा ले। एक दफ़ा एक पी-एच० डी० महोदय ने एक लेख लिखकर भेजा। उन दिनो 'बी० ए० और एम० ए०' वालो के लेखो के लिए भी सपादको को बड़ा प्रयत्न करना पडता था। पी-एच० डी० तो कम से कम मेरी दृष्टि में देवताओ के समान थे। लेख के साथ पत्र में पी-एच० डी० महोदय ने लिखा कि 'इसके सशोधन में आप कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डाले।' द्विवेदी जी ने बिना विलब उनका लेख लौटा दिया और लिख दिया कि 'सपादन के सबध में मैं किसी की कोई शर्त स्वीकार नहीं कर सकता।' एक सज्जन ने स्वदेशी शक्कर की कुछ थैलियाँ द्विवेदी जी को भेंट की। उनका गर्भित आशय यह था कि द्विवेदी जी उनके सबध में 'सरस्वती' में कुछ लिख दें। कुछ दिनो के बाद फिर वे सज्जन उनसे मिले और उन्होंने उन थैलियो की याद दिलाई, तो अपनी अलमारी की ओर हाथ उठाकर द्विवेदी जी ने कहा 'तुम्हारी थैलियाँ जैसी की तैसी रखी हुई है। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नही बन सकती।'

पूज्य द्विवेदी जी बडे सुव्यवस्थित, अध्ययनशील और परिश्रमशील है। उनके अध्ययन के तो कई सुफल हिंदी ससार के सामने है। सुव्यवस्थित इतने कि यदि किसी दूसरे आदमी ने उनके पुस्तकालय में पुस्तकें इधर-उधर की हो तो उनको फौरन पता लग जाता था। पुरानी चीज़ो और यादगारो के सग्राहक ऐसे कि कोई बीस बरस पहले की रखी हुई पूने की बढिया इनी-गिनी अगरबत्तियो में से एक उन्होंने मुझे बड़े प्रेम से दी थी और मैंने उन्हें उनका आशीर्वाद समझ कर ग्रहण किया था। पैकटो की डोरियाँ, चपडी और लेबल के कागज काट कर, सँभालकर और सँवार कर रखते और उनका उपयोग करते। अखबार इतने गौर से पढते थे कि एक बार विज्ञापनो में से एक कटिंग मेरे पास भेज दिया और लिखा कि तुम्हारे चचा जी को जो फला बीमारी है, उसके लिए यह दवा उपयोगी होगी। सपादन मे इतना परिश्रम करते थे कि ऐसा मालूम होता था मानो सारी 'सरस्वती' के लेख एक ही कलम से लिखे गए हो। मेरी समझ मे पूज्य द्विवेदी जी नई हिंदी के पथ-प्रदर्शक है। उन्होंने हिंदी ससार मे अपनी एक विशिष्ट लेखन शैली और सपादन कला का प्रवेश कराया है। उनके समय मे 'सरस्वती' में लेख का छप जाना अहोभाग्य समझा जाता था। 'सरस्वती' की समालोचनाओ का बडा असर पाठको पर होता था। समालोचना की जो धाक मराठी मे 'केसरी' की थी, हिंदी में वही 'सरस्वती' की थी। द्विवेदी जी निर्भीक समालोचक है। वे वैसे ही साहित्यिक योद्धा भी है। कोई धमकी उन पर असर नही कर सकती। उनके 'कालिदास की निरकुशता', 'भाषा, की अनस्थिरता' आदि उस समय के विवाद प्रसिद्ध ही है, जिनमें उनके योद्धापन और निर्भीकता का काफ़ी परिचय मिलता है। हिंदी में कई कवियो और लेखको के तैयार करने का श्रेय उन्ही को है। आज हिंदी में सौभाग्य से कई मासिक-पत्रिकाएँ निकल रही है। परतु द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' की धाक हृदय पर से मिटाए नही मिटती। मैं तो अब भी चौदह पद्रह वर्ष बीत जाने पर भी, जब उन तीनों वर्षो का स्मरण करता हूँ तो, उस समय से अब सब तरह से कही अच्छी हालत में होते हुए भी अपनी किसी चीज को खोई हुई पाता हूँ। 'सरस्वती' से सबध छोडने के बाद भी मेरे प्रति पूज्य द्विवेदी जी का वही वात्सल्यभाव रहा है। पूज्य महात्मा जी के वातावरण में आने का पथ मेरे लिए सुगम बना देने में भी पूज्य द्विवेदी जी का बड़ा हाथ है। सन् 1921 मे उन्होंने जो दो अच्छे शब्द मेरे लिए मान्यवर जमनालाल जी बजाज को लिख दिए, उनसे हिंदी नवजीवन की योजना को प्रकृत रूप देने में बहुत सहूलियत पैदा हो गई। जिन पुरुषो के प्रभाव मे मेरा जीवन कुछ बना है, उनमे पूज्य द्विवेदी जी भी एक उच्च पुरुष है। और आज मुझे इन शब्दो मे उनके प्रति अपना आदर भाव प्रगट करते हुए बहुत हर्ष होता है। वे जुग-जुग जिएँ और हम जैसो को उत्साहित एव अनुप्राणित करते रहें, यही जगन्नियता से प्रार्थना है। ●

"सरस्वती" में मेरा सबसे पहला लेख 1908 के सभवत· मई अक में निकला था । फिर 1909 के अगस्त या सितवर के अक मे मेरी सवसे पहली कहानी 'राखीवद भाई' प्रकाशित हुई और शायद दूसरी कहानी 'राजपूत की' तलवार' भी उसी वर्ष ।

1916 या 17 मे मैंने उनके दर्शन प्रथम वार किए । साथ मे श्री गणेशशकर विद्यार्थी, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री अजमेरी और दो सज्जन और थे।

द्विवेदी जी झाँसी में रह चुके थे। मुझ से कई लोगो के वारे में पूछा । अधिकाश वातें उन पुराने वकीलो की वावत पूछी जो उनके मित्र या परिचित रहे थे।

इसके वाद द्विवेदी जी ने अपना पान का डिब्बा खोला । मै सुन चुका था कि द्विवेदी जी का पान विरले भाग्यशालियो को ही प्राप्त होता है। उनकी यह कृपा मुझे भी हाथ लगी।

1922 के लगभग जव विद्यार्थी जी पर रायवरेली में दफा 500 का मुकदमा चला, मै भी पैरवी के लिए जाया करता था। एक दिन देखे तो द्विवेदी जी कानपुर स्टेशन पर गाडी चलने के पहले आ गए । विद्यार्थी जी साथ थे। उन्हे द्विवेदी जी वहुत प्यार करते थे। मुझ से कहा—"भैया वर्मा जी, गणेश जी की पैरवी अच्छी तरह करना—" आगे कुछ न कह सके। गला भर आया और आँखें छलक आईं ।

मै सरस्वती के सभी लेख आद्योपात पढा करता था—1907 से ही। उसी वर्ष एक कविता पढी जिसका शीर्षक आज भी याद है। 'सरगो नरक ठिकाना नाहिं'। वडे कसे व्यग थे इस कविता मे।

वा० वालमुकुद गुप्त कलकत्ता से निकलने वाले 'भारत मित्र' के सपादन थे। उनके सपादक में 'भारत मित्र' खूव चला । पहले वह लाहौर से प्रकाशित होने वाले एक उर्दू अखवार के सपादक थे। फिर हिंदी जगत मे आ गए । भाषा चुस्त रहती थी, परतु उर्दू के शब्द और मुहाविरो का प्रयोग अधिक होता था। द्विवेदी जी इस प्रणाली के पक्षपाती नही थे। मतभेद हो गया। खटपट के कई कारण थे, परतु यह कारण विशेष था।

प्रसिद्ध इतिहासकार वा० काशीप्रसाद जायसवाल और स्वामी सत्यदेव जी ने द्विवेदी जी की कृपा से ही प्रारभिक विख्याति का प्रसाद पाया। वा० काशीप्रसाद वैरिस्टरी पास करने के लिए इग्लैड चले गए। वहाँ से लौटने के वाद भी सरस्वती मे लेख लिखते रहे। एक दिन द्विवेदी जी की टिप्पणी पढने को मिली। यह जायसवाल जी के नाम पर थी—"मि० के० पी० जायसवाल सरस्वती के पुराने वा० काशी प्रसाद जायसवाल।"

किसी उर्दू-फारसी वाले ने हिंदी सस्कृत का मजाक उडाया । द्विवेदी जी भला कैसे सह सकते थे? उन्होंने फारसी की एक सतर उद्धृत की—"वरतर नतीजा हिल्म।" नुकतो की गडवड हो जाने के कारण पढा गया—नरिमर ने चा चिल्म।"

हिंदी के लिए द्विवेदी जी की देन महान, अक्षय और अमर है।

आचार्य द्विवेदी जी कविता भी करते थे । वात वहुत पहले की है, तव की जव वह 'सरस्वती' के सपादक नहीं हुए थे। एक कविता तो सस्कृत की भी पढी मैंने उनकी। खडी वोली की कविता के रूप की वर्तमानता का अधिकाश श्रेय द्विवेदी जी को है।

समालोचना के क्षेत्र को भी उनकी देन महान् है। उस युग म ऐसी सूक्ष्म और इतनी निर्मम समालोचना वहुत ही कम लोग करते होंगे। श्री पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी जी के वडे मित्र थे। कवि और साथ ही उद्भट समालोचक भी । मुझे भी शर्मा जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। शर्मा जी के हृदय मे द्विवेदी जी के प्रति वडी श्रद्धा थी। वातो-वातों में उन्होंने द्विवेदी जी के प्रति वड़ा आभार प्रदर्शन किया था। हम सव दविवेदी जी के चिर ऋणी है। ●

आचार्य को प्रणाम

प्रयागदत्त शुक्ल

मै उन भाग्यशाली व्यक्तियो में अपने को गिनता हूँ—जिन्हें स्व० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का कुछ ममत्व मिला है। मैंने उनका प्रथम दर्शन सन् 1915 में किया—कभी-कभी परिवार और रिश्तेदारी की चर्चाओ में उनका नाम सुनता था। द्विवेदी जी का दर्शन कराने के लिए मेरे मौसिया 'रसिक-मित्र' के सपादक प० मनोहरलाल मिश्र लिवा ले गए थे। परिचय पाते ही उन्होने मेरे पितामह के कुछ सस्मरण सुनाए, जो गोरक्षणी सभा के मत्री और 'गोरक्षा' पत्र के सपादक थे। उस समय उनकी अवस्था बावन वर्ष के लगभग थी। उन्होने यह भी कहा था कि नागपुर नगर रुचा नही और कोई रुचिकर कार्य भी नही मिला। इसलिए पिता स्व० प० रामसहाय द्विवेदी के पास बवई चले गए। सेना से निवृत्त हो प० रामसहाय जी बवई में 'वल्लभकुल के बडे मदिर के' कर्मचारी थे। बवई उस समय मे साहित्य, राजनीति और सामाजिक हलचलो का प्रधान केद्र था। वहाँ मराठी, गुजराती और सस्कृत के कुछ अच्छे विद्वान थे और उनके द्वारा साहित्य प्रकाशन भी होता था। यही कारण है कि स्व० गोकुलनाथ जी महाराज के सपर्क से द्विवेदी जी को सस्कृत, मराठी, गुजराती और अँग्रेजी ग्रथो के अध्ययन का अवसर मिला। इसी बहुभाषाविज्ञता ने आगे चलकर आपके सपादकीय कार्य में बडी सहायता की।

एक शताब्दी पूर्व 28 अप्रैल या बैशाख शुक्ल चतुर्थी (संवत् 1921) को द्विवेदी जी का जन्म हुआ था। वह तिथि इस वर्ष को पद्रह मई को आई है। मैंने उनको कभी समीप और कभी दूर से देखा है और जो कुछ समक्ष पाया—उसी का उल्लेख करूँगा। द्विवेदी जी ने साहित्यिक सेवा का नियमित कार्य कोई चालीस वर्ष की अवस्था मे सभाला था। इससे पूर्व लगभग 20-22 वर्ष तक रेलवे के बाबू रहे। आपकी आरभिक शिक्षा कुछ तो कुल परपरा के अनुसार पुरानी परिपाटी से सस्कृत में हुई और कुछ रायबरेली, पुरवा और उन्नाव नगर के अँग्रेजी मदरसो में हुई। सबने बडी शिक्षा तो वह थी—जो आपने बिना गुरु के अपने मनोयोग द्वारा प्राप्त की। बबई, हरदा, खडवा, हुशगाबाद, इटारसी और झाँसी में तरुणाई के पच्चीस वर्ष रेलवे की बाबूगिरी में आपको बिताने पडे, परतु साहित्य सेवा की प्रेरणा आपको सदा विकल करती रही। रेलवे की नौकरी करते हुए भी आपने विद्याभ्यास जारी रखा और आपकी प्रतिभा रचनात्मक रुप से विशेष कर कविता द्वारा प्रकट होने लगी थी। उनका प्रकाशन भी गौरव के साथ हुआ, और सौभाग्यवश यह प्रेरणा इतनी बढी कि अत में आपने रेलवे की नौकरी छोडकर साहित्य सेवा में तन्मय होकर काम करने का निश्चय कर लिया। जैसा प्रकट है, यह निश्चय हमारे साहित्य के लिए एक युगातर लाने वाली घटना थी।

हमें यह नही भूलना चाहिए, कि द्विवेदी जी के जीवन का खासा अश (नौकरी का) महाराष्ट्र के मित्रो के साथ बीता है। जिस भाँति हम निरालाजी के साहित्य में बँगला की छाप पाते है उसी भाँति द्विवेदी जी के लेखन में महाराष्ट्र का असर पाते है। दोनो जातियो के गुणधर्म और सस्कार हमारे सामने आते है, क्योकि दोनो मे काफी विभिन्नताएँ है। द्विवेदी जी पर महाराष्ट्र की विविध हलचलो का हम असर भी पाते है। मिल, स्पेंसर और बेकन के अनुवाद, चिपलूनकर की साहित्य साधना, दामले का शास्त्रीय मराठी व्याकरण, बलवंतराव कमलाकर का नाट्य शास्त्र, आपटे के उपन्यास, दासबोध और ज्ञानेश्वरी का चिंतन भी हमें द्विवेदी जी में मिलता है। यह नव देश की परिस्थिति से सबधित है और जो अपनी परिस्थिति से अकुलाकर ऊपर उठना चाहता था। देश को आदर्शवाद की आवश्यकता

थी और उसी के सहारे वह गुलामी से मुक्त होने का स्वप्न देख रहा था। इसी कारण सन् 1904 मे नौकरी छोड़कर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' की वागडोर संभाली। क्योंकि यह वह समय था .

अपनी जन्मभूमि भारत से नाही प्रेम वढाया।
पराधीनता की वेडी से जकड़ गई है काया।
काला, कुली, गँवार आदि का पद पूरा है पाया।
अपनी ही खूँटी मे हमको वंदर नाच नचाया॥

हमारे आदर्शवाद का युग काशी-कांग्रेस से ही (सन् 1905 से) आरभ होता है और उसमें द्विवेदी जी सम्मिलित हुए थे। द्विवेदी जी काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य थे और उसके अध्यक्ष पादरी ग्रीव्स ने कांग्रेस के प्रसग पर साफ कह दिया था कि 'अँग्रेजी अक्षर ही हिंदुस्तान के, देश भर के सार्वजनिक राष्ट्रीय अक्षर होंगे।' यह सुनते ही द्विवेदी जी तिलमिला उठे थे। इसी विषय को लेकर आक्सफोर्ड से (सन् 1908 मे) डा० काशीप्रसाद जायसवाल[1] ने नागपुर के हिंदी केसरी-पत्र में विरोधात्मक लेख लिखा था। हिंदी साहित्य इस समय किस अवस्था मे था, इसकी समीक्षा मैं करना नही चाहता। अपने साहित्य के जीवन के इस दीर्घकाल मे नाना प्रकार के मतभेद और विरोधो का सामना करते रहने पर भी आचार्य ने स्वभाव में कटुता नही आने दी। अव वह समय आ गया कि सभी स्कूल के साहित्यिक एकमत से उनकी महत्ता स्वीकार कर रहे हैं।

अ० भा० साहित्य सम्मेलन, कानपुर अधिवेशन मे द्विवेदी जी ने घोषित किया था "आँख उठाकर और देशो को देखो—आप देखोगे, कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियो मे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं? साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है। शासन प्रवध में वडे-वडे उथल-पुथल कर डाले हैं। यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावो को भी जड से उखाड फेका है। साहित्य मे जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और वम के गोलो मे भी नहीं है। यूरोप मे हानिकारिणी धार्मिक रूढियो का उच्चाटन साहित्य ने किया है। जातीय स्वाधीनता के वीज उसने वोए हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के वीज भी उसी ने वोए हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्र भावो को भी उसी ने पाला, पोसा और वढाया है। पतित देशो का उद्धार उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रास का प्रजातन्त्र किसने स्थापित किया है? साहित्य ने, साहित्य ने। जो साहित्य पतितो को उठाने वाला है, उसके उत्थान और सवर्द्धन की जो जाति चेष्टा नही करती, वह अज्ञानाधकार के गर्त में पडी रहती है। जो समर्थ होकर साहित्य सेवा नही करता, अनुराग नही रखता, वह समाज द्रोही है, जाति द्रोही है, किंवहुना वह आत्मद्रोही—आत्महता भी है।"

भाषा के क्षेत्र में द्विवेदी जी क्रातिकारी के रूप मे आए। उन्हें व्रजभाषा या अवधी से भी अनुराग था। फिर भी राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा का राष्ट्रीय कर्तव्य उनके सामने था। उन्होने खडी वोली को संवारा और पुष्ट करने के लिए दूसरो से आग्रह किया। गद्य और काव्य में खडी वोली को चलाने का आग्रह किया। द्विवेदी जी स्वय कवि थे तथा कविता प्रेमी थे। उनकी उसी समय यह निश्चित धारणा हो गई थी, कि न केवल कविता के विषय मे वरन् उसकी भाषा मे भी परिवर्तन की आवश्यकता है। इसी कारण आपने नवीन प्रकार की कविताओं की न केवल रचना की, वरन् अन्य कवियो को भी ऐसी रचनाओ के लिए प्रोत्साहन दिया। आपने भाषा के विषय में भी सदा वोल-चाल की भाषा, अर्थात् खडी वोली की ही हिमायत की। आपने आरंभ में ही यह जान लिया था, कि व्रजभाषा कभी इस युग मे कविता की भाषा नही हो सकती। उनके प्रयास का यह फल निकला कि उनके जीवन काल में ही खडी वोली के उत्तमोत्तम कवियो का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदी का काव्य क्षेत्र जो पुष्ट दिखाई दे रहा है उसका आदि श्रेय अवश्य ही हमारे पूज्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। सपादन कार्य में व्यस्त रहते हुए भी उन्होने अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथो का प्रणयन, सपादन, सग्रह तथा अनुवाद किया है। सवसे पूर्व तो समालोचना के लिए कालिदास तथा श्रीहर्ष

---

[1] हिंदी केसरी—नागपुर, मार्गशीर्ष कृष्ण 13 सवत् 1965।

आदि कुछ सस्कृत के कवियो को हिंदी ससार के सामने उपस्थित कर आपने कवि कृतियो की समीक्षा तथा समालोचना की अभिनव प्रणाली का सूत्रपात किया। सस्कृत के छदो का भी हिंदी कविता मे उपयोग करने की प्रथा चलाई। कुमार सभव आदि ग्रथो के अनुवाद भी आपके अनुपम हुए। कविता कलाप, स्वाधीनता शिक्षा, सपत्तिशास्त्र, महाभारत, रघुवश, बेकन विचार रत्नावली, चरित्रचित्रण आदि अच्छे ग्रथ हमारे सामने हैं। आपके लेखो और कविताओ के सग्रह भी हमारे सामने हैं। मिल, स्पेंसर और बेकन आदि की रचनाओ का जैसा अनुवाद आपने किया है—उनसे आपकी अँग्रेजी की अपूर्व मर्मज्ञता स्पष्ट है।

भाषा के सबध मे स्वय द्विवेदी जी ने कहा है—'हिंदी एक जीवित भाषा है और उसकी ग्राहिका शक्ति भी व्यापक है। यह मानी हुई बात है, कि ससार में एक भी भाषा ऐसी नही है, जिस पर सपर्क के कारण अन्य भाषाओ का प्रभाव न पडा हो और अन्य भाषाओ के शब्द उसमे शामिल न हो गए हो। सपर्क के कारण ही हिंदी मे अरबी, फारसी और तुर्की शब्द आ गए हैं। अँग्रेजो के सपर्क से उसने अँग्रेजी शब्द ग्रहण किए हैं। ज्यो-ज्यो हिंदी का प्रसार होगा, त्यो-त्यो नवीन शब्द आते रहेंगे। जातियो के पारस्परिक सबंध को कोई तोड नही सकता और न भाषाओ के सम्मिश्रण क्रिया मे कोई रुकावट पैदा कर सकता है। हमें तो बस यही देखना है कि दूसरो के शब्द, भाव, मुहावरे ग्रहण करने पर भी हिंदी, हिंदी ही बनी है या नही ? बिगड कर कही वह और तो कुछ नही हो जाती। हिंदी में भाव, शब्द, मुहावरे, ग्रहण करने में केवल यह देखना है कि हिंदी उन्हें हजम कर सकती है या नही। उनका प्रयोग तो नही खटकता। वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नही है। जैसे मकान, मिजाज, मालिक आदि के समान अनेको शब्द हिंदी ने आत्मसात् कर लिए है। इसी भाँति नोट, नबर, बोतल, रेल शब्द भी हिंदी बन गए है। इसलिए जो शब्द हिंदी में खप गए है, और भविष्य मे जो खपते जाएँगे,—वे हिंदी मिलकियत के होगे। हिंदी तो जीती जागती भाषा है और दूसरो के द्वारा दी हुई वस्तु को लेने का हक उसे प्रकृति ने दे रखा है।'

'सरस्वती' के सपादन काल में द्विवेदी जी ने हमारे साहित्य की बहुमुखी सेवाएँ की हैं। इनमें दो सेवाएँ महत्व की हैं। एक तो साहित्यिक भाषा का परिमार्जन और उसे साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने का भगीरथ और निरतर प्रयत्न और दूसरे समालोचना साहित्य का एक प्रकार से मार्ग दर्शन। द्विवेदी जी ने अनेको लेख जिनमें से बहुत से अब प्राप्त हो सकते हैं—उनके इन दिशाओ में अध्यवसाय के साक्षी हैं। इन दोनो सेवाओ में रत होते हुए प्रत्येक सुधारक की भाँति आपको कठिनाइयो तथा बाधाओ का सामना करना पडा। आपको कटूक्तियाँ सहन करनी पडी हैं। बहुधा स्वय तीव्र प्रहार करने पडे, परतु इन सभी अवसरो पर आप सदा शुद्ध बुद्धि से प्रेरित हुए हैं और जैसा कि आपकी कोटि के समालोचक के लिए उचित ही था।

हिंदी कविता को भाषा तथा भाव दोनो ही की दृष्टि से नई प्रवृत्ति देने में, हिंदी गद्य शैली तथा भाषा को उसका बहुत कुछ आधुनिक रूप प्रदान करने में, हमारे आलोचना साहित्य की उन्नति तथा उसे एक नवीन और सुदर आदर्श पथ पर ले जाने मे एव गद्य तथा पद्य के अनेक मौलिक तथा अनुवादित ग्रंथो की रचना कर हिंदी साहित्य के विकास में तो हम द्विवेदी जी की साहित्य साधना का स्वरूप देख पाते है। द्विवेदी जी कवि थे अवश्य—पर उनमें रवि बाबू की भावना की तन्मयता नही है जो कवियो के निगूढ रहस्यमय अतरपट का दर्शन कराती है। द्विवेदी जी की कविता में कर्मठ ब्राह्मण की भाँति शुष्क, सात्विक आचार का साहित्य भासित होता है। उसमे न कल्पना की उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल शुद्ध प्रेरणा है। जो भाषा का मार्जन करती है और साथ ही उदार भावो का सत्कार। यही द्विवेदी जी की देन है। उनकी शुष्कता मे व्यग है और सात्विक विनोद है, उनकी रचनाओं में उनके स्वभाव के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए नाट्यशास्त्र की भूमिका में (सन् 1910) आपने लिखा है,—'मराठी में कई एक अच्छी पुस्तको के लेखक पडित बलवत कमलाकर ने नाट्यशास्त्र पर जो प्रबध लिखा है,—उसका भी हिंदी अनुवाद एक महाशय ने कर डाला है। उसे भी हिंदी साहित्य में सम्मिलित हुए कई वर्ष हुए। इन महाशय ने इस मराठी पुस्तक का अथ से इति पर्यंत अनुवाद किया है, तथापि मूल पुस्तक के कर्ता का नाम देना आप भूल गए हैं। अतएव, हम भी आपका, आपकी पुस्तक का और आपकी पुस्तक के प्रकाशक का नाम देना भूल जाना ही उचित समझते हैं।

द्विवेदी जी की कविताएँ कविता नहीं हैं—वे तो उपदेशामृत हैं। हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालिदास की निरंकुशता, मिश्रबंधु का हिंदी नवरत्न, लोकमान्य तिलक का कर्मयोग शास्त्र—आदि कुछ आलोचनात्मक लेख द्विवेदी जी की जागृत प्रतिभा का परिचय देते हैं। आपके दार्शनिक और आध्यात्मिक लेखो पर उनके कर्मठ जीवन और अनन्त की अनुभूति की छाप लगी है। उनकी प्रतिभा ने हिंदी के विद्वानो को उनका लोहा मानने को वाध्य किया और उस व्यक्ति ने लगातार 20 वर्ष तक 14 करोड हिंदी भाषी जनता को साहित्यिक अनुशासन में रखा—यह तो विरलों के भाग्य में अंकित है। हिंदी के इतिहासकार कहते हैं—**"द्विवेदीजी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं—जो समय पाकर स्व० प्रेमचंद्र जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला और फला।"** कवियो और लेखको मे वावू मैथिलीशरण गुप्त, प० कामना प्रसाद गुरु, प० लोचनप्रसाद पाडेय, प० रामचरित उपाध्याय, प० रूपनारायण पाडे, प० गयाप्रसाद सनेही, प० लक्ष्मीधर वाजपेयी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, श्री रामचद्र शुक्ल, प० माधवराव सप्रे, श्री सियारामशरण गुप्त आदि पर प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष प्रभाव पडा। यह प्रभाव दिन पर दिन विकसित हुआ और हो रहा है। इसी बीज के प्रभाव से कवि जयशकर प्रसाद, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री निराला और श्री सुमित्रानदन की प्रतिभाएँ फली फूली।

द्विवेदी जी ने 18 वर्षों तक 'सरस्वती' का सपादन किया और वाद में वानप्रस्थी जीवन विताना आरभ किया। इस अवधि मे अनेको वार दर्शन का अवसर आया और प्रत्येक दर्शन में मैने कुछ सीखा अवश्य। अतिम वार उनकी भेट दौलतपुर मे अप्रैल सन् 1938 में हुई। वह प्रसग कुछ दिलचस्प अवश्य है। नागपुर में हम लोग अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का 25वाँ अधिवेशन करने जा रहे थे। अध्यक्ष पद के लिए महामना मालवीय, मदनमोहन जी, आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, स्व० प० रामचद्र शुक्ल, देशरत्न वावू राजेंद्र प्रसाद के नाम स्थायी समिति ने प्रस्तावित किए थे। इसी प्रसग में मैं प्रयाग से आयुर्वेद पचानन प० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल की सलाह से स्व० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी के साथ द्विवेदी जी से मिलने गया था। विदकीरोड स्टेशन उतरकर छह मील का रास्ता तय किया और गंगा पार कर लगभग चार वजे दौलतपुर पहुँच गए। इस समय वे चारपाई पर आराम कर रहे थे। उन्होने ज्योही सुना कि दो सज्जन मिलने आए हैं—चौपाल से वाहर आ गए। उनका उन्नत ललाट, गौर वर्ण, उनकी सिंह के समान वडी-वडी मूँछे, वैसवाडी मुख और नाक तथा असाधारण वडी-वडी भौहे देखने से चित में एक असाधारण महापुरुष व तत्वेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव होता है। वे वातचीत मे, वीच-वीच में प्राय सस्कृत के श्लोक भी कहते थे। हमारी प्रार्थना को अस्वीकर करते हुए उन्होने यह श्लोक कहा था।

अनेकाधिव्याधि व्यथित हृदय क्षीणविभव
विहीन पुत्रादिस्वजन समुदायेन जगति।
अति त्रस्त ग्रस्त हृतविधिविलासै सपदि मा,
शरण श्रीराम त्रिभुवनपते पाहि दयया ॥*

हमारा कार्य न सधा और अत मे वावू पुरुषोत्तमदास जी टडन की सलाह से वावू राजेंद्र प्रसाद जी सम्मेलन के अध्यक्ष मनोनीत किए गए।

उनके मरने के वाद भी मैं दौलतपुर दो वार हो आया—उस समय मन मे जो विचार आते-जाते थे, मैं उनको तो अव भूल गया—पर एक वात मेरे हाथ में है और आज भी वही करना चाहता हूँ—मनसा से आवाहन और श्रद्धा से प्रणाम। ●

---

*मैं यह भी जानता हूँ कि जवसे द्विवेदी जी ने सपादकीय कार्य से अवकाश लिया, तव से उनका उग्र स्वभाव नम्रता की ओर ढल गया। अत में वे नम्र और सहनशील हो गए। द्विवेदी जी जलोदर-रोग से पीडित हुए और इसी से 21 दिसवर, सन् 1938 को 74 वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया।

कर्तव्य-निष्ठ द्विवेदी जी

हमें माता-पिता से जो हिंदी-प्रेम विरासत में मिला था, वह नार्मल स्कूल में पडित मधुमगल जी मिश्र और पडित कामताप्रसाद जी गुरु जैसे दिव्य गुरुजनो के वात्सल्य भाव से लालित-पालित हुआ था। मुस्लिम वधुओं के तानो-तिश्नो से दिनोदिन परवान चढता जाता था और अब हमें कुछ न कुछ लिखने के लिए बराबर उकसाता रहता था। आखिर हमने सिर्फ पद्रह-सोलह वर्ष की उम्र होते-होते, सन् 1914 ई० मे एक दिन, जो अधेरे में जोरो से तीर फटकारा, तो सस्मरण के ढग पर 'यश-प्राप्ति' शीर्षक से एक छोटा-सा लेख लिख मारा और चटपट लपेट-लपाटकर लेटर-बॉक्स में डाल दिया—आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी जी के पते पर, 'सरस्वती' मे प्रकाशनार्थ। परतु वह हफ्ते-भर के भीतर ही लौट आया; अपने साथ एक पोस्ट-कार्ड भी लाया, जिसमें द्विवेदी जी ने लिखा था—

"निवेदन,

क्षमा कीजिए, लेख 'सरस्वती' में न छपेगा। लौटा रहा हूँ।

म० प्र० द्विवेदी"

हमारा तन-मन धधक उठा। इतना अभिमान! इतना अच्छा लेख भी नही छापा!! वाह रे द्विवेदी जी!!! हमने क्रोधावेश में दूसरे दिन पत्र मे प० कामताप्रसाद जी गुरु को यह तमाम किस्सा लिख भेजा। उन्होने उत्तर में हमें समझाया—"यह व्यर्थ क्रोध—यह निरर्थक आक्रोश क्यो? यदि तुम परिश्रम करते—लेख छपने योग्य लिखते, तो द्विवेदी जी उसे अवश्य छापते। शायद तुम्हें हमारे ढग का हमारे कथन का स्मरण नही रहा। इसीलिए तुम्हारे सामने असफलता का यह अवसर आया। फिर लेख भेजने से पहले तुम्हें 'सरस्वती' के स्तर का भी तो कुछ विचार करना चाहिए था।"

इस प्रकार गुरुजी ने हमारी आँखें खोल दी। हमने कई दिन तक लेख बार-बार पढा। बार-बार काँटा-छाँटा और बार-बार नए सिरे से लिखा। जब 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' की स्थिति पर पहुँचा, तो पडित रघुवरप्रसाद द्विवेदी के पास भेज दिया—'हितकारिणी' में प्रकाशनार्थ। परतु वह दस-बारह दिन बाद उनके पास से भी लौट आया—सूचना किसी भी प्रकार की साथ नही लाया। हमने समझ लिया कि लेख अभी प्रकाशित होने लायक नही बना। तभी तो वह सरस्वती से भिन्न स्तर रखनेवाली 'हितकारिणी' मे भी प्रकाशित नही हुआ। अब?

हमने निराश होने के बदले धीरज से, साहस से काम लिया। गुरुजी के तौर-तरीके का स्मरण किया और लेख एक तरफ डाल दिया। कुछ दिन तक उस पर सोच-विचार जारी रखा। फिर एक दिन उसे उठाकर ध्यानपूर्वक पढा। इस बार उसमें पुन स्थल-स्थल पर बहुत-कुछ अभाव नज़र आया। बस, हमने खूब जम-जम कर उस पर लेखनी का सचालन किया और उसे बिल्कुल नया रूप-रँग दे दिया। अब तो वह पहले से कही बहुत अच्छा जान पडा। जब हमने उसे सतोषदायक समझ लिया, तो पडित सुदर्शनाचार्य जी के पास भेज दिया—'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशनार्थ।

इन प्रविष्टि प्राणायाम का नतीजा क्या निकला ? यही कि एक ओर तो हमारे लेख का स्तर ऊपर उठता रहा और दूसरी ओर वह जिन पत्रिकाओ मे प्रकाशनार्थ भेजा गया, उनका स्तर वदलता चला। इसका यह मतलव नही, कि 'हितकारिणी' और 'गृहलक्ष्मी' का स्तर निम्न श्रेणी का था, नही, अपने-अपने क्षेत्र के अनकूल हिंदी-ससार मे उनका पर्याप्त महत्त्व था। यदि 'हितकारिणी' ने स्कूलो मे अपना प्रभाव जमाया था, तो 'गृहलक्ष्मी' ने घरो मे अपना अड्डा बनाया था। हमारा लेख महिलाओ, वालिकाओ और वालको के लिए विशेप उपयोगी हो सकता था, इसी ख्याल से हमने उसे पडित सुदर्शनाचार्य जी के पास भेजा था—इस विश्वास के साथ कि सभवत वह 'गृहलक्ष्मी' में स्थान पा जाएगा। परन्तु आचार्य जी की ओर से हमें कोई उत्तर नही मिला। उत्तर के लिए हमने उनके पास कई-कई बार टिकट भेजे, कार्ड भेजे, लिफाफे भेजे, फिर भी उनसे उत्तर न पा सके और आखिर निराश होकर बैठ रहे।

आचार्य जी के इस व्यवहार ने हमारे मन पर वडा घातक प्रभाव पडा। वह वहुत दिन तक वेचैन रहा—किसी तरह पढने-लिखने पर न जम सका। हमें उठते-बैठने एक ही ख्याल पीडित करता रहता—हमने ऐसा कौन-सा अपराध किया, जो आचार्य जी ने हमें यह कठोर दण्ड दिया—न लेख लौटाया, न उत्तर देने का ही कष्ट उठाया। इस तरह दिन-पर-दिन, सप्ताह-पर-सप्ताह वीत गए और हम इस दुस्सह पीडा से छुटकारा पाने लगे। अचानक हमारे पास एक दिन नवम्बर, सन् 1914 ईस्वी की 'गृहलक्ष्मी' के एक छोड दो-दो-अक आ पहुँचे। हम उत्सुकता के आवेग में जो उनके पन्ने उलटने लगे, तो देखते क्या हैं कि 'यश-प्राप्ति के साथ हमारे नाम के अक्षर जगमगा रहे हैं'। वस, हम मारे खुशी के उछल पडे, जैसे सचमुच यश प्राप्त कर उन्नति के शिखर पर जा चढे और आप-ही-आप कह उठे —"भारत मे न 'गृहलक्ष्मी' से वढ कर कोई पत्रिका है, न आचार्य जी से वढकर कोई सपादक है, और न हमसे वढकर कोई लेखक है।"

यह ऐसी सफलता थी, जिसका नशा महीनो हमारे मन-प्राण पर छाया रहा। आखिर प्रकृति ने अपना काम किया। धीरे-धीरे यह लेख विस्मृति के गहरे पर्तो में जा दवा और हमारे ध्यान से विल्कुल उतर गया। अचानक लगभग चालीस वर्ष वाद श्री अमृतलाल अकिंचन ने हम से प्रश्न किया —"आपने पहला लेख कव लिखा था और वह कहाँ प्रकाशित हुआ था ?"

वस, इस लेख से सबधित वह चालीस वर्ष पुराना सारा वातावरण हमारी आँखो मे चक्कर काटने लगा। हमने मासिक पत्रिकाओ के भँडार से 'गृहलक्ष्मी' का वह अक ढूँढ़-ढाँड कर वाहर निकाला और इस लेख का एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक पढ डाला। और हमारा मन ग्लानि से भर उठा—छि ! छि ! यह हमने लेख लिखा था या अपने हाथों अपना मखौल उडाया था ? सचमुच आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने हमारे साथ एहसान किया था, जो यह लेख 'सरस्वती' में छापने से इकार कर दिया था। सचमुच पंडित रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी ने हमारे साथ उपकार किया था, जो यह लेख 'हितकारिणी' मे प्रकाशित करने से रोक दिया था। सचमुच पडित सुदर्शन जी ने हमारे साथ अपकार—वहुत-अपकार किया था, जो इस लेख को 'गृहलक्ष्मी' में स्थान दे दिया था। इस कृपा-भाव का कोई मतलव नही था कि उन्होंने ऐसा सिर्फ हमे उत्साह प्रदान करने के लिए किया था, जैसा कि उन्होने स्वय ग्यारह वर्ष वाद 26 दिसंबर, 1925 ईस्वी के दिन हमसे प्रयाग में कहा था।

× × ×

'यश-प्राप्ति' का प्रकाशन होने के वाद तो हमारे मन में उत्साह की तरगें उठने लगी और हम कुछ-न-कुछ लिखने के लिए दिन-रात दीवाने से रहने लगे। परंतु लिखते क्या, कुछ सोच पाते, तव तो। आखिर एक दिन, दिसवर, सन् 1914 ईस्वी की 'सरस्वती' का अक हाथ में आया। उसमें पडित हीरावल्लभ जोशी द्वारा लिखित 'दो ठग मित्र' शीर्षक लोक-कथा का प्रकाशन हुआ था। वस, हमें आगे वढने के लिए एक अच्छा साधन मिल गया। हमारे पास माँ की लिखवाई हुई लोक-कथाओ का वड़ा-सा भँडार था। हम उसमें से दो लोक-कथाएँ उठाते-उठाते वोले—"लाओ, इन्हीं को फिर से लिखो और प्रकाशित करवाओ।"

जव दोनों लोक-कथाएँ लिख चुके, तो तडाक-फडाक आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के पास भेज बैठे—'सरस्वती' और लोक कथाओ के स्तर का सामजस्य वगैर ख्याल किए। सप्ताह वीतते-न-वीतते दोनो कहानियाँ वापिस आ गई, द्विवेदी जी के उसी नपे तुले उत्तर के साथ—"क्षमा कीजिए, कहानियाँ 'सरस्वती' में स्थान न पा सकेंगी। अलग पैकेट में लौटा रहा हूँ।"

द्विवेदी जी के इस उत्तर पर पहले तो हमें वडा रोष आया, फिर हमने 'सरस्वती' के पन्ने उलटते-पुलटते जो कहानियो के स्तर पर विचार किया, तो द्विवेदी जी के कथन में औचित्य-सा पाया और अपनी हीनता पर कुछ क्रोध—कुछ तरस आया। इसी हालत में हमने दोनो कहानियो का पैकेट वनाया और 'हितकारिणी' के संपादक पडित रघुवर प्रसाद जी द्विवेदी के पास भेज दिया। इसका एक वहुत वडा कारण था।

जो कार्य सयुक्त प्रदेश के लिए पडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने कर दिखाया, वही कार्य मध्यप्रदेश के लिए पडित रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी ने अपनाया था। उन्होंने पाठको मे हिंदी के प्रति गभीर प्रेम उत्पन्न करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था और इसीलिए 'हितकारिणी' का सपादन-भार स्वीकृत किया था। इस अभिप्राय की सिद्धि के लिए वे घोर परिश्रम करते थे और कभी-कभी तो विविध विपय विभूपित 'हितकारिणी, का प्राय पूरा अंक स्वयं लिख डालते थे। नए-नए लेखको-कवियो को प्रकाश में लाने के लिए सदा तैयार रहते थे और अपनी सशक्त लेखनी की करामात से उनकी रचनाओ मे जीवन फूंक देते थे। यही कारण था, जो उन दिनो मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग मे 'हितकारिणी' का वोल-वाला था और नया लेखक या कवि इधर-उधर भटकने के वाद उसका मुँह ताकता था। हमने भी यही किया था। कहानियाँ पहुँचने के आठ-दस दिन वाद ही उसके सपादकीय विभाग ने हमें सूचित किया —"आपकी कहानियाँ पसद आई। यथा-सभव शीघ्र ही 'हितकारिणी' में प्रकाशित हो जाएँगी।"

यह पत्र पढते ही हमने सिर उठाया, अपनी उभरती हुई रेखो पर व्यर्थ ताव दिया और कहा—"वाह, मार लिया है पडाव"।

सन् 1915 ईस्वी को 'हितकारिणी' के अको में ये कहानियाँ प्रकाशित हो गई। जव हमने अपनी पाडुलिपियो से इनका मिलान किया, तो इनमे जगह-जगह वहुत कुछ परिवर्तन पाया। इस परिवर्तन का कारण और औचित्य समझने के लिए भली-भाँति दिमाग लडाया और फिर फैसला किया—"वहुत खूव! आइदा इन परिवर्तनो के कारण ध्यान मे रखेंगे और इससे भी वढिया लिखने की कोशिश करेंगे।"

इन्ही दिनो 'गृहलक्ष्मी' में भी हमारी कई छोटी-छोटी रचनाएँ प्रकाशित हुई—परिवर्तित और परिवर्धित रूप मे सही। इस तरह प्रगति का पथ खुल जाने से हमारे रोम-रोम में उत्साह की उमगे हिलोरें मारने लगी। अव तो हमारी कल्पना दरिद्र के मनोरथ के सामान घडी-घडी पर उभरती—यह लिख डाल, वह लिख डाल, कुछ 'हितकारिणी' मे भेज दे, कुछ 'गृहलक्ष्मी' में भेज दे और दोनो हाथो यश की राशि लूट ले।

यह ठीक है कि हमें 'हितकारिणी' और 'गृहलक्ष्मी' ने आश्रय दिया था, उत्साहित किया था, फिर भी आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की ओर से हृदय में जो काँटा गड गया था, वह वरावर कसकता रहता था। उस समय हमारा ही नही, हिंदी-ससार के अधिकाश उठते-उभरते हुए लेखको-कवियो का यही हाल था। सैद्धान्तिक मत-भेद होने से वावू वालमुकद गुप्त, वावू श्यामसुदर दास वी० ए०, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी और लाला भगवानदीन 'दीन' जैसे धुरंधर महारथी एक जमाने से द्विवेदी जी का मखौल उडाते और उनके खिलाफ कुछ-न-कुछ लिखते जाते थे। परंतु द्विवेदी जी थे कि अपने पथ पर निद्वंद्व वढते जाते थे और 'सरस्वती' में निर्भीक भाव से जिन लोगो की कृतियाँ पुस्तक-परीक्षा की कसौटी पर ज़ोर से रगड देते थे, उनको मानो अपना विरोध करने के लिए निमन्त्रण दे डालते थे। इस प्रकार के सभी व्यक्तियो की वदौलत वे रगरूट सहज ही वढावा पाते थे, जो सख्या में वरसाती मेंढको की फौज का मुकाविला करते थे, कवि या लेखक वनने के वडे-वडे हौसिले रखते थे और द्विवेदी जी की ओर छलांगें भरते थे, परतु उनसे उत्साह न मिलने पर जल-भुन जाते थे। फिर तो ये रुष्ट रँगरूट इस तरह सिर उठाते थे कि दवाए न दवते थे। अपने जी के फफोले फोडने के लिए द्विवेदी जी को पानी-पी-पीकर कोसते थे—कभी ज़्वान के ज़रिए और कभी कलम के जरिए।

आखिर द्विवेदी जी मनुष्य थे, जब इन रुष्ट रगरूटो की उच्छृंखलता से ऊब उठे, तो उन्होने मार्च, सन् 1915 ईस्वी की 'सरस्वती' मे 'अनुचित उपालभ' शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख मे उन्होने वह पद्यपूर्ण पत्र अविकल रूप मे उद्धृत किया, जो उन्हे एक तरुण कवि की ओर से मिला था। इस पत्र मे उस तरुण कवि ने बडे आक्रोश के साथ, बडे अशिष्ट शब्दो मे द्विवेदी जी को अविवेकी और 'सरस्वती' को रद्दी की पिटारी सिद्ध करने का प्रयास किया। परतु द्विवेदी जी ने बुरा मानने, या क्रुद्ध होने के बदले उसे शालीनता से समझाया था—"लीजिए, हमने आप का पत्र ज्यों-का-त्यो प्रकाशित कर दिया। अब तो आपको परितोप हो गया न ? हम आप के सुदर-सुदर लेख या काव्य सरस्वती मे क्यो प्रकाशित नही कर पाते इस प्रश्न का उत्तर यदि आप स्वय ढूंढ निकालते, तो शायद अधिक लाभ में रहते। हम तो जिस रचना में कुछ भी उद्देश्य—कुछ भी सदेश देखते है, उसे बिना किसी भेद-भाव के 'सरस्वती' के चरणो पर चढा देते है। यह नही देखते कि उसका रचयिता अबुद्ध है या प्रबुद्ध"

द्विवेदी जी ने अपने इस लेख में यह भी कहा था—"हमारे पास इतने लेख आते है कि हम उनको पढते-पढते ऊब जाते है। उनमें उपयोगी कम तो क्या, बहुत कम निकलते है, हॉ, निरुपयोगी अच्छी-बडी सख्या में रहते है। जो उपयोगी जान पडते है वे छॉट-छॉट कर अलग रख लेते है। फिर उनके साथ दिन-दिन भर, रात-रात भर अपनी जान लडाते है, तब कही जाकर उनको 'सरस्वती' मे स्थान देने योग्य बना पाते है। यदि हम अपने पास आने वाली सभी रचनाएँ प्रकाशित करने के लिए तैयार हो जाएँ, तो सरस्वती के पृष्ठ बढाने के लिए साधन कहाँ से जुटाएँ ? रचनाएँ भेजनेवाले सज्जन पहले हमारी मजबूरियो का कुछ अदाज़ लगाएँ, फिर हम पर यह रोष—यह आक्रोश दिखाएँ।"

ऊसर बरसै तृणनहिं जामा—यही हाल द्विवेदी जी के इस वक्तव्य का हुआ। हिंदी-ससार पर इसका रत्ती-भर भी असर नही पडा, बल्कि इस की प्रतिक्रिया मे रुष्ट रगरूटो का जोश-खरोश और भी भडक उठा और उन्होने द्विवेदी जी के विरोध मे अपना विरोध और भी बुलद कर दिया। हम जैसे अपरिपक्व बुद्धि के नौजवान इस हालत पर बहुत खुश होते थे और द्विवेदी जी के विरोध में निकलते वक्तव्य, लेख आदि मजे ले-लेकर पढते थे और लिखने वाले की विद्वत्ता-बुद्धिमत्ता के गीत गाते-गाते नही अघाते थे।

इस ऊहा-पोह के बाद भी साहित्य-प्रेम का दम भरने वाले ये रुष्ट रगरूट शात नही हो रहे थे, कुछ और भी करना चाहते थे। आखिर काशी के कुछ साधन-सपन्न रुष्ट रगरूटो ने, सन् 1916 ईस्वी में 'तरगिणी' नामक एक मासिक पत्रिका को जन्म दिया और उसके द्वारा अपने दिल का बुखार उतारना शुरू किया। यद्यपि तरगिणी का गेट-अप 'सरस्वती' के समान तो नही था, तथापि चमक-दमक के लिहाज से बहुत आकर्षक जान पडता था। इसलिए हिंदी ससार मे उनके प्रति रुझान होना स्वाभाविक ही था।

'तरगिणी' के सपादक पण्डित बसतराम जी व्यास विद्वान और सुलेखक थे। वे अपनी जिम्मेदारी भली-भाँति समझते और 'तरगिणी' को इस अखाडे-बाज़ी से बचाना चाहते थे। परतु अपने प्रयत्न में असफल रहे और कुछ ही समय में 'तरगिणी' से अलग हो गए। बस, जले-भुने हुए रगरूट दिल खोल-खोल कर 'तरगिणी' के पृष्ठ रँगने लगे। इनमें पण्डित ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' सचमुच बड़े विलक्षण जीव थे। वे 'तरगिणी' में 'लक्ष्मी-सरस्वती-सवाद' जैसी कविताएँ लिखते और उनमे सारी शालीनता ताक पर रखकर द्विवेदी जी को लाला जी के द्वार का भिक्षुक तथा 'सरस्वती' को लक्ष्मी की चेरी बताते थे। परतु 'तरगिणी' की यह चमक-दमक बहुत दिन तक न ठहर सकी, धीरे-धीरे फीकी पड चली और एक वर्ष पूरा होते-होते हमेशा-हमेशा के लिए अतीत की शुष्क मरुभूमि में समा गई। इसके साथ ही उन रुष्ट रंगरूटो की बटालियन भी गायब हो गई।

इस घटना के लगभग चालीस वर्ष बाद हम अनायास एक दिन सन् 1957 ईस्वी में जो 'तरंगिणी' की फाइल लेकर बैठे, तो उन रुष्ट रगरूटो के गहरे अज्ञान पर, खोखले साहस पर अश-अश कर उठे। इसके साथ ही जो हमने 'हितकारिणी' और 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित उन रचनाओ की ओर सिर घुमाया, तो उनमें अपना बौनापन प्रत्यक्ष नज़र आया। वह हँस-हँस कर हमें ताने-से दे रहा था—बेवकूफ कही का। अरे, कहाँ तू और कहाँ द्विवेदी जी। कहाँ तेरी लघुता और कहाँ द्विवेदी जी की गुरुता। भला तुझ में था इतना सामर्थ्य, जो तू उनका स्पर्श भी कर सकता ?

बस इतना ही सोचकर सतोष हो गया था कि हमने अन्य रुष्ट रगरुटो के स
कभी न बुरा कहा था, न बुरा लिखा था।

× × ×

हमारा भाग्य प्रवल था और वह हमें निर्वाध गति से आगे धकेलता जाता था। हमारी लेखनी उधर 'गृहलक्ष्मी' और 'हितकारिणी' से आगे वढकर 'शिशु वाल-सखा' और 'श्रीकमला' के पृष्ठो पर तो चलने ही लगी थी, इधर अचानक द्विवेदी जी की अप्रत्यक्ष अनुकपा से वह जैसे चौकडियाँ भरने लगी। वात यह हुई कि जुलाई, सन् 1917 ईस्वी की 'सरस्वती' मे प्रोफेसर श्री तेजशकर कोचक, एम० ए० द्वारा लिखित 'केचुए की राम-कहानी' निकली। उसे देखते ही हमारे उत्साह में मानो विजली कौंध उठी। हमने तमिल स्कूल में पण्डित भास्कर वीरेश्वर जोगी की सहायता से जो 'नेचर-स्टडी' की थी, वह हमें ऐसी वस्तुएँ लिखने के लिए वहुत-कुछ सामग्री दे चुकी थी। वस, हमने तडाक-फडाक 'मेंढक की आत्म-कहानी' लिख डाली और 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आचार्य द्विवेदी जी की सेवा में भेजी। उन्होने शायद हमारी यह रचना पढी भी नही और लगे हाथ लौटाने की दया की, अपने उसी नपे-तुले पुराने उत्तर के साथ—"क्षमा कीजिए, यह रचना 'सरस्वती' में प्रकाशित न हो सकेगी। अलग से पैकेट द्वारा वापिस करता हूँ।"

द्विवेदी जी की यह अस्वीकृति एक ऐसी कडी फटकार थी, जिससे हमारी तवीयत तिलमिला उठी। हमने वार-वार 'मेंढक की आत्म-कहानी' पढी और वह हर वार हमें 'केचुए की राम-कहानी' से उन्नीस नही इक्कीस ही जान पडी। इस तरह वहुत मगज-पच्ची करने पर भी हमारी समझ मे यह वात न आई कि द्विवेदी जी ने 'मेंढक की आत्म-कहानी' वापिस की, तो क्यो की? आखिर हमने अपनी खीझ मिटाने के लिए 'मेंढक की आत्म-कहानी' गोरखपुर से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'ज्ञान-शक्ति' की ओर वढा दी। यह मासिक पत्रिका जैसी साहित्यिक थी, वैसी ही आध्यात्मिक थी और पडित शिवकुमार जी शास्त्री के कुशल करो द्वारा वडी योग्यता से सपादित होती थी। हमारी यह रचना पाते ही शास्त्री जी ने हमें उत्तर दिया—"वडी कृपा की। मेंढक की आत्म-कहानी हमे वहुत पसद आई और वह हमने तत्काल प्रकाशनार्थ दे दी। इसी प्रकार अपनी रचनाएँ भेजते रहिए। हम वडी प्रसन्नता से उन्हें 'ज्ञान-शक्ति' में प्रकाशित करेगे।"

इसके वाद मच्छर, मक्खी और तितली से सवद्ध आत्म-कहानियाँ लिखी गई। वे क्रमश द्विवेदी जी की ओर वढी, उनके पास से अस्वीकृति का प्रसाद लेकर लौटी तो शास्त्री जी की सेवा मे पहुँची और 'ज्ञान-शक्ति' के पृष्ठो पर चमक उठी। इसी अवसर पर हमे उस युग के उठते-उभरते कवि पण्डित मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा—"आप अपने लेख 'सरस्वती' मे क्यो नही देते? जो लेख 'सरस्वती' मे प्रकाशित होते है, वे अनायास ही हिंदी ससार की आँखो पर चढ़ जाते है।"

किस्स-कोताह, यदि हमारे पक्ष में सर्वश्री वदरीनाथ जी भट्ट, शिवकुमार जी शास्त्री, लाला भगवानदीनजी, मुकुटधर जी पाण्डेय आदि सज्जनो के मत तीन का महत्त्व रखते थे, तो आचार्य द्विवेदी जी के मत छह का काम करते थे। वे 'सरस्वती' में हमारी लिखी मेढक, मच्छर, मक्खी, तितली आदि की आत्म-कथाएँ प्रकाशित करने के लिए क्यों उद्यत नही हुए थे—यह हम आज तक वहुत प्रयत्न करने पर भी नही समझ पाए। यदि वे उक्त रचनाओ के सवध में अपनी 'नही' का कुछ कारण वताते तो हम उससे थोडा-वहुत लाभ अवश्य उठा सकते। परतु उनकी वार-वार की गोल-मोल 'नही' से निपट अँधेरे में ही रहे और शायद प्रगति मे भी पीछे पड गए।

उस जमाने में वहुत पढे-लिखे—विशेषकर अँग्रेजी-दाँ लोग वडी अनोखी मनोवृत्ति रखते थे। वे घरेलू काम-काज चलाने के लिए भी हिंदी में वोलना-वताना या पुत्र-कलत्र तक को पत्र लिखना अपनी शान के खिलाफ समझते थे और आमतौर पर हिंदी-प्रेमी जनो से वडी नफरत करते थे। परतु आचार्य द्विवेदी जी हिंदी के राष्ट्रीय महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे। इसीलिए वे हिंदी के कट्टर हिमायती थे और तत्सवधी आदोलन चलाने के लिए उन्होंने 'सरस्वती' के पृष्ठ खोल रखे थे। वे स्वय ऐसे हिंदी-विरोधी मेकाले-पुत्रो को वुरी तरह लताडते थे और हिंदी की गरिमा सिद्ध करने के लिए ज़ोर-दार लेख तथा टिप्पणियाँ लिखते रहते थे।

द्विवेदी जी के इस आदोलन से हम अत्यधिक प्रभावित होते थे। उनके शब्द चुपके-चुपके हमारे हृदय में उत

जाते थे और समय-समय पर कंठ में आकर बोलने लगते थे। इसके दो मूल कारण थे—हम अव्वल तो हिंदी-प्रेम माता-पिता से विरासत में पाए हुए थे और दोयम, कुछ ऐसे वयोवृद्ध सज्जनो के संपर्क में रहते थे, जो मूलतः हिंदी-भाषी तो नहीं थे, परंतु हिंदी का महत्त्व खूब समझते थे, अपने हिंदी-प्रेम में आचार्य द्विवेदी जी से बढकर नही, तो घटकर भी नहीं थे और हमारा हिंदी प्रेम सराहनीय ही नही, अत्यावश्यक भी मानते थे।

परिस्थिति-वश हमारा हिंदी-प्रेम शीघ्र ही उफन उठा। हम हिंदी की हिमायत के लिए कमर कसकर तैयार हो गए–डंके की चोट से हिंदी को भारत की राष्ट्र-भाषा सिद्ध करने लगे और तत्सबधी लेख लिख-लिख कर ललिता, श्रीकमला, श्री शारदा, ज्ञान-शक्ति आदि पत्रिकाओ को देने लगे। इन लेखो का नतीजा हमारे हक मे बहुत अच्छा निकला। सन् 1918 ईस्वी में अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य समेलन का नवम अधिवेशन बबई में होनेवाला था। इस अवसर पर उसकी कार्यकारिणी समिति ने हमे 'मुसलमानो और ईसाइयो मे हिंदी-प्रेम प्रवर्तन के उपाय' शीर्षक से एक लेख लिखने का आदेश किया।

इस आदेश पर हमने जो लेख लिखा, वह बगैर किसी पसोपेश के 'सरस्वती' मे प्रकाशनार्थ भेज दिया। लौटती डाक से हमें पंडित देवीप्रसाद जी शुक्ल बी० ए० की ओर से उत्तर मिला, "आप का लेख समयानुकूल रहा", और सचमुच वह आशा के विपरीत बहुत शीघ्र मई, सन् 1918 ईस्वी की 'सरस्वती' में निकल आया। उसमें कही एक अल्प विराम का भी परिवर्तन या सशोधन नही किया गया। इतना ही नही, सरस्वती ने ठीक चवालीस वर्ष उपरात सन् 1961 ईस्वी में अपनी हीरक जयती के अवसर पर इसी लेख की बदौलत हमारा मान किया— हमें अभिनदन पत्र दिया।

हमारा यह लेख समेलन की लेख-माला में तो छपा ही, लक्ष्मी, ज्ञान-शक्ति, धर्माभ्युदय, भारत-मित्र आदि पत्र-पत्रिकाओं में भी निकला और बहुत दिन तक चर्चा का विषय बना रहा। यद्यपि हमने इस लेख के बाद द्विवेदी जी की सेवा में न कोई लेख भेजा और न कोई पत्र लिखा, तथापि इस चार-पाँच वर्षीय सपर्क से हम इसी नतीजे पर पहुँचे कि द्विवेदी जी बडे ही कर्तव्य-निष्ठ सपादक थे। अतिशय कठोरता और तत्परता से अपने अगीकृत कार्य निर्वाह करते थे और एतदर्थ अधिक से अधिक शारीरिक तथा मानसिक श्रम से लोहा लेने में भी नही घबराते थे। वे हम जैसे अल्प-वय और अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति की रचनाएँ भी मनोयोग-पूर्वक देखते और उन पर शीघ्र-से-शीघ्र अपना निर्णय प्रकट कर देते थे। वास्तव मे वे कर्तव्यशीलता की दृष्टि से अनिवर्चनीय शालीनता के अवतार थे। हमारे इस कथन मे रत्ती-भर भी अतिशयोक्ति नही है कि हिंदी-ससार मे उनके जैसा सुयोग्य और कर्तव्य साधक संपादक न भूत में हुआ था, न वर्तमान मे है, और न शायद भविष्य में होगा।
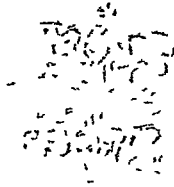
कुछ पुरानी बातें

हरिशंकर शर्मा

मेरे स्वर्गीय पिता प० नाथूराम शकर शर्मा और स्वर्गीय प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का बहुत पुराना परिचय या सबध था। 'सरस्वती' का सपादन तो द्विवेदी जी महाराज ने परिचय के बहुत दिनो बाद किया है। सवत् 1947-48 में फर्रुखाबाद-फतेहगढ से 'कवि-व-चित्रकार' नाम का एक मासिक-पत्र प्रकाशित होता था। इसके सपादक थे प० कुदनलाल शर्मा। उस समय श्री ग्राउस, कलक्टर हिंदी के बडे प्रेमी और समर्थक थे। यह पत्र उन्होंने ही प्रकाशित कराया था। वे फर्रुखाबाद में कलक्टर थे। इन साहब बहादुर के नाम पर कई नगरो में 'ग्रूस गज' है। ये बाजार या मुहल्ले अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। प० कुदनलाल साहब बहादुर के हेड क्लर्क थे। वे अपने स्थानातरण के साथ इनका भी स्थानातरण करा लेते थे—हिंदी प्रेम के नाते। फर्रुखाबाद से जो 'कवि-व-चित्रकार' मासिक रूप मे प्रकाशित हुआ, वह लीथो में छपता था, पतग के से कागज पर। उस समय के कवि या साहित्यकार इसी पत्र मे अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराते थे। मेरे पिता जी और श्री द्विवेदी जी भी उसमें लिखते थे। और भी तत्कालीन सब साहित्यकारो का वही विचार-प्रचार साधन था। स्व० चद्रकला बाई (बूदी) आदि महिलाएँ भी उसमें कविताएँ प्रकाशित कराती थी। यह पिचहत्तर वर्ष पुरानी बात है, जब आचार्य प्रवर श्री द्विवेदी जी पच्चीस वर्ष के थे और झाँसी में क्लर्क थे। उनकी रचनाओ के ऊपर नाम रहता था और नाम के साथ झाँसी भी लिखा रहता था। 'कवि-व-चित्रकार' का उल्लेख हिंदी के किसी भी इतिहास में नही है। भाई बनारसीदास चतुर्वेदी के कहने से मैंने 'विशाल भारत' मे 'कवि-व-चित्रकार' के सबध में लेख लिखा था। तब से इतिहास के पृष्ठो पर भी लेखको ने उन के सबध मे कुछ पक्तियाँ लिखी। यह लेख शायद सन् 1934-35 में प्रकाशित हुआ था, जब चतुर्वेदी जी 'विशाल भारत' के सपादक थे।

'कवि-व-चित्रकार' की कुछ प्रतियाँ हमारे घर (हरदुआगज, जिला अलीगढ) में है। एक प्रति यहां भी है, उसमें श्री द्विवेदी जी का 'कविता' शीर्षक लेख है (सवत 1938 वि० का अक)।

जब श्री द्विवेदी सरस्वती-सपादक हुए तो उन्होंने खडी बोली की कविता का बहुत प्रकाशन किया। पिताजी सरस्वती में नही लिखते थे। सरस्वती की खडी बोली की कविताएँ पढ कर, विलायत से ग्रियर्सन साहब ने द्विवेदी जी को लिखा कि उनमे कोई रस नही है। ऐसी कविताएँ न प्रकाशित कीजिए। द्विवेदी जी ने यह चिट्ठी ज्यो की त्यो पिताजी के पास भेज दी और लिखा कि 'अब सरस्वती की लाज आप के हाथ है'। पिता जी अँग्रेज़ी नही जानते थे, हमारे कसबे मे भी कोई अँग्रेज़ी जानने वाला उस समय न था। चिट्ठी अलीगढ भेजी गई और वहां से उसका अनुवाद होकर आया। 'सरस्वती' में प्रकाशित खडी बोली की कविताओ की कडी आलोचना थी। पिताजी ने 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी के आदेश से सात मास में पाँच कविताएँ लिखी। 'समुखोद्गार,' 'केरल की तारा', 'बलसेना', 'हमारा अद्य.पतन' आदि। ग्रियर्सन साहब ने वे बहुत पसद की और द्विवेदी जी को प्रशंसात्मक पत्र अँग्रेज़ी में लिखा। यह पत्र भी आचार्य जी ने पिताजी के पास भेज दिया।

एक बार सवत् 1948 में, ग्राउस साहब ने कवि और साहित्यकारो को अपने यहां (फतेहगढ) आमन्त्रित किया था। पिताजी भी गए थे। द्विवेदी जी भी घर थे। उस समेलन में पिताजी की कविता सर्वश्रेष्ठ रही। ग्राउस

साहब ने उन्हें स्वर्णपदक प्रदान किया और अपने कमरे का वह चित्र भी दे दिया जिसको लक्ष्य कर पिताजी ने कविता लिखी थी। वह चित्र विलायत के किसी प्रसिद्ध चित्रकार द्वारा आया हुआ था। उस समय यह चित्र डेढ सौ रुपए का बताया गया था। यह चित्र हमारे घर की बैठक मे वर्षों टँगा रहा और पदक भी सुरक्षित रहा।

पिताजी का और आचार्य द्विवेदी का घनिष्ट सबध था। बहुत ज्यादा पत्र-व्यवहार रहता था। आचार्य जी के सैकड़ो पत्र पिताजी ने सुरक्षित कर रखे थे। भारतेंदु जी के भी कई पत्र थे। तत्कालीन सभी कवियो और साहित्यकारो से बड़ा प्रेम था। स्व० आचार्य पद्मसिंह शर्मा, पिताजी की जीवनी लिखना चाहते थे, वे सब पत्र हमारे यहाँ से सन् 1931 मे ले गए। मैने ही गिन कर दिए थे—ग्यारह सौ पचास पत्र थे। 361 द्विवेदी जी के थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल, प्रतापनारायण मिश्र, राजा कमलानद सिंह 'सरोज', राजा रामपाल सिंह, पं० मदनमोहन मालवीय आदि-आदि। 1932 मे प० पद्मसिंह शर्मा और पिता जी दोनो का देहावसान हो गया। उन ग्यारह सौ पचास पत्रो का कुछ भी पता नही कि कहाँ गए। बहुत तलाश किए। ये पत्र होते तो हिंदी के इतिहास के लिए बडे उपयोगी थे।

पिताजी और आचार्य द्विवेदी जी के मध्य दिल्लगी भी खूब रहती थी। द्विवेदी जी उपाधियो को पसद नही करते थे। पिताजी को तत्कालीन कवि-समाज ने 'भारत प्रसेंदु', 'कवि राज' आदि उपाधियाँ प्रदान की तो द्विवेदी जी ने अपने निजी पत्रो मे उनकी खूब खिल्ली उडाई। लिखा कि आप इन उपाधि-व्याधियो का क्या करेंगे।

पं० कुदनलाल के देहावसान और ग्राउस साहब के न रहने से 'कवि-व-चित्रकार' बद हुआ। प० कुदनलाल जी के मित्र श्री सेठ हरप्रसाद जी ने एक शोक अक निकाला। उसमें पिताजी की वह कविता है, जो द्विवेदी जी ने लिखवाकर स्वर्गीय कुदनलाल जी के चित्र के नीचे छपवाई थी। इस अक का सपादन द्विवेदी जी ने ही किया था।

वारो बलहीन दीन मैं हूँ कवि चित्रकार
प्यारे सेठ हरपरसाद ने पठायो हूँ।
शोक विष थाप रह्यो मेरे अंग-अगन मे
वैरी काल व्याल ने रिसाय घर खायो हूँ।
साँची कहूँ शकर सरीर न रहेगो अब
अत के मिलाप को तिहारे तीर आयो हूँ।
जाको मेरे उर में विराजत विचित्र चित्र
ताके तन त्याग को सदेशो लिख लायो हूँ।

'सरस्वती' द्वारा द्विवेदी जी महाराज ने हिंदी की महती सेवा की। अनेक कवियो और लेखको को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को सबसे अधिक द्विवेदी जी ने ही प्रोत्साहन दिया और उन्होने ही गुप्तजी को कविता-क्षेत्र में आगे बढाया। और भी कितने ही कवियो तथा लेखको को।

आचार्य पद्म सिंह शर्मा द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे, और मेरे पिता जी के भी। मेरे तो वे गुरू ही थे। इन दोनो के कारण मेरे ऊपर भी द्विवेदी जी की बड़ी कृपा थी। उनके समय में 'सरस्वती' मे मैंने कभी कुछ नही लिखा। मैंने सन् 1923 से 1934 तक 'आर्यमित्र' साप्ताहिक का सपादन किया। यह पत्र मैंने साहित्यिक बना दिया था। मेरी प्रार्थना पर विशेषांको के लिए पूज्य द्विवेदी जी अवश्य अपना प्रसाद भेजते थे। श्री प्रेमचद, श्री रत्नाकर जी, श्री हरिभाऊ जी, श्री श्रीधर पाठक जी, श्री गोपाल शरण सिंह जी, श्री रामनरेश त्रिपाठी, श्री मैथिलीशरण गुप्त जी, सब ही की रचनाएँ मेरे समय में प्रकाशित होती थी। मै तो अगण्य था, परतु मेरे पिताजी और मेरे गुरू जी के कारण सब मुझे अपना कृपा पात्र समझते रहे। श्री निराला जी, श्री चतुरसेन जी, श्री पुरुषोत्तम दास टण्डनजी, श्री के० पी० जायसवाल इत्यादि सभी महानुभावो की मेरे ऊपर कृपा रही।

पिताजी प्रवास भीरु थे। उनसे मिलने सभी प्रसिद्ध साहित्यकार और कवि हरदुआगज पधारते थे। श्री प्रेम चद जी श्री रत्नाकर जी, श्री मदनमोहन मालवीय, श्री केदार पाडेय (राहुल साँकृत्यायन), श्री निराला, श्री श्रीधर पाठक श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि।

व्यक्तित्व
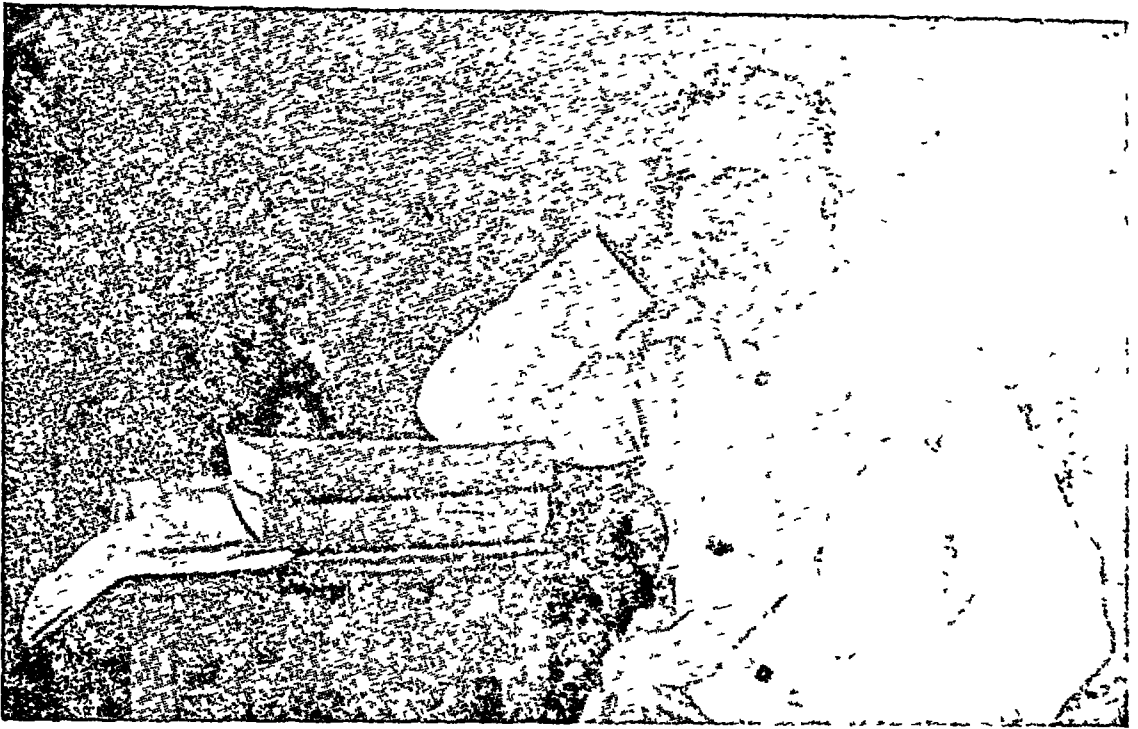
गोविंददास

स्वाभिमान, स्वावलवन और स्वाध्याय इन तीनो की त्रिवेणी यदि किसी साहित्यकार मे देखना हो तो वह आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के जीवन में प्रवाहित दिखाई देगी।

भारतेंदु वावू हरिश्चद्र के पश्चात् हिंदी का वर्तमान रूप वहुत दूर तक द्विवेदी जी की देन है। भारतेंदु ने अपना पद्य साहित्य व्रजभाषा मे ही लिखा परतु द्विवेदी जी ने स्वय भी कुछ पद्य रचना खडी वोली में की और अन्य अनेक खडी वोली के कवियो को जी भर प्रोत्साहन दिया, जिनमें प्रमुख राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त हैं जो आधुनिक काल में खडी वोली भाषा के उन्नायक माने जाते हैं। द्विवेदी जी की हिंदी के सवध मे कुछ विशिष्ट मान्यताएँ थी। हिंदी गद्य की भाषा व्याकरण समत हो वे यह चाहते थे। हिंदी गद्य ही नही पद्य भी खडी वोली मे लिखा जाए इसके वे हिमायती थे। देवनागरी लिपि की मान्यता हर प्रकार वढाई जाए और सार्वजनिक कार्यों में सरकार हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि काम में लावे यह उनका प्रयास रहा। हिंदी के लेखकगण अपनी रचनाओं में पर्याप्त परिश्रम करें इसके लिए वे लेखको को सतर्क किया करते थे। चूँकि देश की 80 फी सदी जनता गाँवो में रहती है और वे स्वय भी गाँव के ही थे तथा कस्वो में अधिकतर रहा करते थे इसलिए ग्रामीण जनता का वे सदा ध्यान रखते थे। यह सव द्विवेदी जी ने उस काल की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'सरस्वती' द्वारा किया और 'सरस्वती' उस समय की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका उन्ही के कारण ही तो वनी। 'सरस्वती' के सपादन में उन्होने जो निर्भयता प्रदर्शित की और जो अंत तक चलती रही वह आज भी कम सपादको में देखने को मिलती है। अँग्रेजी भाषा में जो स्थान डाक्टर जॉनसन का है वह

वर्तमान हिंदी में द्विवेदी जी का माना जाता है जो सर्वथा उचित है। न डाक्टर जॉनसन ने कोई वृहद् मौलिक साहित्य की रचना की थी और न द्विवेदी जी ने ही की। परतु जिस प्रकार अँग्रेजी भाषा का वर्तमान रूप बहुत दूर तक डा० जॉनसन का दिया हुआ है उसी प्रकार हिंदी का वर्तमान रूप द्विवेदी जी का।

मैं द्विवेदी जी के निकट सपर्क में सन् 1916 मे आया। उस समय में एक सपन्न परिवार का महत्वाकाक्षाओ से ओत-प्रोत युवक था। साहित्य की ओर मेरा कुछ स्वाभाविक रुझान था। अत वीर साहित्य ने मेरे मन में देश भक्ति की भावनाओ को भरा और उसी ने आगे चल कर मुझे काँग्रेस में समिलित करा दिया। महत्त्वाकाक्षा प्राय लोकेपणा को जन्म देती है अत. साहित्यिक क्षेत्र मे उस समय मैं कीर्तिलोलुप था और मेरी रचनाओ का उद्देश्य स्वातन्त्रसुखाय नही था। उस समय साहित्य के मूल्याकन और साहित्यिक प्रतिष्ठा के लिए सबसे बड़े साधन प० महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी पत्रिका 'सरस्वती' थी। अत. मैंने पं० कामताप्रसाद जी गुरु द्वारा द्विवेदी जी से अपना नाता जोडा। द्विवेदी जी की मुझ पर कृपा भी हो गई। मेरा एक सचित्र परिचय 'सरस्वती' मे निकला और उस समय के मेरे लिखे हुए एक महाकाव्य के कुछ अश भी। इसी सदर्भ में मेरा द्विवेदी जी से पत्र-व्यवहार भी हुआ। इस पत्र-व्यवहार के कुछ अशो को मैं यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ जिनसे ज्ञात होगा कि द्विवेदी जी का व्यक्तित्व किस कोटि का था।

सन् 1920 में मध्यप्रदेशीय हिंदी साहित्य समेलन के तृतीय अधिवेशन का जो सागर में हुआ मैं अध्यक्ष चुना गया। आज जब मैं उस घटना पर विचार करता हूँ तब मुझे जान पडता है कि जितना उचित मेरा सन् 1948 मे अखिल भारतीय हिंदी साहित्य समेलन का सभापति पद पर चुना जाना था उतना ही अनुचित सन् 1920 मे प्रातीय हिंदी साहित्य समेलन के सभापति पद पर निर्वाचन। मेरी न तो उस समय कोई बहुत बडी साहित्यिक रचनाएँ ही थी और न हिंदी की कोई विशेप सेवा। मेरे इस पद पर निर्वाचन का प० माखनलाल जी चतुर्वेदी ने घोर विरोध किया था जो सर्वथा उचित था। उस समय प्रातीय समेलन के सभापति पद पर मेरा यह चुनाव प० माधवराव जी सप्रे और प० विष्णुदत्त जी शुक्ल ने कराया था। यह शायद इस आशा से कि मध्य प्रदेश के उस समय के सर्वश्रेष्ठ सपन्न कुटुब के एक युवक को सार्वजनिक जीवन में लाने का यह चुनाव-साधन हो। मैंने समेलन के उस अधिवेशन के भाषण की खूब तैयारी की और बाद में उसकी काफी डुग्गी भी पिटवाई। भाषण की प्रतियाँ सभी साहित्यिको को भेजी, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को भी उस भाषण की एक प्रति गई और उन्होने मेरे उस भाषण पर जो समति भेजी उस पर मुझे याद है उस समय मैं फूला नही समा रहा था। उस संमति को भी मैंने प्रकाशनार्थ न जाने कहाँ-कहाँ भेजा था। द्विवेदी जी ने मेरे उस भाषण पर दिनाक 6-8-20 को मुझे लिखे अपने पत्र में जिन बातो की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया उन्हें यहाँ दे रहा हूँ।

श्री मतावर,

सागर के सम्मेलन में किए गए आपके अभिभाषण की एक कापी मुझे प्राप्त हुई। उस पर लिखा है—'वक्ता का प्रेमोपहार'। इस उपहार को मैंने सादर ग्रहण किया। इसके आरभ का श्लोक मुझे बहुत पसद आया। उस पर और उसके आगे भी जो दो श्लोक भागवत में इसी तरह के हैं उन पर भी मेरी बडी भक्ति है। श्रीमद्भागवत मेरा सबसे प्यारा ग्रथ है।

आपकी वक्तता बडी अच्छी है। सभी दृष्टियो से आपने हिंदी पर विचार प्रकट किए हैं। मैंने सानद उसे पढकर आनद प्राप्ति की।

इस पत्र में आगे चल कर वे लिखते हैं :—

"पृष्ठ 15 पर 'स्त्रियोपयोगी' शब्द खटकता है। जरा आप भी विचार कर लीजिए। अत के पद्यो की अतिम पँक्ति मे 'करके' में 'के' अधिक जान पडता है।"

इसके बाद उनका दूसरा पत्र यद्यपि जो इसके पूर्व का है मेरे द्वारा उन्हें कुछ सेवा भेट समर्पण की इच्छा व्यक्त करने पर उन्होने मुझे लिखा था उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ।

डाकखाना दौलतपुर रायबरेली
22 जुलाई, 1920

श्रीमतावर,

जुलाई का कृपा पत्र मिला। क्या आप स्वर्गवासी राजा गोकुलदास के वशज है ? कोई 35 वर्ष हुए, मै भोपाल मे स्टेशन मास्टर था। उनकी शायद वहाँ कोई कोठी थी। वे कभी-कभी वहाँ जाते थे। याद तो यही कहती है कि उनका नाम राजा गोकुलदास ही था, पर शायद वे और कोई हो। स्टेशन मास्टर की हैसियत से मुझे उनसे काम पडता था। वे मुझ से प्रसन्न रहते थे और मै उनसे। उस समय रेल इटारसी से भोपाल ही तक थी।

आप मुझे वडा समझते है, यह आपके हृदय की महत्ता है। वडो के सपर्क से ही छोटे वडे हो जाते हैं। न मै विद्वान, न मै कोई वडा लेखक और न और ही कुछ। किसी तरह पेट की रोटी कमा खाता हूँ।

मेहनत करके मजदूरी लेना ही मुझे पसद है। निष्काम कार्य और निष्काम सेवा ससार मे दुर्लभ है। जिसे आप सेवा करना कहते हैं उसके भीतर दान का भाव छिपा रहता है और दान लेना मै निषिद्ध समझता हूँ। दान देने वाले की दृष्टि में लेने वाला तुच्छ ज्ञात होता है। यह मुझे असह्य है। अव यह वताइए कि मेरा खयाल सच है या नही। अगर आप यह हृदय से समझते है कि मैने अपनी भाषा का या किसी जनसमुदाय का कुछ उपकार किया है अतएव मै सेवा या सहायता का यथार्थ पात्र हूँ तो आप अपनी सतुष्टि के लिए अपनी इच्छा पूर्ति कर सकते हैं। पर यह सेवा या सहायता निष्काम होनी चाहिए। उसमे दान की बू न होनी चाहिए। मुझसे उसके वदले में कुछ काम लेने की प्रवृत्ति भी मन में न होनी चाहिए। मैने 175 रु० महावार की मुलाजिमत छोडकर 23 रु० पर 'सरस्वती' की सपादकता आरभ की थी। इस वात को 17 वर्ष हो चुके। मैने और भी कुछ आत्मत्याग किया है। इस दशा में मै आपकी सेवा को अपनी कदरदानी मात्र समझूंगा।

देवता के मदिर मे जाकर उससे पूछा नही जाता कि सेवा करूँ या नही और करूँ तो कितनी और कैसी। देवता तो भक्ति देखता है। वह एक फूल और चार अक्षतो से भी प्रसन्न हो सकता है।

इस प्रलाप को आप क्षमा करें।

शुभानुध्यायी
महावीरप्रसाद द्विवेदी।

मैने उनकी जो सेवा की तथा उन्होने उदारतापूर्वक उसे जो स्वीकार किया उस सवके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नही है।

इस प्रकार हम देखते है उनमे एक स्वाभिमानी, स्वावलवी और स्वाध्यायी साधक तथा साहित्यकार के साथ कर्म, ज्ञान और निराभिमान की विविध धाराएँ एक साथ प्रवाहित थी जो आज के साहित्यकार और साहित्य के लिए अनुकरण की वस्तु है।

राष्ट्र भाषा के उन्नायक स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जन्म शती के इस शुभ अवसर पर एक शिष्यवत् मै उनके चरणो में अपनी भाव श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ।

● ● ●

आचार्य की विनम्रता और शालीनता

रामचंद्र वर्मा

यो तो आचार्य द्विवेदी हिंदी साहित्य सेवियो के लिए सभी दृष्टियो से परम पूज्य और महान् है और हिंदी साहित्य के आरभिक उन्नायको में उनका प्रमुख स्थान है फिर भी अपने समय में कुछ लोगो की दृष्टि में उनके स्वभाव की उग्रता और प्रचडता के सबध में भी कई प्रकार की चर्चाएँ होती रहती थी। परतु जिन लोगो को उनके निकट सपर्क में आने और उनके व्यवहारो को सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने का अवसर मिलता था, वे अच्छी तरह जानते थे कि आचार्य द्विवेदी का हृदय कैसी उदारता, विनम्रता और शालीनता से परिपूर्ण था। उनके इन गुणो की द्योतक एक घटना का उल्लेख मैं हिंदी साहित्य कोश के दूसरे खड में प० केदारनाथ पाठक की सक्षिप्त जीवनी के अतर्गत कर चुका हूँ और जिसे यहाँ इसलिए दोहराना चाहता हूँ कि उस घटना के जानने वाले कदाचित बहुत ही थोडे लोग बच रहे होगे। घटना यह थी कि प० केदारनाथ पाठक एक बार बहुत ही क्रुद्ध और रुष्ट होकर और अपने सरल स्वभाव के अनुसार पागलो की तरह बकते-बकते आचार्य द्विवेदी के जुही वाले निवास-स्थान पर जा पहुँचे थे। उनका वह विकराल रूप देखते ही आचार्य द्विवेदी जी ने चट कुछ मिठाई और एक गिलास पानी मँगाकर उनके सामने रखते हुए कहा—देवता, आप बहुत दूर से चलकर आ रहे हैं। पहले जलपान कर लीजिए और ठडे हो लीजिए फिर यह मेरा डडा और मेरा सिर दोनो आपके सामने हाजिर हैं। उस डडे से मेरा सिर फोडकर अपना क्रोध शात कर लीजिएगा। इतना सुनते ही पाठक जी झुककर आचार्य द्विवेदी के चरणो पर गिर पडे और फूट-फूट कर रोने लगे। द्विवेदी जी ने उन्हे तत्काल उठाकर गले लगा लिया और फिर दोनो प्रेमपूर्वक बातें करने लगे। अब कहाँ मिलेगे ऐसे पाठक जी और ऐसे द्विवेदी जी!

दूसरी घटना उस समय की है जब काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आचार्य द्विवेदी के प्रति हिंदी वालो की कृतज्ञता और समान का भाव सूचित करने के लिए द्विवेदी अभिनदन ग्रथ प्रकाशित करना और काशी में एक विशाल आयोजन कर के उन्हें वह ग्रथ भेंट करना निश्चित किया था। इस प्रयत्न के मूल में रायकृष्ण दास और उनके कुछ ऐसे मित्र थे जो हृदय से द्विवेदी जी का आदर करते थे और उनका यथेष्ट समान करना चाहते थे। उन्ही लोगो मे एक छोटा-सा स्थान इन पक्तियो के लेखक का भी था। उस अभिनदन ग्रथ के सपादक बाबू श्यामसुदर दास और रायकृष्ण दास नियत हुए थे। अभिनदन ग्रथ के लिए अधिकतर चित्र, लेख और अन्य सामग्री एकत्र करने-कराने का श्रेय रायकृष्ण दास ही को था। पर भूमिका लिखने का भार बाबू श्यामसुदर दास पर डाला गया था। बाबू श्यामसुदर दास और आचार्य द्विवेदी में बहुत पहले से कुछ अन-बन चली आ रही थी जिसके फलस्वरूप दोनो एक दूसरे से कुछ खिंचे से रहते थे। अभिनदन ग्रथ छप रहा था प्रयाग के इडियन प्रेस में और उसके प्रूफ आदि देखने तथा छपाई की व्यवस्था करने के लिए सभा की ओर से आचार्य शिवपूजन सहाय प्रयाग भेजे गए थे जिन्होने तीन-चार महीनो तक वहाँ रहकर बहुत ही योग्यतापूर्वक अभिनदन ग्रथ के मुद्रण का ही नही बल्कि सपादन का भी बहुत-कुछ कार्य किया था। परतु जब अभिनदन ग्रथ के अतिम चार-पाँच फार्म और भूमिका आदि की छपाई बाकी रह गई थी तभी अचानक काशी मे शिवपूजन जी के पुत्र जो उस समय बहुत ही छोटे थे बहुत अस्वस्थ हो गए और जिसके कारण शिवपूजन जी को अचानक बाकी काम छोडकर काशी आना पड़ा। उस समय निश्चय हुआ कि बाबू श्यामसुदर दास के साथ इन पक्तियो का लेखक प्रयाग भेजा जाए। हम लोग प्रयाग गए और इडियन प्रेस के मालिको के घर पर ही ठहरे। कोई दो दिन बाद जब भूमिका का प्रूफ मेरे सामने आया, तब मैने देखा कि उसके अतिम अनुच्छेद में तीन-चार वाक्य ऐसे थे जो किसी प्रकार

अभिनदन ग्रथ की भूमिका के लिए उपयुक्त नही थे। और उन्ही वाक्यो के कारण इडियन प्रेस के साहि-त्यिक कार्यकर्ताओ में तीव्र रोष भी व्याप्त हो चुका था जो मेरी समझ में उचित और स्वाभाविक ही था। मैंने उस फर्मे की छपाई रोक दी और प्रूफ लेकर मैं बाबू श्यामसुदर दास के पास पहुँचा। मेरी बाते सुनकर उन्होने कहा कि द्विवेदी जी की प्रशसा करने वाले लेख तो अभिनदन ग्रथ में भरे ही पड़े हैं। वही उनके वास्तविक स्वरूप का भी तो दिग्दर्शन होना चाहिए। मैंने कहा—सभा आचार्य द्विवेदी का अभिनदन कर रही है उनकी आलोचना नही। इस पर प्राय दिन भर मुझ में और बाबू श्यामसुदर दास में वाद-विवाद होता रहा और अत में उन्होने अपने स्वभाव के अनुसार खिजला कर मुझ से कहा—अच्छा जाओ जो तुम्हारे जी में आवे करो। पर एक वाक्य पर ज़ोर देते हुए उन्होने कहा कि यह अवश्य रहना चाहिए। मैंने उन्ही के सामने सभी आपत्तिजनक अश काट कर निकाल दिए और जिस वाक्य के सबध मे उनका विशेष आग्रह था उसे भी बहुत कुछ बदल कर नया रूप दे दिया। बाबू साहब मन ही मन मुझ पर रुष्ट तो हुए पर कुछ बोले नही। दूसरे दिन सवेरे वह प्रूफ लेकर मैं प्रेस में गया, तब मुझे पता चला कि प्रयाग के कुछ साहित्य सेवी यह चाहते है कि द्विवेदी जी काशी तो जाएँ परतु द्विवेदी अभिनदन समारोह मे सम्मिलित न हो। इस सबध की एक और विशेष बात यह थी कि आचार्य द्विवेदी उसी दिन सध्या को प्रयाग आने वाले थे और बाबू श्यामसुदर दास उसी दिन सवेरे प्रयाग से काशी लौट गए थे। मैं जानता था कि आचार्य द्विवेदी और बाबू श्यामसुदर दास की अन-बन का मूल भी ठीक इसी प्रकार की ऐसी ही घटना से हुआ था जो बहुत दिन पहले काशी मे घट चुकी थी। उस बार भी जिस दिन आचार्य द्विवेदी काशी आने वाले थे उसी दिन बाबू श्यामसुदर दास किसी विशेष कार्यवश काशी से बाहर चले गए थे। इसके सिवा जब काशी मे प्रथम हिंदी साहित्य समेलन का अधिवेशन हुआ था तब भी आचार्य द्विवेदी काशी आए तो अवश्य थे परतु समेलन के अधिवेशन में सम्मिलित नही हुए थे। इसलिए मुझे भय हुआ कि इस प्रकार एक पुरानी घटना की पुनरावृत्ति आज हुई है उसी प्रकार कही दूसरी घटना की भी पुनरावृत्ति न हो जाए। उसी दिन सध्या को आचार्य द्विवेदी जी के कुछ साहित्यिक भक्तो ने उन्हें सब बातो से अवगत करा दिया था और उन्हे बता दिया था कि भूमिका मे कुछ बातें बहुत ही अनुचित रूप से लिखी हुई आई थी जो बाद में मेरे समझाने-बुझाने पर निकाल दी गई थी। फिर भी द्विवेदी जी को सभा की ओर से असतुष्ट और रुष्ट करने का कोई प्रयत्न उठा नही रखा गया था। दूसरे दिन सवेरे जब मैं आचार्य द्विवेदी के दर्शनो के लिए उनकी सेवा मे उपस्थित हुआ, तब मैंने देखा कि उनका हृदय स्वच्छ आकाश की तरह निर्मल है और उसमे प्रयाग वालो के कहने-सुनने का नाम को भी कोई प्रभाव नही पडा। आचार्य द्विवेदी ने बहुत ही प्रेमपूर्वक भाव मे कहा—'आप लोग मेरा बहुत बडा समान कर रहे है।' मैंने नम्रतापूर्वक कहा—'महाराज, आप तो ऐसे उच्च स्तर तक पहुँच चुके है कि जहाँ तक हम लोगो का किया हुआ मान-समान पहुँच भी नही सकता। हाँ, आप के समान के नाम पर सभा अपना ही समान बढा रही है।'

फिर भी मेरे मन मे डर तो बैठा हुआ ही था। मैंने उसी दिन काशी लौट कर बाबू श्यामसुदर दास और रायकृष्ण दास को फिर इस उद्देश्य से प्रयाग भेजा कि वे लोग आचार्य द्विवेदी को आदरपूर्वक फिर से निमन्त्रित कर के अपने साथ काशी ले आवें। वे लोग उसी रोज रात को प्रयाग गए भी और आचार्य द्विवेदी से मिलकर दूसरे दिन लौट भी आए। उन लोगो की बातो से मुझे यही जान पड़ा कि आचार्य द्विवेदी का हृदय इतना महान् और विशाल है कि उस पर किसी बीती हुई घटना के कलुष या कटुता की नाम को भी कही कोई छाया नही है। वे काशी आए। उन्होंने शुद्ध हृदय से अभिनदन ग्रथ ग्रहण किया और उसका उत्तर देते हुए सभा के कामो की यथेष्ट प्रशंसा की। अत में उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि वस्तुत मैं तो इस सभा में झाड़ू देने योग्य भी नही हूँ फिर भी मैं सभा को एक सौ रुपए इसलिए भेंट करता हूँ कि वह इन रुपयो से एक वर्ष के लिए मेरी ओर से कोई झाड़ू देने वाला नौकर नियुक्त करे। उनकी यह विनम्रता और शालीनता देखकर प्राय सभी लोगो का हृदय गद्‌गद् हो गया। ●

आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व

विनोदशंकर व्यास

मुझे अपने पिता और पितामह की कीर्ति और वैभव के साथ ही पुस्तकों का एक बडा भडार मिला। जिसमें भारतेंदु और द्विवेदी काल की अधिकाश पुस्तकें थी। इनमें सरस्वती की फाइल मेरी विशेष-प्रिय वस्तु थी। उन्ही के पन्ने उलटते-उलटते मुझे लिखने की प्रेरणा मिली। अतएव प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति मेरी श्रद्धा होना स्वाभाविक है।

द्विवेदी जी अपने जीवन काल मे एक गुरुकुल थे। हिंदी साहित्य के उस विशाल वट-वृक्ष की छाया में बैठ कर कितने लेखक, कवि और राष्ट्र-कवियो ने हिंदी भाषा को उज्ज्वल किया है, यह किसी से छिपा नही। मुझे उनके व्यक्तित्व का अध्ययन करने का जितना अवसर मिला है उसमे मैंने यही देखा है कि उनका ब्राह्मणत्व सबसे अधिक प्रबल रहा है। द्विवेदी जी के सबध मे भी कुछ विद्वानो की धारणा है कि उनमे अहमन्यता या अकड की मात्रा अधिक थी।

वह एक महान साहित्यिक योद्धा की भाँति द्वद करते रहे। अहमन्यता कहना उचित नही उसे आत्म-समान कहना ही उपयुक्त होगा। जिसकी पीठ ठोकते उसे आगे ही बढाते चले गए और जिससे रूठे उसे गहरे प्रहार का सामना करना पडा। वे सरल हृदय के थे और खुलकर वार करते थे। भीतर ही भीतर मीठी छुरी नही चलाते थे, और इसी स्वभाव के कारण वह किसी के सामने झुके नही। वह चाहते तो बडे से बडा सासारिक समान प्राप्त कर सकते थे, लेकिन ब्राह्मण का सतोषी हृदय जीवन भर अपनी साधारण स्थिति से ही सतुष्ट रहा।

पाक्षिक जागरण ने सबसे पहिले द्विवेदी जयती का प्रस्ताव उपस्थित किया था। 9 मई, 1932 सध्या समय सभा भवन मे द्विवेदी जयती मनाई गई। •सभापति का आसन बाबू श्यामसुदर दास ने ग्रहण किया था। बाबू रामचद्र ने प्रस्ताव पढकर सुनाया जिसमे आचार्य द्विवेदी जी की अडसठवी वर्ष गाँठ पर उनकी दीर्घायु-कामना की गई थी। पं० रामचद्र शुक्ल ने प्रस्ताव का अनुमोदन और प्रसाद ने समर्थन किया था।

द्विवेदी-अभिनदन ग्रथ की योजना भाई शिवपूजन ने ही प्रस्तुत की थी और उन्ही के घोर परिश्रम से वह पूर्ण भी हुआ था। वह महीनो इलाहाबाद रहकर इडियन प्रेस मे उसका कार्य करते रहे। यह ग्रथ अत्यत सुदर और भव्य निकला किंतु इसका प्रचार न हो सका और अत में आधे मूल्य पर बेचने पर उसकी छीछालेदर हुई।

पूज्य द्विवेदी जी अपने काम में कितने पक्के थे यह उन्ही के शब्दो से प्रकट होता है—'एक दफे मैं एकाएक बीमार पड गया। जिगर बहुत बढ गया। हलके से हलका भोजन न पचने लगा। डाक्टरो ने डरा दिया। उनकी बातचीत से सूचित हुआ कि शायद मेरी परमायु समाप्ति के निकट है। इस पर मैंने तीन-चार दिन में धीरे-धीरे सामग्री एकत्र करके 'सरस्वती' की अगली तीन सँख्याओ का मसाला एक ही साथ प्रेस भेज दिया। यदि डाक्टरो का अनुमान सही निकले, तो मेरे बाद भी तीन महीने तक 'सरस्वती' समय पर निकलती रहे— यह सूचना न देनी पडे कि सपादक के मर जाने से वह देर से निकल सकी या बद रही। तीन महीने में कोई दूसरा सपादक मिल ही जाएगा।'

चितामणि बाबू सदैव द्विवेदी जी का आदर करते और उनकी स्वतत्रता में कभी बाधक नही हुए। द्विवेदी जी अपने जीवन काल मे इडियन प्रेस के सचालको से असतुष्ट नही रहे। ऐसा उदाहरण क्या हिंदी संसार में दूसरा कही मिल सकता है?

द्विवेदी जी ने खुद लिखा है कि कुछ लोगो ने बडा कोलाहल मचाया और उन्होने घोष बाबू से कहा—'यह मनुष्य बडा घमडी, बडा कलहप्रिय, बडा तुनकमिजाज है। इससे तुम्हारी कभी न पटेगी। तुमने बडी भूल की, साल के भीतर ही यह महाभारत मचा देगा।' परतु यह सारा भय निर्मूल साबित हुआ। वर्ष के दीर्घ काल में कभी एक बार भी ऐसा मौका न आया, जिसमें इस तरह की कोई बात हुई हो। घोष बाबू ने अपना फर्ज अदा किया, मैंने अपना।

किसी ने भी इसमें त्रुटि न होने दी। विवाद, वितण्डा और कलह हो कैसे ? यह कुछ तो हुआ ही नहीं, घोष बाबू ने मुझे यह सार्टिफिकेट अवश्य दिया—हिंदुस्तानी संपादको मे मैंने वक्त के पावद और कर्तव्य-पालन के विषय मे दृढप्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे है, एक तो रामानद बाबू दूसरे आप। उनकी इस समति से मैंने अपने को कृतार्थ समझा।

आज से तीन युग पहले प० वेंकटेशनारायण त्रिपाठी जी ने अपने एक लेख मे द्विवेदी जी की तुलना डाक्टर जॉनसन से की थी और लिखा था डाक्टर जॉनसन का नाम यदि अमर है तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अँग्रेज़ी साहित्य पर इस तरह से लगी है कि यदि सदियो तक क्रूर काल उसको मिटाने की चेष्टा करेगा तो भी उसे कामयाबी न होगी। इस तरह से लेखक को इसमें सदेह नही है कि द्विवेदी जी की सपूर्ण ग्रथावली को आज से 100 वर्ष बाद लोग पढेंगे। मै इस मत से पूर्ण सहमत हूँ, किंतु दुर्भाग्य हिंदी का कि अभी तक कोई बासवेल पैदा नही हुआ है।

कुछ समालोचको का कथन है कि द्विवेदी जी को अँग्रेजी पर अधिकार नही था, वह मराठी और बँगला से ही सहायता लेते थे। यह बात कहाँ तक ठीक है इस पर मैंने थोडी छान-बीन की है। मैंने 'सरस्वती' की फाइल के पन्ने इसी उद्देश्य से उलटे है और देखा है कि पाश्चात्य विद्वानो से उनका सबध रहा है। उनके समय की 'सरस्वती' में उन विदेशी विद्वानो का परिचय और सस्कृत साहित्य में उनके ठोस कार्यो पर काफी प्रकाश डाला गया है और उनका उदाहरण उपस्थित करते हुए यह बराबर ध्वनि निकलती रही कि एक वे है जो हमारी सस्कृति और साहित्य पर इतना मनन करते है और यहाँ भारत में हम उदासीन बैठे है।

डाक्टर मेकडानल जैसे विद्वानो को फटकारना द्विवेदी जी ही का काम था। मेकडानल का जन्म मुजफ्फरपुर (तिरहुत) में हुआ था। उन्होने अपना नाम मुग्धानलचार्य रखा था। बेनफी, रोट और मैक्सम्लर से उन्होने वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। अपने समय के वह सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान समझे जाते थे। वे भारत आकर सस्कृत के बडे-बडे पडितो से मिले थे। उन्होने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जुलाई, 1906 के जर्नल में एक लेख प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होने लिखा था कि इस देश के पडित इस योग्य नही, भारतवर्ष के नालायक पडितो से संस्कृत पढने से विशेष लाभ नही। क्योकि वे लोग गुण-दोष परीक्षापूर्वक सस्कृत पढाना नही जानते। ये लोग सूक्ष्मदर्शी नही। इसलिए लडन से ही सिविल सर्विस वालो को वही सस्कृत शिक्षा मिलनी चाहिए। उस समय पं० श्रीधर रामकृष्ण भडारकर बबई मे एल्फिस्टन कालेज में सस्कृताध्यापक थे। उन्होंने भी उनके लेख का खडन किया और उसे उसी जर्नल में छापने के लिए भेजा किंतु उनका लेख वहाँ न छप सका। तब उन्होने खुद उसे पुस्तकाकार छपवा-कर बँटवाया। अँग्रेज और नेटिव का प्रश्न था।

द्विवेदी जी ने सर विलियम्स द्वारा सपादित शकुतला के अँग्रेज़ी अनुवाद और बूलर साहब के विक्रमाक-देव चरित के सबध में जो त्रुटियाँ दिखाई है उससे उनके प्रकाड पाण्डित्य का परिचय भली-भाँति मिलता है। उन्होने मुग्धानल की दलीलो का खडन करते हुए लिखा है, कि बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन आदि ने जो बडी-बडी किताबें लिख डाली सो इस देश के भोले-भाले स्थूलदर्शी पडितो की ही कृपा की बदौलत। डाक्टर मेकडानल ने द्विवेदी जी की विद्वत्ता के सामने चुपचाप अपने सिर को नीचा कर लिया होगा, क्योकि उनकी त्रुटियो पर कलम चलाने वाले डाक्टर भाडारकर और द्विवेदी जी जैसे व्यक्ति भारतवर्ष में जीवित थे। मेकडानल बडे अभिमानी स्वभाव के थे, इसीलिए लेख के अत में द्विवेदी जी ने लिखा था कि मेकडानल के गुरु मैक्समूलर ने 14 वर्ष पहले अपनी एक फोटो उनके पास भेजी थी और उनके शिष्य अक्खड स्वभाव के मालूम पडते है। यह मैक्समूलर साहब जर्मन थे। उन्होने अपना नाम मोक्षमूलर भट्ट रखा था। वैदिक साहित्य के सबध मे समस्त यूरोप की आँखें उन्होने खोली थी। उन्होने अपनी एक पुस्तक भी भेंट स्वरूप द्विवेदी जी के पास भेजी थी। आज उन्ही मोक्ष मूलर भट्ट के कारण भारतवर्ष समस्त विश्व मे अपने प्राचीन साहित्य के नाम पर गर्व करता है।

अत में मै इस महान आत्मा के प्रति इस शती समारोह के अवसर पर नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। ●

हिंदी साहित्य संमेलन और आचार्य द्‌विवेदी

रामप्रताप त्रिपाठी

आचार्य द्‌विवेदी जी का हिंदी साहित्य समेलन से कभी घनिष्ठ सपर्क नही रहा। वताते है कि समेलन तथा समेलन की जननी काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तात्कालिक कर्णधारो से उनका कुछ मत-भेद था, जिसके कारण वह समेलन के कार्यों तथा गतिविधियो में कोई विशेष रुचि नही लेते थे। किंतु इन पंक्तियो के लेखक को यह सौभाग्य नही मिल सका है कि वह इस जनश्रुति का खडन या मडन कर सके क्योकि उसके साहित्यिक जगत में परिचय-लाभ प्राप्त करने के वहुत पहिले ही द्‌विवेदी जी का तिरोभाव हो चुका था । समेलन के कार्यालय में प्राप्त रेकार्डो तथा समेलन के अपने पुराने सहयोगियो से इस वात का कोई ग्राधार भी नही मिलता कि द्‌विवेदी जी समेलन से क्यो दूर-दूर रहते थे। संभवत अपनी वृद्‌धा-वस्था एवं स्वतत्र चिंतन प्रणाली के कारण ही उन्होने समेलन के आरभिक कार्यों में तथा उसके कर्णधारो की कार्य-प्रणालियो में गहरी रुचि नही ली होगी जिसके कारण उनकी अन्यमनस्कता को ही इस वात का आधार मान लिया गया होगा। मेरे इस अनुमान की पुष्टि स्वय द्‌विवेदी जी के भाषण की निम्नलिखित पक्तियाँ है, जो कानपुर में आयोजित हिंदी साहित्य संमेलन के 13वें अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के पद से उन्होने प्रकट की थी और जिनमें उन्होने स्वय ग्रपनी इस स्थिति को प्रकट करने का प्रयास भी किया था। वे कहते है—

"मै एक व्यक्तिगत निवेदन करने के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ। हिंदी का यह तेरहवाँ समेलन है। इसके पहले एक को छोडकर और किसी समेलन में अभाग्यवश मै उपस्थित नही हो सका। अस्वस्थता के सिवा और कोई इसका कारण नही। मै दूर की यात्रा नही कर सकता और वाहर वहुत कम रह सकता हूँ। परंतु मेरे सुनने में आया है कि कुछ लोगो ने मेरी ग्रनुपस्थिति का कुछ और ही कारण कल्पित किया है। वे समझते है कि मेरे उपस्थित न होने का कारण, मेरा ईर्ष्या-द्‌वेष, मेरा मद और मत्सर, मेरा गर्व ग्रौर पाखंड है । अतएव मै चाहता था कि समेलन के प्रधान कार्यकर्त्ता मुझे कोई ऐसा काम देते जिससे मुझ पर गुप्त रीति से किए गए इन निर्मूल दोषारोपणो का आप ही आप परिहार हो जाता। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि संमेलन में समिलित होने के लिए समागत सज्जनो की सेवा का काम मुझे दिया जाता, तो मै आपको अपना इष्टदेव समझकर पाद प्रक्षालन से आरभ करके आपकी षोडशोपचार पूजा करता। ऐसा करने से मेरा पूर्व निर्दिष्ट दोषारोपजात धव्वा भी धुल जाता। समेलन के विषय मे मेरे भावो का भी पता लग जाता और साथ ही इस जराजीर्ण शरीर से पुण्य का सपादन भी कुछ हो जाता। परतु इस पवित्र काम से मै वंचित रखा गया और अनुरक्ति के वशीभूत होने से इस वचना को भी मैंने अपने सौभाग्य का सूचक ही समझा। तथापि मेरा मन फिर भी नही मानता। मै आप सव की मानसिक

अर्चना करता हूँ। आप लोग भी कृपा करके उसे उसी भाव से ग्रहण कीजिए।"

समेलन का कार्यालय प्रयाग में ही अपने जन्मकाल के थोडे ही दिनों वाद से चल रहा है। उसके आदिम सभापति एव प्रेरणा-स्रोत स्व० महामना मालवीय जी तथा उसके प्राण प्रतिष्ठाता स्व० राजर्षि टडन जी भी प्रयाग के ही निवासी थे, जहाँ आचार्य द्विवेदी जी की 'सरस्वती' का निवास था । समेलन का जन्म सन् 1910 ई० में हुआ था। आरंभ में उसका भी कार्य उसी प्रकार चला जैसा किसी भी सार्वजनिक सस्था का उसके जन्मकाल के दो-चार वर्षों के भीतर चलता है। किंतु यह सचमुच वडे आश्चर्य की वात है कि आचार्य द्विवेदी जी सन् 1923 ई० तक बरावर ही समेलन से दूर-दूर रहे। कदाचित् इसका एक कारण यह भी रहा होगा क द्विवेदी जी रचनात्मक प्रतिभा तथा कृतित्व के अडिग विश्वासी व्यक्ति थे। प्रचार-प्रसार से दूर रहकर वह राष्ट्र भारती हिंदी के बिखरे हुए स्वरूप को सवल और शक्तिमान वनाकर उसके साहित्य की सवर्द्धना के हिमायती थे अत समेलन के कार्यों तथा प्रवृत्तियो के प्रति, जो सचमुच उन दिनो प्रचार तथा सगठन शक्ति पर ही अवलवित थी, उपेक्षा वुद्धि रखते रहे होगे। उनका विश्वास रहा होगा कि हमारे कार्य की दिशा में भेद है अत जानवूझकर उन्होने अपने को समेलन के झमेले से दूर रखा होगा, जो उन दिनो अपने वार्षिक अधिवेशनो की चर्चा, उनमें स्वीकृत दर्जनो प्रस्तावो को कार्यान्वित करने की चिंता तथा उसकी विविध परिषदो के अध्यक्षो के चुनाव में अति व्यस्त रहा करता था।

द्विवेदी जी अपने साहित्यिक पदार्पण के सग आरभ से ही हिंदी जगत के माने हुए कर्णधार वन गए थे। हिंदी जगत में अपने प्रवेश के साथ ही उन्होने अपनी कारयित्री प्रतिभा तथा अदम्य सकल्प शक्ति का सुपरिचय दिया था। अत यह कहना तो उचित नही होगा कि जिन दिनो समेलन का श्रीगणेश हुआ और उसके कार्यों तथा वहुमुखी प्रवृत्तियो का विकास होने लगा, समेलन के कर्णधारो का ध्यान द्विवेदी जी की ओर न गया होगा। गया अवश्य होगा किंतु सभवत. उनके स्वाभिमानी एव निराले व्यक्तित्व के कारण वे लोग उनके सहयोग की याचना मे सकोच करते रहे होगे। सन् 1910 में, जव काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से उसके सचालको ने हिंदी की उन्नति एव प्रगति के लिए हिंदी प्रेमियो का एक अखिल भारतीय सम्मेलन काशी में वुलाने का सर्वप्रथम आयोजन किया होगा तो उन दिनो भी उनका ध्यान आचार्य द्विवेदी जी की वहुमुखी हिंदी-सेवाओ की ओर अवश्य गया होगा। अवश्य ही इस अधिवेशन म उनसे भाग लेने की प्रार्थना भी की गई होगी।

समेलन का प्रथम अधिवेशन महामना मालवीय जी की अध्यक्षता में काशी में हुआ था, उसमें द्विवेदी जी ने भाग नही लिया था। क्या कारण था, इसे सुस्पष्ट करने के लिए आज वहुत कम लोग वचे हुए है । सभवत द्विवेदी जी की प्रवासभीरुता अथवा ऐसे सार्वजनिक आयोजनो मे वचकर केवल ठोस कार्य करते रहने की उनकी सहज इच्छा ही कारण रही होगी। किंतु जो भी हो, इस तथ्य को स्वीकार करने मे कोई सकोच नही है कि द्विवेदी जी आरभ से ही समेलन के कार्यक्रमो में विशेप रुचि नही लेते थे। और वे अपनी प्रवृत्ति के अनुसार दिनरात हिंदी के वर्तमान सकटो तथा कठिनाइयो को दूर करने के साधनों तथा उपायो की एकमात्र जननी अपनी लेखनी का ही अवलवन लेकर यथाभिलपित कार्य करते रहते थे। समेलन के अधिवेशनो तथा समितियो द्वारा हिंदी के प्रचार-प्रसार अथवा प्रस्तावो की नरम या गरम भाषा तथा भाषणो द्वारा हिंदी के उन्नयन तथा विकास के प्रयासो में उनका उतना विश्वास नही रहा होगा, जितना समेलन के कर्णधारो का था।

कानपुर में आयोजित सन् 1923 ई० के उपर्युक्त 13वें हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन मे द्विवेदी जी ने स्वागताध्यक्ष का पदभार ग्रहण किया था। वताते है कि इस पदभार को अगीकार करने की स्वीकृति उन्होने अपने अनन्य प्रियपात्र स्व० गणेशशकर विद्यार्थी के अनुरोध से ही दी थी। द्विवेदी जी उन दिनो कानपुर के ही समीप जूही में रहते थे। अत यह अत्यत अनुचित वात होती यदि इस अधिवेशन में उनका सान्निध्य अथवा योगदान न रहा होता। दूसरी वात यह भी थी कि कानपुर के इस अधिवेशन के

सभापति स्व० राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टडन थे, जो अपनी अदम्य हिंदी निष्ठा एव तप त्याग के कारण इतने ही दिनो के अपने सत्प्रयासो के द्वारा हिंदी साहित्य समेलन जैसी प्रचारात्मक सस्था को अखिल भारतीय स्वरूप एवं महत्त्व प्रदान करा चुके थे। समेलन की बहुमुखी प्रवृत्तियो का विकास उतने ही दिनो में हो चुका था और वह मात्र अधिवेशन बुलाने वाली सस्था नही रह गई थी। उसकी परीक्षाओ का अखिल भारतीय प्रचार हो चुका था और उसकी अगभूत संस्था दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की भी मद्रास मे स्थापना हो चुकी थी।

आचार्य द्विवेदी को आरभ मे यह विश्वास भले ही रहा हो कि समेलन जैसी प्रचारात्मक सस्थाओ मे हिंदी का उतना हित नही हो सकता जितना उसके स्वरूप को सुदृढ, सुनिश्चित एव व्यापक बनाने तथा उसके साहित्य भडार को उत्तरोत्तर समृद्ध एव तेजस्वी बनाने से होगा। किंतु उन्होने बाद में अवश्य ही अनुभव किया होगा कि हिंदी के उन्नयन एव विकास के कार्यो की यह दिशा भी हृदय से अभिनदनीय है। अपने स्वागत भाषण में राजर्षि टंडन एव समेलन के कार्यो की सक्षिप्त चर्चा करते हुए उन्होने अपने जो उद्गार प्रकट किए है उनमें उनके उच्च मनोभाव की मनोहर झाँकी मिलती है। वे कहते है—

"श्री पुरुषोत्तमदास जी टडन, एम० ए०, एल-एल० बी० इस अधिवेशन के सभापति का आसन ग्रहण करें—एतदर्थ मेरा सहर्ष प्रस्ताव है। आपकी आत्मा बडी उच्च है। आप प्रात के ही नही देश भर के मान्य है। आपको मातृभाषा की बडी ममता है और समेलन के जन्म से सदैव आप इसके कर्णधार रहे है। यदि आपका नेतृत्व न मिला होता तो समेलन यह सब काम जो उसने इस अल्पकाल मे किया है, न कर सकता। टडन जी के आत्मोत्सर्ग का हम अभिमान है। आपकी दिव्यता, सहिष्णुता, सहृदयता और हिंदुस्तान की सेवा का हमे अभिमान है। आपका साहित्य प्रेम बडी उच्च कोटि का है। हमारी आशा है ऐसे योग्य व्यक्ति को सभापति के आसन पर पाकर यह समेलन कृतकृत्य होगा।"

प्रकृत्या अतीव मितभाषी एव लेखन में भी विशेषता-विहीन तथ्यपूर्ण भाषा के प्रयोक्ता आचार्य द्विवेदी का टडन जी एवं समेलन के प्रति यह मार्मिक उद्गार प्रकट करता है कि उनके हृदय मे समेलन और उसके प्राण प्रतिष्ठाता स्व० राजर्षि टडन जी के प्रति कितना गहरा एव उच्च प्रभाव था। और यह भी कि वह समेलन की महिमा एव इतने दिनो के कार्य-परिणामो से सर्वथा अनभिज्ञ नही थे।

समेलन के कर्णधारो को समेलन के प्रति द्विवेदी जी की उपेक्षा भावना का पता न रहा होगा—यह बात भी नही थी। वे लोग यह जानते और मानते थे कि समेलन के सग उनकी उतनी सहानुभूति नही है जितनी होनी चाहिए। बताते है, कई बार उन्हें समेलन के वार्षिक अधिवेशनो का सभापति निर्वाचित करने का निष्फल प्रयास भी किया गया था किंतु द्विवेदी जी तैयार नही हुए। यह भी कारण हो सकता है कि जब प्रयास किया गया तब तक विलब हो चुका था, क्योकि द्विवेदी जी जैसे सर्वमान्य आचार्य को कब और किस अधिवेशन मे सभापति बनाना चाहिए था, इसका भी निर्णय बहुत सतर्कता से यथासमय ही करना चाहिए था। सभवत महामना मालवीय जी उपाध्याय पडित बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प० गोविंदनारायण मिश्र जैसे वयोज्येष्ठ महानुभावो के बाद आचार्य द्विवेदी जी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हे समेलन का सभापति बनाया जाना चाहिए था। वैसे उनकी बहुमुखी हिंदी सेवा इन महानुभावो से भी अग्रगणनीय थी, क्योकि वह केवल रचनाकार ही नही थे, एक युगनिर्माता थे और अपनी साधना एव प्रतिभा के पुण्य जल से अनेक नए बिरवो का सिंचन करके उन्होंने हिंदी साहित्य की वाटिका मे उन्हे पल्लवित-पुष्पित एवं फलवान भी बना दिया था। कदाचित यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नही होगी कि यदि आचार्य द्विवेदी का वरद सहयोग न मिला होता तो हिंदी साहित्योद्यान के आज के अनेक समृद्धिमान वृक्षो का कही कोई पता भी न होता और आज की अनेक नूतन प्रतिभाओ की भाँति वे भी पथ-प्रदर्शन, प्रेरणा एव सक्रिय सहयोग के अभाव में अकाल ही मुरझा गए होते। आज हिंदी जगत् में ऐसा कौन नायक अथवा संपादक है, जो द्विवेदी जी की भाँति अनगढ पाषाण खडो में कलात्मक मूर्तियो का निर्माण करता है और

कुम्हलाए हुए नव अकुरो मे अपना प्रेरणामय पीयूप डालकर उन्हें उन्नत और हराभरा वनाता है। आज तो ऐसे विरले सपादक है, जिन्हे अपने से अपरिचित अथवा उदीयमान लेखको की रचनाओ का शीर्षक पढ़ने की भी सुविधा एव सहृदयता प्राप्त है। अस्तु ।

द्विवेदी जी की हिंदी-निष्ठा की यहाँ क्या चर्चा की जाए। अति सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि हिंदी उनकी जीवनव्यापिनी—साधना और साध्य—दोनो ही थी। उनकी उद्दाम हिंदी आराधना का तीस-पैंतीस वर्षों तक हिंदी-जगत् पर एक समान अप्रतिम प्रभाव रहा। इतनी दीर्घावधि तक किसी भी भाषा के साहित्य पर किसी एक साहित्यकार या सपादक का प्रभाव कही भी देखने और सुनने को भी नही मिला। उनकी निष्कलुष एव अविराम हिंदी सेवा का ही यह सुपरिणाम था कि उन्हे हम एक युगनिर्माता के रूप मे सदा-सदा के लिए सादर याद करेंगे और हमारी भावी पीढियाँ भी द्विवेदी युग और उसके प्रभाव के सबध मे वही धारणा व्यक्त करेंगी जो आज हमारी है। आज के भारतीय जनमानस मे आधुनिक हिंदी की गगा को प्रवाहित करने में उन्होने जो कुछ किया है, वह पौराणिक पुरुष भगीरथ के प्रयत्नो से कम महत्त्वपूर्ण नही है। वे जव तक जिए, हिंदी के लिए ही जिए। हिंदी उनके प्राणो में रम गई थी। समेलन के उक्त कानपुर अधिवेशन के अपने स्वागत भाषण के अत मे उन्होने जो कुछ कहा है वह उनके अनुपम हिंदी-प्रेम की एक अतीव प्रेरणाप्रद सूक्ति है। वे कहते –

"अब आप मुझे अपनी व्यक्तिगत अतिम प्रार्थना के लिए क्षमा करें। इस वक्तव्य (स्वागत भाषण) के आरभ मे आपकी मानसिक पूजा कर चुका हूँ। पूजात मे साधक अपने इष्टदेव से कुछ मागता भी है—वह अपनी अभिलषित वाछा की पूर्ति के लिए कुछ प्रार्थना भी करता है। पूजा के इस अग का उल्लेख करना मैं यहाँ भूल गया हूँ। उस भूल की मार्जना कर डालने की अनुमति, अब मैं अत मे आपसे चाहता हूँ ।

मुझ अपुण्यकर्मा ने अपनी आयु के कोई 60 वर्ष अधिकतर, तिल, तडुल, लवण और ईंधन की चिंता ही में विता दिए। अपनी मातृभाषा हिंदी की उन्नति के लिए जो-जो काम करने का सकल्प मैंने किया था, वे सव मैं नही कर सकता। यह जन्म तो मेरा अव गया। आप उदारता और दयालुतापूर्वक मेरे लिए परमात्मा से अव यह प्रार्थना कर दीजिए कि जन्मातर मे ही वह किसी तरह वे काम कर सकने का सामर्थ्य मुझे दे। वह मुझ पर ऐसी कृपा करे कि मेरे हृदय मे मातृभाषा का आदर सदा वना ही न रहे, वह वढता भी रहे और जिस भाषा मे मेरी माँ ने मुझे अम्मा और वप्पा कहना सिखाया था उसी मे हरि-हरि स्मरण करते हुए

प्राणा प्रयातु ममनाथ तव प्रसादात् ।"

जीवन भर अपनी उत्कट साधना मे लगे हुए सच्चे एव लोक सग्रही साधक की यह भावभूमि कितनी स्वाभाविक, प्रेरक और मार्मिक है—इसका अनुभव हमारे पाठक भी सहज ही कर सकते हैं और यह अनुमान भी लगा सकते है कि स्व० आचार्य द्विवेदी जी की हिंदी साधना का स्तर कितना ऊँचा था। वह अपनी आराध्या हिंदी के लिए अपना एक जन्म ही नही, जन्मातर समर्पित कर चुके थे। सचमुच हिंदी धन्य है, जिसे परतत्रता के उस कठोर युग में भी द्विवेदी जी के समान सच्चे साधक मिले। हमारी तो प्रभु से प्रार्थना है कि वह हिंदी के ऐसे सुपुत्रो को पुन: वापस करे, जो आज स्वतत्रता के युग में राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर समासीन होने के वाद भी पदे-पदे अवमानित हिंदी के लिए अपने संपूर्ण जीवन की साधनानिधि को समर्पित कर सकें। हिंदी को आज भी ऐसे महावीरो और पुरुषोत्तमो की आवश्यकता है, जो उसके कटकाकीर्ण पथ को विघ्न-वाधा विहीन वनाने में अपने सर्वस्व का सर्वात्मना उत्सर्ग कर सकें।●

आचार्य द्विवेदी जी घर में

रामस्वरूप दुबे

साहित्यकारो के ज्ञान और रचना शैली का परिचय उनके प्रकाशित ग्रंथो से सहज ही मिल जाता है और प्राय· साहित्यकार के इसी पक्ष की ग्रोर ध्यान भी अधिक दिया जाता है। साहित्यकार का अपना जीवन भी कुछ है और उसकी वैयक्तिक मान्यताओ अथवा परिस्थितियो का भी कोई महत्त्व है, इस बात को दृष्टि में रखकर यदि उसकी रचनाओ का अध्ययन किया जाए तो अध्ययन एकागी होने के दोष से निश्चय ही वच जाए। वास्तविकता यह है कि पूर्ण अर्ध्ययन के लिए अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनुभूति अथवा स्रोतस्थल का परिचय प्राप्त करने का भी प्रयत्न होना चाहिए।

साहित्यकार की रचनाग्रो का सृजन किन परिस्थितियो में हुआ इसका ज्ञान रचयिता के निकट सपर्क से, उसके सवंध मे निकटस्थ व्यक्ति से हुई वार्ता के द्वारा अथवा रचयिता की आत्मकथा के अध्ययन से होता है। वैयक्तिक पत्रो मे भी इससे सवधित सामग्री प्राय· मिल जाती है। सौभाग्य से आचार्य द्विवेदी जी की आत्मकथा उपलब्ध है ग्रौर साथ ही उनके कुछ पत्र भी। उनके पत्रो का एक अच्छा सकलन श्री वैजनार्थासिह विनोद ने किया है। संपादकाचार्य श्री वनारसीदास चतुर्वेदी ने भी समय-समय पर उनके कुछ पत्र उद्धृत किए हैं।

द्विवेदी जी ने अनेक मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ हिंदी जगत को दिए और अनेक कवि तथा लेखको का निर्माण किया, पथ-निर्देश किया, शुद्ध लिखना सिखलाया किंतु स्वय उनका जीवन आर्थिक अभाव और संघर्ष का जीता जागता उदाहरण था। दौलतपुर के इस ब्राह्मण का प्रारंभिक जीवन कितना कष्टमय था। आत्मकथा में उन्होने लिखा है—"मै एक देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन सिर्फ दस रुपया था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोडी-सी संस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष

की उम्र में 36 मील दूर, रायबरेली के ज़िला स्कूल में अँग्रेज़ी पढने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता, दो आने महीना फीस देता था। दाल ही में आटे के पेडे या टिकियाएँ पका पेट पूजा करता था। रोटी बनाना तक मुझे आता ही न था। सस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल में वैसी ही अछूत समझी गई थी, जैसे कि मद्रास में नबूदरी ब्राह्मणो मे वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अँग्रेजी के साथ फारसी पढता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा फतेहपुर और उनाव के स्कलो मे चार वर्ष काटे। कौटुबिक दुरावस्था के कारण मै उससे आगे न बढ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वही समाप्ति हो गई।"

द्विवेदी जी को भरण पोषण के लिए नौकरी ही करनी थी। एक साल अजमेर मे एक रु० महीने पर नौकरी करके पिता के पास वापस पहुँचा और तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में 20 रुपए महीने पर तार बाबू बना। नए-नए काम सीखते रहकर, 21 वर्ष तक नौकरी करके वे 200 रुपया माहवार पाने भी लगे किंतु उनके द्वारा किसी दूसरे पर अत्याचार हो, यह उन्हे स्वीकार न था। परिणाम यह हुआ कि उन्होने इस्तीफा दे दिया और 23 रुपया मासिक मात्र पर 'सरस्वती' मासिक के सपादक का कार्य स्वीकार कर लिया। इस सबध मे द्विवेदी जी ने जो कुछ भी लिखा उससे उनकी त्याग भावना एव न्यायनिष्ठा और पत्नी की दृढता का अच्छा परिचय मिलता है—"मै यदि किसी के अत्याचार को सह लूंगा, तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है पर उससे मुझे औरो पर अत्याचार करने का अधिकार नही हो जाता है। परतु कुछ समयोत्तर बानक कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरो पर भी अत्याचार कराना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियो को लेकर रोज सुबह आठ बजे दफ्तर मे आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज़ मेरी मेज पर मुझे रक्खे मिलें। मैंने कहा कि मै आऊँगा पर औरो को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हे हुक्म देना हुजूर का काम है। बस बात बढी और बिना किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, सिफारिशें तक की गईं। पर सब व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापिस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विपण्ण होकर कहा—क्या थूककर भी कोई उसे चाटता है? मै बोला—नही, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो आठ आना रोज़ तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह कार्य चलाने का सकल्प प्रकट किया और मैंने सरस्वती की सेवा से मुझे हर महीने जो 20 रु० उजरत और 3 रु० डाक खर्च की आमदनी आती थी, उसी से सतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा—किसी समय तो मुझे महीने मे 15 रु० ही मिलते थे, 23 रुपए तो उसके ड्योढे से भी अधिक है। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नही।"

थोडे में भी काम चला लेने में वे अपने प्रारभिक जीवन में ही अभ्यस्त हो चुके थे। उनकी मितव्ययिता आदर्श थी। इस सबध में द्विवेदी अभिनदन ग्रथ में श्री यज्ञदत्त शुक्ल ने लिखा है—एक बार उन्होने मुझे खासी डाट बतलाई। द्विवेदी जी को मेरी फिजूल खर्ची का पता लग गया तो उन्होंने कहा—मैं तो अपने तेईस रुपए मासिक में से चार रुपए प्रतिमास बचा लेता हूँ और जनाब आप पौने दो सौ रुपए में से भी एक पैसा नही बचा पाते। आखिर हमें बतलाइए तो, कि आप किस चीज में ये पैसे उड़ा देते हैं। द्विवेदी जी की मान्यता थी—

"इदमेव हि पाण्डित्यामियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्यय ॥

अर्थात्—आमदनी से खर्च ज्यादा न करने मे ही पडिताई, चतुराई और धर्मात्मापन है।

किंतु, इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि द्विवेदी जी कृपण थे। प्रत्युत वे इतने उदार हृदय थे कि उन्होंने अपनी गाढी कमाई का अधिकांश भाग हिंदू विश्वविद्यालय को छात्रवृत्तियों के लिए अर्पित कर दिया था। इसके अतिरिक्त अपना समस्त पुस्तक सग्रह और एक हज़ार रुपया नागरी प्रचारिणी

सभा, काशी को दिया, रिश्ते की तीन भाजियो के विवाह और गौने तो किए ही, गैरो की दो लड़कियाँ ब्याही; गाँव की कई-निर्धन लडकिये के विवाह मे सहायता की, कई विधवाओ का पालन किया और उन्हे वृत्तियाँ दी; कूप-निर्माण कराया और कुटुंब की अतिम स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अत्येष्टि-कर्म मे व्यय के साथ दीन-दुखियो मे एक हज़ार रुपए का वितरण भी किया।

श्रेष्ठ मनुष्य में जहाँ अनेक गुण होते है, वहाँ कभी-कभी कोई दुर्बलता भी उसे आ घेरती है। कुछ मित्रो के परामर्श के चक्कर में पड़कर विशेष माँग वाली और टके सीधे करने वाली कुछ सरस पुस्तके तैयार करने का निश्चय द्विवेदी जी ने कर डाला। इस प्रकार की पहली पुस्तक जो उन्होंने लिखी उसका नाम था "तरुणोपदेश"। मित्रो को जब उसमें पर्याप्त सरसता न मिली तो उन्होने दूसरी पुस्तक लिखी 'सोहागरात'। मित्रो ने यह पुस्तक विशेष सरस पाई और द्विवेदी जी की पीठ भी खूब ठोकी। द्विवेदी जी को प्रतीत हुआ कि बिक्री से उनके घर धन की वृष्टि होने लगेगी। किंतु अश्लील पुस्तको के रचयिता होने के कलक से भी उन्हे अपनी पत्नी के विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही बचना था। उन्होने ये दोनो पुस्तकें अपनी पत्नी से छिपकर लिखी थी। एक दिन पत्नी ने वे पुस्तकें देख ली। "देखा ही नही, उलट-पलटकर उसने उन्हे पढा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराल काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास-रूपी इतने कडे कशाघात किए कि मै तिलमिला उठा। उसने उन दोनो पुस्तको की कापियो को आजन्म कारावास या कालेपानी की सज़ा दे दी। वे उसके सदूक में बंद हो गईं। उसके मरने पर ही उसका छुटकारा उस दयामुलहव्स से हुआ। छूटने पर मैंने एकात-सेवन की आज्ञा दे दी है, क्योकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझ में नही।" इस प्रकार द्विवेदी जी की पत्नी ने उन्हें "साहित्य के उस पंक-पयोधि" में डूबने से बचा लिया।

द्विवेदी जी यदि चाहते तो साधारण पुरुषो के समान लोभ मे अंधे बने रहकर गृह-कलह को जन्म देते, मारपीट करते और पुस्तकें बलात् लेकर प्रकाशित करा देते। किंतु उन्होंने पत्नी के जीवन में ही नही, उसकी मृत्यु के पश्चात् भी कोई काम ऐसा नही किया जो पत्नी की इच्छा के विरुद्ध हो। पत्नी की बात को वे विशेष महत्त्व देते थे और यही कारण था कि अल्प आय और संघर्षमय जीवन के दिनो मे भी उन्हे घरेलू शाँति का पूर्ण लाभ सदैव प्राप्त होता रहा। उनका सद्व्यवहार पत्नी के प्रति ही न था वरन् नारी-मात्र के प्रति उन्हें विशेष सहानुभूति थी। कवींद्र रवींद्र के लेख 'काव्येर उपेक्षिता' (काव्य की उपेक्षिताएँ) ने उनकी इस सहानुभूति की भावना को और अधिक प्रोत्साहित किया। परिणाम यह हुआ कि सन् 1908 में 'सरस्वती' के जुलाई अंक मे भुजंग भूषण भट्टाचार्य छद्म नाम से 'कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता' लेख लिख डाला। इस लेख का ही यह प्रभाव था कि मैथिलीशरण जी गुप्त और बालकृष्ण शर्मा नवीन ने साकेत तथा उर्मिला शीर्षक प्रबध काव्य लिखकर उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र को विशेष रूप से उभारा। इतना ही नही आगे चलकर गुप्त जी, बलदेवप्रसाद मिश्र, सोहनलाल द्विवेदी आदि कवियो ने यशोधरा, माडवी, तिष्यरक्षिता जैसे अन्य अनेक नारी पात्र लेकर उनकी भावनाओं का चित्रण सहानुभूतिपूर्वक किया। एक प्रेरणा का प्रभाव कितना व्यापक हो सकता है, यह उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है।

● ● ●

बाईं ओर से— (खडे) द्विवेदीजी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, (बीच मे कुर्सी पर बैठे) आ० द्विवेदीजी (गोद मे उनकी छोटी भानजी कुमारी विद्यावती), (किनारे खडी) द्विवेदीजी की बडी भानजी कुमारी कमलावती (स्वर्गीया) सवत 1974—(सन् 1917)

पीछे की पंक्ति मे खडे (बाई ओर से) द्विवेदी जी की भानजी श्रीमती विद्यावती देवी, द्विवेदी जी के भानजे श्री कमलाकिशोर त्रिपाठी, श्री कमलाकिशोर जी की पत्नी श्रीमती राधा देवी ।

बीच की पंक्ति मे कुर्सी पर बैठे (बाई ओर से) द्विवेदी जी की चचेरी बहन लक्ष्मीदेवी, (उम्र 90 वर्ष), आचार्य द्विवेदीजी, उनकी गोद में श्रीमती विद्यावती का पुत्र इन्द्रदत्त (उम्र सात मास) लक्ष्मी देवी की निवासी (लडकी की लडकी) दुलारी देवी ।

नीचे की पंक्ति मे, बैठे हुए (बाई ओर से) श्री कमलाकिशोर जी के साले की लडकी रानी देवी, श्रीमती विद्यावती देवी का लडका रुद्रदत्त, श्री कमलाकिशोर जी की लडकी मनोरमा ।

वत्सल पिता

कुंतल गोयल

"संपादक, विद्वान्, आचार्य द्विवेदी को सारा ससार जानता है परतु सहृदय, वत्सल पिता को कितने लोग जानते हैं। निश्चय ही सपादक द्विवेदी से पिता द्विवेदी अधिक महान था।" हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दो में द्विवेदी जी का यह परिचय अधिक ठीक है। द्विवेदी जी ने अपने सत् उद्योग, लगन और उत्साह से भाषा का भडार जितना समृद्ध किया था उनका अपना जीवन-भंडार उतना ही वेदना, अशांति संघर्षों और अभावो से परिपूर्ण था। साहित्य के इस महापडित पर सरस्वती की जितनी कृपा थी, लक्ष्मी की उतनी ही क्रूर दृष्टि थी। तेरह वर्ष के इस सुकुमार बालक को शिक्षा प्राप्ति के लिए अत्यत कठोर तप करना पड़ा था तभी उनकी साधना सफल हो सकी थी। बचपन का समय उनके कष्टो का समय था। किशोरावस्था में अपने परिश्रम से ही उन्होंने विविध भाषाओं का ज्ञान अर्जित किया। फिर जीवनयापन की कठिनाइयों को हल करने के लिए उन्हें नौकरी में लग जाना पडा पर मन न लगने से उन्हें दूसरी नौकरी के द्वार देखने पडे। रेलवे में सिग्नलर से लेकर तार बाबू, टिकट बाबू, स्टेशन मास्टर, टेलीग्राफ इंस्पेक्टर तथा ट्रेन के प्रधान निरीक्षक तक वे रहे। पर किसी भी नौकरी में वे अपनी रुचि का सामंजस्य नहीं कर सके। यह तो हिंदी का ही सौभाग्य था कि उनकी अशाति और असतोष ने सरस्वती की अर्चना कार्य में तृप्ति पाई और आजीवन वे सरस्वती माता की सेवा में तल्लीन रहे।

बाह्य जगत में द्विवेदी जी जितने कठोर थे अपने अंतर्जगत में वे उतने ही भावप्रवण, कोमल और स्नेहिल थे। उनका विवाह किशोरावस्था में हुआ था। पत्नी को उन्होंने सच्चे अर्थों में जीवन संगिनी,

सहधर्मिणी माना। पत्नी के प्रति अटूट स्नेह था उनके हृदय मे। उनकी सलाह का वे आदर करते थे, पत्नी प्रेम का एक प्रसग अत्यत मनोरजक है.

द्विवेदी जी की स्त्री की एक सखी ने कहा कि द्वार पर पूर्वजो द्वारा स्थापित महावीरजी की मूर्ति पडी है उसके लिए पक्का चवूतरा वन जाता तो अच्छा होता। चवूतरा वनवाकर उनकी स्त्री ने महावीर शव्द की शिलष्टता का उपयोग करते हुए कहा कि तुम्हारा चवूतरा मैने वनवा दिया। सहृदय और प्रत्युत्पन्नमति द्विवेदी जी ने तत्काल उत्तर दिया —तुमने हमारा चवूतरा वनवा दिया है। मै तुम्हारा मदिर वनवाऊँगा। हास्य की इस वाणी ने आगे चल कर यथार्थ का रुप धारण किया।

आचाय द्विवेदी की पत्नी

सयोग ही समझिए गगा स्नान करते समय एकाएक वे जलमग्न हो गईं। द्विवेदी जी को पत्नी के इस आकस्मिक वियोग से दारुण दु ख हुआ और उन्होने अपने पावन प्रेम का स्मारक स्मृति-मदिर वनवाया। सरस्वती और लक्ष्मी की दो मूर्तियाँ जयपुर से मँगवाई गईं और लगभग एक सहस्र रुपया लगाकर एक शिल्पी के द्वारा पत्नी की एक सुदर मूर्ति वनवाई। स्मृति-मदिर में सरस्वती और लक्ष्मी की मर्तियो के मध्य पत्नी की मूर्ति स्थापित की गई। द्विवेदी जी के इस कार्य की लोगो ने खूव निंदा की, उन पर फब्तियाँ कसी, उपहास किया, गालियाँ तक दी पर इसका उन पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ा। वे तो सच्चे एकनिष्ठ पत्नी-प्रेमी थे। पत्नी का विछोह उन्हें जीवन भर सालता रहा पर उन्होने उसे कभी प्रगट नही किया। पारिवारिक सुख के इस अभाव के कारण अपने कुटुवियो को उन्होने वडी आत्मीयता से अपनाया और सव के सुख के लिए वे सदैव सहयोगी रहे।

अपने जीवन-काल में वे गाँवो मे भी वहुत रहे। ग्रामीण जनो के लिए उनके हृदय मे असीम स्नेह था। उनके हितो का उन्होने सदैव ध्यान रखा। गाँव की उन्नति से ही देश की उन्नति सभव है, इसे ध्यान में रखके गाँव में उन्होने अस्पताल, डाकखाना वनवाया, आमो के वगीचे लगवाए और ग्रामीणो को शिक्षित वनाने का उद्देश्य सम्मुख रखा।

धन का लोभ उन्हे कभी नही हुआ। अनौचित्य और अन्याय के लिए भी उनके पास स्थान नही था। निष्कपट और निरभिमान द्विवेदी जी अशिष्ट, कृत्रिम और स्वार्थी, दम्भी, मिथ्या प्रशसा के घोर विरोधी थे। इन सव के लिए वे वड़े कठोर थे। वे कभी किसी के सामने नही झुके, अपने आदर्शो की अवहेलना उन्हे असह्य थी और इसके लिए कभी-कभी उन्हे वडी कठिनाई का सामना भी करना पडा है।

वे अनुशासन प्रिय थे। प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित देखने के आकाक्षी थे। इसका प्रमाण निम्न प्रसग से आसानी से मिलता है—वे सदैव अपने कमरे को स्वय साफ़ किया करते थे। अपनी पुस्तको, अपनी प्रत्येक वस्तुओ को वे व्यवस्थित, स्वच्छ तथा निश्चित स्थान पर रखते थे। एक वार अपनी पत्नी को थाली मे रखे पदार्थो का नियमित क्रम भंग करने पर आक्षेप किया था। अपनी पुस्तको का वे इतना ध्यान रखते थे कि एक वार कौशिक जी को रवीद्रनाथ की गल्पो का सग्रह देते हुए उन्होने कहा था—

"इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तको मे कही कलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पडने दीजिएगा और न पृष्ठ मोडिएगा। "

उन्होने जो कुछ किया वड़ी निष्ठापूर्वक किया। उन्हें न कभी पद और प्रतिष्ठा का मोह हुआ और न कभी कीर्ति का लोभ। निंदा और प्रशसा की भी उन्होंने कभी परवाह नही की। वे शांति और सुख दूसरो के सुख और सेवा में पाते थे। उन्होने लिखा है—'जव वदालु चमार की जूडी उतर जाती है तव मैं समझता हूँ मुझे कैसरे हिंद का तगमा मिल गया'। गरीवो के प्रति इतना स्नेह और किसे होगा?

जीवन भर उन्होने कष्ट सहा इसीलिए दूसरो के कष्टो को भी वे समझ सके। विपम परिस्थितियो मे उन्होने कभी अपने दृढ सकल्प, अध्यवसाय और विश्वास को कुठित नही होने दिया और गरीबी की उस सतान ने साहित्य ससार की वागडोर अपने सुदृढ हाथो में थाम वड़ी शान से शासन किया। साहित्य जगत की आँधियाँ, आपत्तियाँ और प्रखर आलोचना उन्हे कभी अपने मार्ग से विचलित न कर सकी।

द्विवेदी जी की साहित्यिक कठोरता को ध्यान मे रखने वाले भाषा के प्रति उनके अनन्य प्रेम को कम ही जानते हैं। अपनी मातृभाषा हिंदी के प्रति वे तन-मन-धन से निछावर थे। अपनी मातृभाषा के प्रति लोगो की उदासीनता सहने के लिए वे कदापि तयार नही थे। ऐसे व्यक्तियो पर उनके व्यग-वाण वडी कठोरता से चले हैं—

"समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नही करता अथवा उससे अनुराग नही रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जाति द्रोही है किंवहुना वह आत्म द्रोही और आत्महता भी है।" अपनी भाषा की उपेक्षाकर दूसरी भाषा को अपनाने वालो को भी उन्होंने नहीं छोडा है—

"अपनी माँ को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा मे छोड कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा सुश्रूषा में रत रहता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए। इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तव ही कर सकता है।"

अपनी भाषा, अपने देश, अपने समाज, अपनी जाति का ऐसा हितैषी, कर्तव्यनिष्ठ अनन्य उपासक और सच्चा सुधारक महामानव और कौन होगा!

जीवन की साँध्य-बेला में !

अमरबहादुर सिंह 'अमरेश'

"आप अपना जीवन चरित्र क्यो नही लिखते ?"

आचार्य द्विवेदी जी ने उक्त प्रश्न सुनते ही शीश ऊपर उठाया। व्यथा से उनका सपूर्ण शरीर तड़प रहा था। फिर भी मुख-मडल पर वही आभा और वही स्वाभिमान विद्यमान था जो यौवन के दिनो में था। प्रश्न ने द्विवेदी जी को झकझोर-सा दिया था। उन्होने करवट वदल कर प्रश्न-कर्त्ता की ओर देखा। श्री यज्ञदत्त जी का हृदय डोल उठा। उन्होने अपनी निगाहे झुका ली। वे द्विवेदी जी से आँख न मिला सके। द्विवेदी जी यथावत् कुछ देर तक श्री यज्ञदत्त जी को देखते रहे फिर गभीर मुद्रा मे बोले—"मेरी जीवनी मे क्या रखा है ?"

उस समय द्विवेदी जी अत्यधिक वीमार थे। काल का कराल-चक्र चल रहा था। मृत्यु धीरे-धीरे अपना काला-आँचल फैलाती हुई वढ़ी आ रही थी। हिंदी-साहित्य का महारथी शीघ्र ही उसकी गोद मे जाने वाला था। आगत आशकाओ से ही भयभीत होकर श्री यज्ञदत्त जी ने द्विवेदी जी से उक्त प्रश्न करने का दुस्साहस किया था। वे यह वात जानते थे कि आचार्य जी अपना जीवन-चरित्र स्वय तो लिखेंगे नही, फिर भी यदि किसी प्रकार राजी हो जाएँ और चारपाई पर पडे ही पडे वोलते चलें तो वह उनकी आत्म-कथा लिख डाले। यह कार्य यदि अभी न हो सका तो कभी भी न हो पाएगा। जीवन भर इसका अभाव खटकता रहेगा। अभी अवसर है। यही सोच कर उन्होने पुनः प्रश्न किया·

"यदि आप न लिखे तो मुझे ही वतलाते जाएँ, मै लिखता जाऊँ।"

"क्यो ? "द्विवेदी जी ने पुनः प्रश्न किया। जव तक श्री यज्ञदत्त जी कुछ उत्तर दे कि उन्होने स्वयं पूछा—"क्या मरने के वाद लोग किसी की जीवनी नही लिखते ?"

इस प्रश्न से श्री यज्ञदत्त जी निरुत्तर हो गए। किंतु वह हार मानने वाले भी नही थे। उन्होने कहा—"मैं आपकी जीवनी स्वय लिखना चाहता हूँ, मुझे सामग्री दीजिए।"

आचार्य जी इतना सुनते ही वरस पड़े—"तुमने कभी कोई छोटी-मोटी पुस्तक भी लिखी है ? जीवनी क्या लिखोगे ? वीछी का मत्र न जाने, साँप के विल में हाथ घुसेडे।"

आज ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी की आत्मकथा वास्तव में साँप का विल ही था। उसी विल में हमारे 'भुजग भूषण' का निवास था। उस विल की गहराई का पता ही नही चलता और साधारण आदमी का यह काम भी नही है कि उसका पता लगाकर उनकी आत्मकथा लिख सके। इस घटना के थोड़े दिनो वाद ही द्विवेदी जी पुन. वीमार पड़े। इधर कई वर्षो से उनका स्वास्थ्य खराव चल रहा था। कुछ तो जीवन की चिंताएँ और कुछ साहित्यिको का प्रहार, दोनो ने मिल कर उन्हें जर्जर कर डाला था। अनेक वार वह मृत्यु के मुँह से निकल चुके थे। किंतु अव शरीर काफी जर्जर हो गया था। लौकी की तरकारी, दलिया और थोड़ा-सा दूध ही उनका भोजन था। दवाइयो पर उन्हे वहुत ही कम विश्वास था। प्राकृतिक-चिकित्सा से ही वे जीवन की छोटी-मोटी बीमारियो को दूर करने के अभ्यासी थे। समय की पावदी, स्वल्पाहार एव प्राकृतिक-चिकित्सा ने ही उन्हे इतना जीवन प्रदान किया था। वुढापे मे ज्यो-ज्यो उनका स्वास्थ्य गिरता गया, स्मरण शक्ति भी क्षीण होती गई। ऐसी स्थिति में भी वे लिखने-पढ़ने तथा अन्य कार्य करने मे आलस्य न दिखाते थे।

अक्तूवर सन् 1938 में उनकी वीमारी अत्यधिक वढ गई। दिन में तीन-चार वार शौच के लिए जाया करते थे। जलोदर भी हो गया था। साथ-ही-साथ सूखी खुजली भी। खुजली धीरे-धीरे इतनी वढ़ गई कि वे इससे तंग आ गए। पहले तो आयुर्वेदिक दवाएँ करते रहे। वाद मे होम्योपैथिक करने लगे।

कोई लाभ न हुआ। वह बढ़ती गई। दलिया, तरकारी भी वे नही खा सकते थे। खाते ही वमन कर देते। बडा ही कष्टप्रद जीवन चल रहा था। यही दशा उनकी अक्तूबर के अत तक चलती रही। ऐसी स्थिति मे भी वे पत्रो का उत्तर बराबर देते रहते। लोगो से मिलते रहते। बाते करते रहते। 20-10-38 को "हरिऔध" जी को उन्होने पत्र लिखा किंतु उस पत्र मे अपनी बीमारी का उल्लेख तक नही किया। खुजली दिन प्रतिदिन बढती ही गई। अत में विवश होकर उन्होने अपने निकट सबधी एव रायबरेली के प्रसिद्ध डाक्टर शकरदत्त जी अवस्थी को पत्र लिखा। द्विवेदी जी का यह अतिम पत्र था। इसके बाद उन्होने लेखनी नही उठाई। यह पत्र अत्यत मार्मिक एवं हृदय विदारक है। पढते ही आँखो मे उनके जीवन का दुखद चित्र झूम उठता है। स्व० डा० शकरदत्त जी के पास यह अतिम पत्र एक अमूल्य निधि की भाँति सुरक्षित था। उन्ही के पास से मैंने उसकी प्रतिलिपि ली थी। आज अपने पाठको एव हिन्दी जगत के समक्ष द्विवेदी जी का यह अतिम पत्र रखते हुए मेरी आँखें सजल हो रही है।

पत्र यों था

दौलतपुर,
रायबरेली,
7-11-38

श्रीमान अवस्थी जी को,

सादर प्रणाम।

आपका तारीख 4 का कार्ड आज अभी सुबह मिला। मेरी हालत अच्छी नही है। अगर कमला किशोर दो-एक दिन बाद आएँ तो उनके साथ कृपा करके चले आइए। मुझे देख लीजिए। दो-एक दिन रहिए। पेट छाती वगैरा की हालत का पता लगाने वाले यत्र जो आपके पास हो लेते आइएगा। कुछ दवाएँ भी। खुजली के लिए कानपुर के डाक्टर रामनारायण वर्मा ने वैद्यो की भी सलाह से शुद्ध गंधक बनाया था। वह कई रोज खाया, कुछ लाभ नही हुआ। 'मरिचादि-तेल, काशीसादि-घृत' ने भी कुछ काम नही किया। कारबोलिक एसिड और तेल भी बेकार गया। अब सिर्फ सरसो का तेल मलता हूँ।

मेरी खुजली किसी आतरिक विकार का फल मालूम होती है। दो हफ्ते से दलिया-तरकारी भी नहीं खा सका। एक भी ग्रास पेट मे जाते ही कै हो जाती है। सुबह, दोपहर, शाम को जरा-सा दूध मुनक्के पडा हुआ लेता हूँ। वह भी बेमन। उसे भी देखते ही जी मचलाता है। जान पडता है मुझे जलोदर हो रहा है। पहले दिन में 3, 4 घूँट पानी पीता था। अब प्यास बहुत बढ गई है। पेट बेतरह फूला रहता है। बहुत भारीपन मालूम होता है। उठना-बैठना मुहाल है। चलना-फिरना बद है। पेट गडगड़ाया करता है। पेशाब सुर्ख होता है। पाखाना ठीक-ठीक नही होता। लेटे बैठे रहने से कम, खडे होने से तथा चलने फिरने से पेट का भारीपन बढ जाता है। यहाँ के वैद्य कुछ नही कर सकते। शाम सुबह त्रिफला का चूर्ण खिलाते है।

कृपापात्र
म० प्र० द्विवेदी

पत्र पाते ही डाक्टर शकरदत्त जी रायबरेली से दौलतपुर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने आचार्य जी की स्वास्थ्य परीक्षा की। पेशाब बहुत कम पड गया था। यद्यपि उसमे अल्बुमिन एव सुगर नहीं जाती थी फिर भी यूरेट बहुत कम जाते थे। पेट में पानी आ गया था। 15 नवबर तक डाक्टर चिकित्सा करते रहे। कोई विशेष लाभ नही हुआ। अत मे विवश होकर उन्होंने द्विवेदी जी को रायबरेली ले जाना उचित समझा। 16 नवबर को डाक्टर साहब श्री कमला किशोर जी को साथ लेकर रायबरेली गए। वहाँ मोटर का प्रबध किया और दूसरे ही दिन मोटर लेकर रायबरेली से पुन. दौलतपुर गए। 18 नवबर को द्विवेदी जी सदा-सर्वदा के लिए दौलतपुर छोडकर रायबरेली की ओर चल पडे। दौलतपुर से रायबरेली तक

मार्ग कच्चा था। स्थान-स्थान पर गड्ढे थे, खाँचे थे। वैलगाड़ियो के पहियो से धूल उभर आई थी। इस दुर्गम पथ में द्विवेदी जी का सारा शरीर झकझोर उठा। 'लोन नदी' पार करते समय तो वे चीख उठे थे। जव मोटर गड्ढो मे पडती तो कराह उठते। किसी प्रकार सायंकाल चार वजे रायवरेली पहुँचे। यहाँ पहुँचते ही सभी ने सतोप की साँस ली। द्विवेदी जी ने आह भरते हुए कहा—"जीवन में इतना कष्ट कभी नही उठाया"।

रायवरेली पहुँचने पर डा० शकरदत्त जी के घर में द्विवेदी जी रुके। दूसरे ही दिन से यहाँ के सिविल सर्जन डाक्टर जैन तथा व्यक्तिगत चिकित्सक डा० डे का इलाज प्रारभ हुआ। किंतु कोई लाभ नही हुग्रा। कप्ट वढता ही गया। जलोदर अव उग्र रूप धारण कर चुका था। 4 दिसवर को डाक्टर जैन ने पेट से पानी निकाला। 5, 6 सेर पानी निकला। थोडा-सा लाभ हुआ। भूख भी लगी। फलो का रस दिया गया। इस पर भी स्वास्थ्य पर कोई प्रभाव नही पडा। वह क्षीण ही होता रहा। कानपुर के डाक्टर रामनारायण वर्मा जी को वुलाया गया। वे ही द्विवेदी जी के पुराने चिकित्सक थे। किंतु इस वार उनकी भी औपधियाँ वेकार गईं। उन्होने अपना कोई चमत्कार न दिखाया। डा० वर्मा भी विवश हो गए। धीरे-धीरे मौत का खूनी पजा वढता गया। द्विवेदी जी रह-रह कर वेहोश होने लगे। लोगो की चिंता वढी। डाक्टरो का दल परेशान हो उठा। जीने के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नही हो रहे थे। डाक्टर शकरदत्त जी ने दुखी मन से द्विवेदी जी से पूछा—"क्या आप दौलतपुर जाना चाहते हैं"।

यह प्रश्न सुनते ही आचार्य जी के नयन छलछला उठे। शरीर में रोमाच-सा हुआ। कुछ चेतना जगी। उन्होने अपने शरीर की सपूर्ण पीडा समेट कर वहुत दृढ शब्दो में उत्तर दिया—"दौलतपुर में क्या धरा है, जो वहाँ जाऊँ। मैं अव कही आऊँ-जाऊँगा नही। जो होना है वह अव यही होगा। यह मेरे प्रस्थान का समय है।" उनके इस उत्तर से सभी का अतस् डोल उठा। 19 दिसवर को वेहोशी अधिक वढ गई। डाक्टर वद्रीप्रसाद जी होम्योपैथ ने कुछ दवाएँ दी। देखा भाला। यथा-शक्ति उपचार किया। किसी प्रकार दिन तो वीत गया। रात मे उनका कप्ट और वढा। रात भी वीती। प्रभात हुआ। 20 दिसवर, 1938 का यह प्रभात उनके जीवन का अतिम प्रभात था। पेट मे वहुत पानी आ गया था। रह-कर कर वेहोशी वढ रही थी। दर्द भी वढा और धीरे-धीरे जीवन का दीप भी वढने की तैयारी करने लगा। साँझ हुई, पेट वहुत ही फूल आया था। साँस की गति वदल चली थी। सव लोग आशका से चारपाई के निकट वैठे थे।

अर्धरात्रि वीत चली थी। वेहोशी अव तक वैसी ही थी। सभी प्रकार के उपचार कर, डाक्टर थक गए थे। क्षण-क्षण में हिचकियाँ आ रही थी सव लोगो की आँखो में आँसू आ गए। डाक्टर शकरदत्त जी ने नाडी की गति देखी। वह काफी क्षीण हो गई थी। डाक्टर साहव ने उदास मन से एक वार परिवार के लोगो की ओर देखा। सभी उपस्थित व्यक्ति डाक्टर साहव के चेहरे पर अकित भाव पढकर आकुल हो उठे। ठीक चार वजे के वाद द्विवेदी जी को एक हिचकी आई, उसी हिचकी के साथ मुख से कुल्ला भर पानी गिरा और जो समय उनके दैनिक जीवन मे प्रात काल जगने का था, ठीक उसी समय पर वे सदा-सर्वदा के लिए सो गए। प्राण-पखेरु उड गए थे। 'आत्माराम' का केवल पिंजडा पडा था।

प्रभात हुआ। द्विवेदी जी का शव मोटर द्वारा रायवरेली से दौलतपुर लाया गया। मृत शरीर पर एक वार पुन. जन्मभूमि के रजकण पडे। दौलतपुर क्या, चारो ओर कुहराम मच गया। सहस्र नर नारी, आवाल-वृद्ध रोते-चीखते, चिल्लाते अपने सुख-दुख के साथी के अतिम दर्शन करने दौड पडे। तीसरे पहर सुरसरि के पावन तट पर हिंदी साहित्य के भीप्म-पितामह, लेखको के पथ-प्रदर्शक, कवियो के निर्माता, पत्रकारो के महान् पत्रकार एवं पचायतो के प्रथम सरपच का भौतिक शरीर जलकर झार हो गया। चिता की लपटें वुझ गईं। केवल राख का ढेर शेप रह गया। 21 दिसवर, 1938 का दिन हिंदी साहित्य एवं पंचायतो के इतिहास में वज्रपात का दिन है। ●

कृतित्व

गद्य

हिंदी के वरद पूत

श्री० दा० सातवलकर

निबध या प्रबध लेखन साहित्य का एक प्रमुख अग माना जाता है । आख्यायिकाओं और उपन्यासों के इस युग मे भी यह स्वीकार किया जाता है कि विचारो को व्यक्त करने की सबसे स्पष्ट शैली निबध की ही है। व्यक्तित्व की झलक दिखाने के लिए पाश्चात्य साहित्यकारो ने भी इसको सुदरतम माध्यम माना है। कहानी या उपन्यास की वस्तुप्रधान व्यजनाशैली की अपेक्षा निबध की व्यक्ति प्रधान अभिधा शैली (Subjective Art) ज्यादा प्रभावोत्पादक होती है।

इस प्रकार की शैली के उन्नायको मे पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सर्वतोपरि अकित किया जा सकता है। इनकी भाषा इतनी मधुर और स्निग्ध होती थी, कि चाहे कैसा भी गभीर विषय हो, उसे अपने सरल शब्दो का जामा पहना कर इस प्रकार प्रस्तुत करते थे कि वह गभीर विषय भी पाठक बड़ी ही रुचि से हृदयगम कर लेते थे। उनकी भाषा कोमल कात पदावलि से युक्त होती थी।

श्री द्विवेदी जी की प्रतिभा का क्षेत्र विशेषकर निबध लेखन ही रहा है। पर उन निबधों के द्वारा हिंदी भाषा को जो गौरव प्रदान किया, वह अतुलनीय है। कई पत्र-पत्रिकाओ के सपादक-पद पर कार्य करते हुए अपनी रचनाओ से उन्होने हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि की। प्रयाग से प्रकाशित होने वाले 'सरस्वती' मासिक-पत्र के सपादन का कार्य भी उन्होने कई वर्षो तक किया।

किसी विषय की गहराई मे पूरी तरह उतर कर ही वे उस विषय पर लेखनी चलाते थ। स्वय कवि न होते हुए भी अपने प्रबध 'कवि और कविता' मे उन्होने कविता का जो सूक्ष्म विवेचन किया है वह किसी कवि के विवेचन से भी बढकर है।

मैं भी उनके सपर्क मे एक दो बार आया। यो तो उनके लेखन एव साहित्यिकता से मैं पूर्व ही परिचित था, और उनके लेखो को पढा भी करता था। उनके लेखो को पढकर मेरा विचार श्री द्विवेदी जी के बारे में ऐसा बन गया था कि श्री द्विवेदी जी अपने व्यावहारिक जीवन मे भी अवश्य ही बडे गभीर होंगे। पर उनके सपर्क में आने पर मुझे ज्ञात हुआ कि लेखो के द्विवेदी और व्यक्तिगत जीवन के द्विवेदी एक न होकर सर्वथा अलग-अलग है। मेरा कहने का तात्पर्य यह कि लेखो मे द्विवेदी जी जितने गभीर एव प्रौढ दिखाई देते थे, उतने ही अपने व्यक्तिगत जीवन मे वे हँसमुख और बालहृदयी थे।

साधक के सामने अनेक कठिनाइयाँ रहती-ही है, पर सच्चा साधक वही है, जो उन कठिनाइयों को चीरता हुआ आगे बढता चला जाए। और आज से 40–50 वर्ष पहले जब हिंदी साहित्य का विकास अपने प्रारभिक स्तर पर ही था, हिंदी साहित्य के साधक की जीवन-कठिनाइयो का तो कहना ही क्या था? उपन्यास सम्राट मुशी प्रेमचद का जीवन आज भी तात्कालीन साधको के जीवन की परिस्थिति की याद दिलाता है। कुछ ऐसी ही कठिनाइयाँ द्विवेदी जी के सामने भी थी, पर क्या मजाल कि उनके चेहरे पर किसी ने शिकन भी देखी हो। परिस्थितियो से निपटने की कला मे श्री द्विवेदी जी पूरे माहिर थे। वे स्वय कहते थे कि "साधना पथ बडा ही सघर्षमय है, पर इसी सघर्ष की आग मे तपकर ही तो साधक का जीवन निखरता है। मैने हिंदी के लिए जब अपना जीवन ही अर्पित कर दिया है, तो फिर मैं इन सघर्षो से डरकर पीछे कैसे हट सकता हूँ?"

ऐसी थी द्विवेदी जी की साधना, उनका जीवन और उनका व्यक्तित्व। आज हिंदी-जगत की वैसी अवस्था नही रही, जैसी पहले थी, इसके बावजूद भी उस समय जैसा साहित्य हिंदी मे रचा गया, वैसा आज या अगले कुछ वर्षो मे भी रचा जा सके, इसकी सभावना कम ही दीखती है।

हिंदी जगत के उस तप पूत साधक की जन्मशती सब साहित्यस्रष्टाओं के लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हो और हिंदी भाषा के उद्धार के लिए सबको प्रेरणा मिले, यह हमारी अभिलाषा है।●

रसज्ञरंजनकार की भावुकता

प्रमिला शर्मा

वाल्टर पेटर के अनुसार शैली के दो पक्ष हैं (1) आत्मपक्ष (soul in style) एव (2) मानस पक्ष (mind in style)। शुक्ल जी के शव्दो में यही हृदयपक्ष या भावपक्ष तथा मस्तिष्क पक्ष या वुद्धि-पक्ष है—जिनका उचित सन्निवेश श्रेष्ठ निवध की प्रथम शर्त है। वौद्धिकता की नीव पर खडा निवध-प्रासाद उसी दशा में पाठक को अपनी अन्यतम मज़िल तक ले जाने में सफल होगा जव भावुकता रसात्मकता की आश्रयदायिनी शलाखें घुमावदार जीने के सग-सग लहराती चली गई हो। आचार्यप्रवर प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के नौ निवध 'रसज्ञ-रजन' में संकलित है जिनमें उनकी भावसप्रेपित शैली का उत्कृप्ट रूप देखने को मिलता है। काव्य के चारो तत्त्व—राग, वुद्धि, कल्पना, शैली, निवध में भी रहते हैं किंतु प्राधान्य वुद्धि तत्त्व सपृक्त शैली तत्त्व का ही होता है। विपय की दृप्टि से इसके सुदूरव्यापी क्षेत्र मे सभी तत्त्व अतर्मुक्त हो जाते है। निवध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाग्रो को सुगठित शैली सचित्र रूप में प्रस्तुत करने मे सक्षम होती है।

आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में 'वातो के संग्रह' (निवध सकलन) के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ऐसा लगता है कि लेखक वहुत मोटी अक्ल के पाठको के लिए लिख रहा है। प्राय: सभी आलोचक इस विपय में एकमत है कि द्विवेदी जी की शैली में, उग्र समालोचक होने के नाते समझिए या किसी भी कारण—प्रवाह की कमी है। एक ही भाव को वार-वार दुहराने के कारण रुक्षता तथा विपय के गाभीर्य को साधारण रूप में डाल देने की ओर रुझान दीख पडता है। किंतु उनके साहित्यिक निवधो के सर्वोत्तम सग्रह रसज्ञ-रजन को पढने से यह स्पप्ट हो जाएगा कि वस्तुत· तथ्य कुछ और है। नल का दुस्तर दूत कार्य और हस सदेश में एक ओर जहाँ आलकारिक वर्णन की विशेपता है वहाँ दूसरी ओर भावो की ऊहापोह और उच्चकोटि के शृगार रस का समुचित स्वाद मिलता है[1]। दमयती को खेदवती देखकर सखी उससे प्रश्न करती है—क्या वात है? क्या कारण कि यह अतर्कित आई हुई पियराई, कनक चपे के समान तेरी गौर काति को विगाड रही है? भावुक निवधकार की शैली अलंकारिकता-संपन्न है जिसने श्री-सुपमा को द्विगुणित किया है—"पर वेचारी दमयती को उस महाशीतल शय्या पर वैसा ही सताप हुआ, जैसा कि मार्त्तण्ड की प्रचंड किरणो से उत्पन्न हुए गढे में पडी हुई मछली को होता है।" (उदाहरण अलकार) ××× "तेरे कारण पचशर से पीड़ित किया गया कुवेर आँखे वद करके चद्र मौलि के पास से हट कर उसकी सखियो के पास चला जाता है। (अतिशयोक्ति अलकार) ××× दमयंती के ओष्ठ-वधुक रूपी धन्वा से वाणी के वहाने निकली हुई मन्मथ की पचवाणी (पाँचवाण) कानो की राह से नल के हृदय के भीतर धँस गई।" (रूपक)

[1]रसज्ञरंजन (भूमिका . जीवन परिचय प० 5, सस्करण 1949)

प्रेयसी के विलाप को सुनकर नल प्रलापावस्था मे अपने अवरुद्ध विचारो को व्यक्त करता है और आप देखे कि लेखक की भाषा-शैली कितनी आसानी से भावो की सतरगी चूनर लहराती है—"आँखो से आँसुओ की झडी वंद कर, मद मुस्कान रूपी कौमुदी को फैलने दे, मुख-कमल को विकसित होने दे, नेत्र खजरीटो को यथेच्छ विहार करने दे। बोल बोल, अपनी मधुमयी वाणी सुना कर मेरे मुरझाए हुए हृदय-पुष्प को फिर प्रफुल्लित कर दे। चद्रमा की निशा नारी के समान तू ही नल की एकमात्र प्राणाधार है।" 'बोल बोल' की पुनरुक्ति मे, अतिम पक्ति की उपमा मे मात्र अलकारिकता ही नही है अपितु वह विरह-विह्वल प्रणयी की सुकुमार भावनाओ की सफल अभिव्यक्ति है। साहित्यकार की आतरिक सवेदना उसके वैयक्तिक स्वातत्र्य की शर्त है और इसी के माध्यम से वह मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा कर पाता है।[2] और इस सदर्भ मे "कवियो की उर्मिला विषयक उदासीनता" निवध का स्मरण दिलाया जा सकता है जिसने मैथिलीशरण जी गुप्त की लेखनी को साकेत-धाम की ओर अग्रसर किया। 'मानिषाद' का अनुगम्यक जिसके प्रति अल्पादल्पतरा सवेदना तक प्रकट न कर सका। 'नानापुराण निगमागम सम्मत' रचना करने वाले तुलसी भी जिसके वहते आँसुओ को अनदेखा कर गए, करुणा के महाकवि भवभूति भी सीता के 'इयमप्यपरा का' ? के प्रश्न को लक्ष्मण के हाथ से चित्र ढका का ढका ही छोड गए—उनके प्रति निवधकार को अपर्प है। लेखक कुढकर अपने पाठको से प्रश्न करता है—"सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे वढ़ कर कोई युक्ति हो सकती है? युवको को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे अधिक वलवती और कोई आकर्षणशक्ति हो सकती है?" अमर्ष और आकुचित व्यग मर्मभेदिनी शक्ति सपन्न है।

अच्छी निवध-शैली मे व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व का सम्मिश्रण वाछनीय है।[3] और कहने की आवश्यकता न होगी कि उद्धृत प्रकरणो में, विषय में व्यक्तित्व मिलकर स्वय वोलने-सा लगा है और इसका कारण है उसके व्यक्तित्व का आवश्यक उपादान—'भावुकता'। मिडिल्टन मरे ने श्रेष्ठ शैली के लिए द्विधा कसौटी रखी है—"On the one hand it is a concentration of peculiar and personal emotion, on the other it is complete projection of this personal emotion into created thing"[4]

किंतु इसी स्थल पर हमें यह नही भूलना चाहिए कि भावुकता की भी सीमाएँ हैं। अतिवादिनी होकर यह 'भूषण' न रहकर 'दूपण' हो जाती है जैसा कि द्विवेदी जी के निवधो में अनेक स्थलो पर द्रष्टव्य हैं। गद्य साहित्य मे भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का भी एक विशेप स्थान है, यह तो मानना ही पडेगा पर जहाँ गभीर विचार और व्यापक दृष्टि अपेक्षित है, उसे घसीटे जाते देखकर दुख होता है। जिन विषयो के निरूपण मे सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार परपरा अपेक्षित है, उन्हे भी हवाई शैली पर हवा वताना कहाँ तक ठीक होगा।[5] कवि कर्त्तव्य, कवि वनने के सापेक्ष साधन, कवि और कविता, कविता इन चारो निवधो मे अनेक ऐसे स्थल है जहाँ निवधकार ने विषय को यो ही चलता कर दिया है। काव्य का रसास्वादन करते समय सहृदय सामाजिक आलोचक सामान्य मधुमति भूमिका मे पहुँच कर रसास्वादन करता है—उसका रचयिता के साथ तादात्म्य हो जाता है। काव्य का सत्य क्या होता है, किस प्रकार वह हमारी वृत्तियो को एकोन्मुखी वनाता है—इस गभीर विश्लेपण से पराङ्मुख होकर लेखक सीधे-साधे शब्दों मे कह देता है —

"हाय वाल्मीकि! जनकपुरी मे तुम उर्मिला को सिर्फ एक वार दिखाकर चुप हो वैठे जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीता देवी के साथ चलने लगे—जिस दिन उन्होने अपने पुरत्याग से अयोध्या नगरी को

---

[2] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ० 44, ले० डा० रघुवश।

[3] सिद्धात और अध्ययन, पृ० 233 (पचम सस्करण), डा० गुलावराय।

[4] The Problem of style, p 35 t, Middleton Murry

[5] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 235–36 (नवम सस्करण), आचार्य रामचद्र शुक्ल।

अधकार मे, नगर निवासियो को दु खोदधि मे और पिता को मृत्युमुख मे निपतित किया, उस दिन भी आपको उर्मिला याद न आई। उनकी क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी, सो कुछ भी आपने नही सोचा, इतनी उपेक्षा।" × × × × नवोढ़त्व को प्राप्त होते ही जिस उर्मिला ने रामचद्र और जानकी के लिए, अपने सर्वस्व सुख पर पानी डाल दिया उसी के लिए अतर्दर्शी आदिकवि के शब्द भडार में दरिद्रता ?

उन्हें तुलसी से शिकायत है जिन्होंने "गए लषण जहँ जानकि नाथा" कह कर उर्मिला के प्रकरण को टाल दिया। "अपने कमडलु के करुणावारि का एक बूद भी आपने उर्मिला के लिए न रक्खा। सारा का सारा कमडलु सीता को समर्पण कर दिया।" ऐसे स्थलो पर हमें ऐसा आभासित होता है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति एकाकार हो गई हो। अनुभूति जैसे प्रकाश राशि है और अभिव्यक्ति रगबिरगे काँच के टुकडो पर उसका विकिरण और यहाँ यह कहना अनावश्यक ही होगा कि प्रकाश की तीव्रता की भाँति काँच की निर्मलता भी रंगो और उनके प्रकाश विस्तार के लिए सहज काम्य है।[6] भाव को अपने अनुरूप भाषा मिल जाने से शैली में निखार आ गया है।

भावना केवल कविता की अनिवार्यता नही है प्रत्युत् वह साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में वाछनीय है। लेखक का स्व जब तक अपने को वैयक्तिक स्तर पर स्वर नही देता तब तक वह साहित्य नही होता, साहित्य तो वह है जो सराबोर जिंदगी है · वह तो तब आती है जब लेखक की स्वाभक्ति उसका अनुभव करती है।[7] द्विवेदी जी ने नायिका भेद की विषय-सामग्री का खूब सरस शैली मे विवरण प्रस्तुत किया है · · ·

"अब देखिए इस प्रकार की पुस्तको मे लिखा क्या रहता है। लिखा रहता है परकीया (पर स्त्री) और वेश्याओ की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यो के लक्षण और उदाहरण! परकीया के अतर्गत अविवाहित कन्याओ के पापाचरण की कथा!! पुरुषमात्र में पति बुद्धि रखने वाली कुलटा स्त्रियों के निर्लज्ज और निरर्गल प्रलाप!!!" "कमल के समान आँखें नही होती, कोकिला का-सा कठ किसी का नही होता, जो कुछ इसमें लिखा है झूठ है—इस प्रकार की बातें मन में आते ही कविता का सारा रस जाता रहता है। कविता में जो कुछ कहा गया है उसे ईश्वर वाक्य मान कर उसका रस लेना चाहिए।" कविता क्या है ? जैसे गभीर प्रश्न को "अत करण की वृत्तियो के चित्र का नाम कविता है" कह कर टाला-सा गया है या पाठक की बुद्धि पर अविश्वास कर सरलतम रूप दिया गया है। हमारा दैनदिन क्रिया व्यापार तक अत.करण की वृत्तियो का चित्राकन है—कविता किस प्रकार विशिष्ट सत्ता रखती है इसे निबधकार सहज रूप मे छोड गया है।

किंतु तत्कालीन परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य में मूल्याकन किए जाने पर निबधकार का लोहा मानना होगा। सामयिक दृष्टि से आलोचक, कवि और निबधकार की त्रिवेणी में अवगाहन करने वाले आचार्य द्विवेदी का हिंदी साहित्य अनुगत है। कौन जानता है कि रसज्ञ-रजनकार की यत्र-तत्र उभरती भावाकुल शैली ने ही प्रवाल, साधना (रायकृष्णदास) भावना, अतर्नाद (वियोगी हरि) ताजमहल, दिल्ली का लालकिला (डा० रघुवीर सिंह) का सूत्रपात नही किया ? सीमाओ मे बदिनी होने पर भी रसज्ञरजनकार की भाव प्रवणशैली सलज-सलज अवगुठिता के श्यामल नयनो के स्वप्नविहगम सी अद्यतन निबंध-साहित्य के प्रागण में विचरण कर रही है। ●

---

[6] प्राच्य साहित्य, ले० आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री।

[7] समीक्षा और आदर्श, ले० डा० रागेय राघव।

गद्यकाव्य के उन्नायक

हरिमोहनलाल श्रीवास्तव

गद्य काव्य की उद्भावना :

'गद्यकाव्य' शब्द की सृष्टि आधुनिक काल की अवश्य है, तथापि उसकी उद्भावना हिंदी-साहित्य में बहुत पहले देखी जा सकती है। अँग्रेजी प्रभाव को लेकर निर्माण पाने वाली 'उद्भ्रात प्रेम' और 'गीताजलि' नामक वगला कृतियो के द्वारा हिंदी-साहित्य में गद्यकाव्य के सूत्रपात की वात अव पुरानी पड गई है। वस्तुस्थिति के निष्पक्ष विवेचन से यह सिद्ध है कि गद्यकाव्य से हिंदी का परिचय उसकी जन्मदात्री भाषा सस्कृत के द्वारा हो चुका था। कालातर में इधर कुछ भुलावे के कारण काव्य के माध्यम के रूप में गद्य-साहित्य का सम्मान ऐसा न रहा। भारतेंदु-काल के कतिपय साहित्यिको ने अपनी गद्यात्मक रचनाओ में कवितागत सौंदर्य का यत्र-तत्र सुदर दिग्दर्शन किया है, परतु पद्य को ही कविता समझने की एक धारणा वन जाने के कारण वह सव गद्यकाव्य अनजान में रचित समझा जाता है, और इस कारण उसे अधिक महत्त्व नही दिया जाता।

द्विवेदी जी की बहुमुखी प्रतिभा :

हिंदी-साहित्य के उद्यान में प० महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रथम उद्यानपाल हुए हैं, जिन्होंने गद्य और पद्य को समान रूप से कविता का सदर्भ समझने वाली सस्कृत के उस आदर्श में खोया हुआ विश्वास जगाया, और इस प्रकार उनकी एक विशिष्ट सत्ता बनाते हुए गद्यकाव्य का योग्य प्रवर्त्तन किया। निवध और आलोचना, अनुवाद और सपादन जिस प्रकार द्विवेदी जी के आभारी हैं, उसी प्रकार हिंदी गद्यकाव्य भी उनका चिर ऋणी है। वस्तुत आचार्य द्विवेदी हमारे सामने कई रूपो में आते हैं, जिनमें समालोचक का रूप कुछ विशेषता रखता है। परतु समालोचना के साथ ही उन्होने कविता को भी सपन्नता प्रदान की, और यह वहुत अशो में दो विरोधी तत्त्वो का सुदर समन्वय है, जो आचार्य के व्यक्तित्व की एक वडी विशेषता है।

द्विवेदी जी केवल ग्रथकार न थे वे ग्रंथकारो के निर्माता भी थे। व्याकरण की त्रुटियो का परिहार और भाषा के स्वरूप की प्रतिष्ठा करते हुए वे भाषा की अर्थोद्घाटिनी शक्ति में सुदर वृद्धि एव अभिव्यजना-प्रणाली का नूतन प्रसार दिखा कर ही सतुष्ट नही हो गए, अपितु उन्होंने नए विषयो के समावेश को प्रोत्साहन दिया। अपनी शिक्षात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए आचार्य ने हिंदी-काव्य को भी एक दिव्य सदेश सुनाया है, जो एक कवि की अपेक्षा उपदेशक के निर्माता के रूप में उनका वढा हुआ महत्त्व सिद्ध करता है। कविता के प्रति उनके सबोधन में कवि का रूप कम आलोचक का रूप अधिक मुखरित है। गद्य के महत्त्व को पहचानते हुए उन्होने 'गद्य कवीना निकष वदन्ति' की स्मृति प्रतिष्ठा दिलाई, और इस महान् उपलब्धि में ही गद्यकाव्य के उन्नायक-रूप में आचार्य का अपना महत्त्व है।

काव्य-संबंधी धारणाएँ :

द्विवेदी जी संस्कृत-काव्य के कायल थे, और अपने इस आदर्श के अनुसार वे यह समझने के पक्षपाती थे कि गद्य और पद्य दोनो में ही कविता का प्रवाह संभव है। कविता की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है.—'[illegible]

की वृत्तियो के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन मे नही समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से वाहर निकलने लगते है, अर्थात् वे मनोभाव शब्दो का स्वरूप धारण करते है वही कविता है,—चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक' इस प्रकार द्विवेदीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि गद्य मे भी काव्य-धारा का प्रवाह पद्य की भाँति सहज और सभव है।

एक दूसरे कथन से भी उनके इस आशय की पुष्टि भली प्रकार होती है—जो वात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दो के द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पडे, उसी का नाम कविता है। हृदय को स्पर्श करने वाले इस काव्य को उन्होंने पद्य की नपी-तुली शब्द-स्थापना से कही अधिक श्रेष्ठता दी है। उनका कथन है —आजकल लोगो ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य मे वही भेद है, जो अँग्रेज़ी की पोइट्री (Poetry) और वर्स (Verse) मे है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरजक लेख, वात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरो का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढने या सुनने से चित्त पर असर नही होता, वह कविता नही। वह नपी-तुली शब्द स्थापना मात्र है।

कविता के प्रधान गुण :

द्विवेदी जी के मतानुसार मनोरंजकता (मनोरजन) और प्रभावोत्पादकता (प्रभावोत्पादन) कविता के प्रधान गुण है। अपने इन गुणो से विभूषित होने पर ही कविता का सच्चा महत्त्व है, और ये गुण पद्य तथा गद्य दोनो में मिल सकते हैं। अनुप्रास और छद, काफिया और वजन कविता के अनिवार्य गुण नही, ये गुण तो पद्य के लिए आवश्यक है।

द्विवेदी जी का मत है—'यह समझना अज्ञानता (अज्ञान) की पराकाष्ठा है कि जो कुछ छदवद्ध है, सभी काव्य है। कविता का लक्षण (अर्थात् प्रभावोत्पादन) जहाँ कही पाया जाए, चाहे वह गद्य मे हो चाहे पद्य में, वही काव्य है। लक्षण-हीन होने से कोई भी छदोवद्ध लेख काव्य नही कहलाए जा सकते, और लक्षण-युक्त होने से सभी गद्य-वध काव्य-कक्षा मे सन्निविष्ट किए जा सकते है। द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है कि अलकार और छद के समावेश से कविता का आकर्पण कुछ वढ जाता है, तथापि इनकी खोज में कवि के विचार-स्वातत्र्य को वाधा पहुँचने की वे सच्ची सभावना देखते हैं। एक दूसरे स्थान पर उनका कथन है—कवि का काम है कि वह अपने मनोभावो को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता मे विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट नही करने देते। काफिया और वजन को पहले ढूँढ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पडते है, इसका मतलव यह हुआ कि प्रधान वात अप्रधान हो जाती है, और एक वहुत ही गौण वात प्रधानता पा जाती है।

गद्यकाव्य को योग :

व्रजभाषा काव्य की परिधि से हिंदी कविता को निकाल कर एव उसे खडी वोली का प्रचलित रूप देकर भी आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्यकाव्य के सृजन मे सीधा योग दिया। उनका मत था कि वोलचाल की भाषा से कविता का दूर जा पड़ना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, और इस व्यतिक्रम से भाषा की उन्नति रुक जाती है, गद्य के प्रवल सस्कारो का पद्य पर अनिवार्य प्रभाव सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है —"गद्य की इस समय उन्नति हो रही है। अतएव अव यह सभव नही कि गद्य की भाषा का प्रभाव पद्य पर न पडे। जो प्रवल होता है, वह निर्वल को अवश्य अपने वशीभूत कर लेता है। यह वात भाषा के सवध में भी तद्वत् पाई जाती है।"

द्विवेदी जी के काव्य-सवंधी उपर्युक्त विचारो की गवेपणा करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके ये विचार गद्य-काव्य का जितना हित-सपादित करते है, उतना पद्य-काव्य उनसे लाभान्वित नही होता। काव्य-जगत मे एक नया साथी मिल जाने के अतिरिक्त पद्य को कुछ विशेष लाभ नही। निश्चय ही द्विवेदी जी ने विचारो की इस परंपरा के द्वारा गद्यकाव्य के आविर्भाव के लिए साहित्य-ससार में एक नवीन जागृति की। अपनी इस अनूठी विचार शैली के फलस्वरूप उन्होंने उद्भ्रात प्रेम और गीताजलि से कुछ पहले ही हिंदी-साहित्य में गद्यकाव्य का व्यवस्थित स्वरूप दिखा दिया। उनके समकालीन सरदार पूर्णसिंह, वावू व्रजनंदन सहाय प्रभृति लेखको के गद्य में काव्य का जो उन्माद विखर रहा हैं, उसके श्रेय का एक वड़ा अश निस्सदेह द्विवेदी जी को है।

द्विवेदी जी स्वय गद्य-काव्य-रचना की ओर ऐसा ध्यान नही दे सके। इसका कारण उनकी वह शिक्षात्मक पद्धति रही, जिसके अवलवन ने उन्हें युगप्रवर्तक की गौरव-पूर्ण पदवी से विभूपित किया। गद्य काव्यात्मक अभिव्यजना की चिंतित विरलता के होते हुए भी आचार्य द्विवेदी जी की रचना-शैली उससे शून्य नही, और वह जो कुछ है, वह गद्य-काव्य के क्षेत्र में अपने विशिष्ट स्थान की अधिकारी है —

कविता-रूपी सडक के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले वहते हो, दोनो तरफ फलो-फूलो से लदे हुए पेड हो, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान वने हो, प्राकृतिक दृश्यो की नई-नई झाँकियाँ आँखो को लुभाती हो।

भाव में सौंदर्य और कोमलता, अनुभूति मे सच्चाई और शक्ति एव भापा मे लय और सौष्ठव, अर्वाचीन गद्य-काव्य के अपने लक्षण है, और इनसे वढकर आवश्यकता उसके लिए कवि के अज्ञात की भावपूर्ण व्यजना है। द्विवेदी जी का उक्त गद्य-वध इन सव आवश्यकताओ की पूर्ति एक साथ भले ही न करे, तथापि उसमें विशेष शैली का जो थोडा आभास है, वह उसकी योग्यता सर्वथा प्रमाणित करता है। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण है —

कही कोई नायिका अँधेरे में यमुना के किनारे दौडी जा रही है, कही कोई चाँदनी ही के रग की साडी पहन कर घर से निकल किसी लता मडप में वैठी हुई किसी की मार्ग-प्रतीक्षा कर रही है, कही कोई अपनी सास को अधी और अपने पति को विदेश गया वतला कर द्वार पर आए हुए पथिक को रात भर विश्राम करने के लिए प्रार्थना कर रही है, कही कोई अपने प्रेम-पात्र के पास गई हुई सखी के लौटने में विलव होने से कातर होकर आँसुओ की धारा से आँखो का काजल वहा रही है।

आचार्य की झुझलाहट दिखाने वाला यह गद्याश केवल स्मृति पर आघात पहुँचाकर एव कल्पना को उकसा कर गद्यकाव्य के रूप मे सतोष प्रदान करता है। सस्कृत-साहित्य के अमूल्य रत्नो को हिंदी-माता को भेट करते हुए भी द्विवेदी जी ने गद्यकाव्य के भडार मे पर्याप्त वृद्धि की है, किंतु उस समय तक गद्यकाव्य की एक स्वतन्त्र सत्ता निर्धारित न होने के कारण उनमें ऐसी पूर्णता दृष्टिगोचर नही होती। और यह किसी प्रकार द्विवेदी जी के आभार को कम करने वाली वात नही।

संमिलित स्वरूप से साहित्यिक मापदंड :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर कहा है —"यद्यपि उनकी भापा में का वौद्धिक उपकरण, भावावेशमूलक उपकरण से कही अधिक था, पर जिस युग मे वे पैदा हुए थे, उस युग के लिए यह कमी गुण हो गई। × × × और आचार्यों ने जहाँ अन्य विपयो से साहित्य के भडार को भरा, वहाँ द्विवेदी जी ने भापा को मांज-घिसकर उपयुक्त वनाने में सवसे अधिक परिश्रम किया।" यह भी ध्यान देने योग्य वात है कि जिस समय उन्होंने आलोचना का कार्य प्रारभ किया था, उन दिनो विदेश मे भी आलोचना का आदर्श निश्चित नही हुआ था। काव्य के क्षेत्र में वे रसवादी, वक्रोक्तिवादी, अभिव्यजनावादी, प्रभाववादी, एव चमत्कारवादी सव कुछ होकर किसी एक वाद को सर्व-प्रधान मानने वाले न थे। डा० पीतावरदत्त वडथ्वाल के अनुसार —"द्विवेदीजी केवल मस्तिष्क को ही सजग नही रखते थे, कभी-कभी हृदय के प्रवाह को भी विना रुकावट वहने देते थे। × × × द्विवेदी जी की विशेपता यह है कि उनकी रचनाएँ विशेपता अथवा विलक्षणता से विहीन है।"

डा० नगेंद्र का कथन है—"उनके भाव-प्रधान लेख छोटे-छोटे वाक्यो से गुफित हैं, जो चचल शिशुओं की भांति एक दूसरे को ढकेलते हुए आगे वढते हैं। इनमें हमे भारतेंदु जी की चद्रावली आदि में प्रयुक्त लेखन-शैली और आधुनिक युग के गद्यकाव्य के लेखको की शैली के वीच की कडी मिलती है।" अस्तु कवि, आलोचक और निवधकार के समिलित स्वरूप को लेकर अपने समय के साहित्यिक मापदड वनाने वाले उनके कर्मठ व्यक्तित्व मे साहित्यिक विधाओ की सपूर्णता का समावेश है। द्विवेदी जी का महत्त्व पथ-प्रदर्शन मे है, जो गद्यकाव्य के क्षेत्र में भी उनके यश-शरीर को उस उच्चासन पर आसीन देखता है। ●

द्विवेदी जी और खड़ी बोली

बलवीर त्यागी

कौन जानता था कि गांव के धूल भरे पथ पर रायवरेली की ओर कमर पर आटा-दाल बाँध कर जाने वाला वालक एक दिन हिंदी का उन्नायक होगा। सिपाही के बेटे में साहित्यिक प्रतिभा! यह हिंदी का सौभाग्य ही तो था। द्विवेदी जी अपने समय की राजभाषा पढ कर कही किसी राजपद पर शोभित हो सकते थे। किंतु उनका अनुराग तो था हिंदी से। और इसी अनुराग के कारण वह हिंदी के देदीप्यमान नक्षत्रो मे प्रतिष्ठित हुए। साहित्यिको ने उनके नाम पर एक युग निर्धारित कर समान दिया।

द्विवेदी जी के पूर्व भारतेंदु युग में पद्य की भाषा व्रज और गद्य की भाषा खडी वोली थी। द्विवेदी युग में प्रथम वार कविता में खड़ी वोली अपनाई गई। द्विवेदी जी इन कविताओ का सशोधन कर सरस्वती मे प्रकाशित करते थे। सरस्वती पत्रिका का सपादन कर द्विवेदी जी ने हिंदी की आधुनिक कविता के विकास में बहुत सहयोग दिया। उन्होंने भाषा का संस्कार कर उसका शुद्ध रूप उपस्थित किया।

द्विवेदी जी का युग हिंदी साहित्य का परिष्कार युग माना जाता है। द्विवेदी जी अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण अपने युग पर छाए रहे। सपादक पद पर आरूढ होकर उन्होने लेखको का पथ प्रदर्शन किया और शृगार रस की कलुषित धारा से साहित्य की धारा को वचाया। द्विवेदी जी स्वय सशक्त निबधकार एव आलोचक थे। उनके निवंध विचारात्मक होते थे। आलोचना को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न भी द्विवेदी जी ने ही किया। उन्होंने सस्कृत लेखको की कृतियो के अनुवाद तथा भाषा की शुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया। 'कालिदास की निरकुशता' आदि में यह वात स्पष्ट है।

द्विवेदी जी उर्दू को अलग से कोई भाषा नही मानते थे। उनके लेख की ये पक्तियाँ दृष्टव्य है 'मुख्य विषय साहित्य की उन्नति करना है। हिंदी का साहित्य वडी ही दुरवस्था को प्राप्त हो रहा है। उसकी अभिवृद्धि करने की इच्छा से अच्छे-अच्छे ग्रथ लिखना इस समय अत्यावश्यक है। हिंदी वोलने वालो का यह परम धर्म है (सरस्वती, फरवरी-मार्च 1903) । जिस समय व्रज भाषा के रूप मे हिंदी अपना अधिपत्य जमा रही थी, उसी समय उसकी एक दूसरी शाखा उससे पृथक हो गई। इस शाखा का नाम उर्दू है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नही है। वह भी हिंदी है। उसमें चाहे कोई जितने फारसी, अरवी और तुर्की के शब्द भर दे, उसकी क्रियाएँ हिंदी ही की वनी रहती है। उसकी रचना हिंदी के व्याकरण का अनुसरण करती है।'

फारसी और अरवी शब्दो से मिली हुई उर्दू नामधारणी हिंदी अभी कल उत्पन्न हुई है। उर्दू नामधारणी हिंदी में फारसी और अरवी के शब्दो की अधिकता होने और देवनागरी अक्षरो को छोड कर फारसी अक्षरो मे उसके लिखे जाने से जो लोग उसे एक भिन्न भाषा समझते हैं, वे वडी भूल करते हैं। वह कदापि भिन्न भाषा नही है। वह भी सर्वथा हिंदी ही है। सस्कृत शब्दो की प्रचुरता होने से जैसे हमारी विशुद्ध हिंदी कोई भिन्न भाषा नही हो सकती, वैसे ही फारसी या अधिक विदेशी शब्दो की प्रचुरता होने से उर्दू नामधारणी हिंदी भी कोई भिन्न भाषा नही हो सकती।

(सरस्वती, फरवरी—मार्च, 1903)

द्विवेदी जी खडी वोली की पाँच शैलियाँ मानते है —

(1) मुशी शैली—मुशी जी की, पडित जी की और मौलवी साहिव के वीच की हिंदी।
(2) मौलवी शैली—फारसी और अरवी (कठिन तत्सम) सज्ञाओ से भरी हिंदी।
(3) पडित शैली—सस्कृत के कठिन शब्दो के प्रयोग वाली हिंदी।
(4) यूरेशियन शैली—दूसरी भाषाओ के शब्दो के वाहुल्य वाली हिंदी।
(5) यूरोपियन शैली—अग्रेजी के तत्सम सज्ञा शब्दो से भरी हिंदी।

'सरस्वती' के सितवर 1902 के अक में इन शैलियो पर एक पाँच मुखो वाला व्यग-चित्र छपा था और साथ ही छपा था द्विवेदी जी का यह दोहा —

दो पैरो पर एक धड, फिर सिर पाँच अनूप।
मुझ पच रगे पद्य का, देखो सुकर स्वरूप ॥

आलोचक द्विवेदी

रामस्वरूप भक्त 'विमेश'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हमारे सामने कई रूपो मे आए—सपादक, कवि, निबधकार, आलोचक आदि। उनमे उनका आलोचक रूप ही विशेष ख्याति प्राप्त कर सका। उन्होने बीस वर्ष तक 'सरस्वती' का सपादन किया था। यह बीस वर्ष हिंदी साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, क्योकि इन्ही बीस वर्षो में हिंदी के विभिन्न अगो का विकास हुआ जिससे आगे चलकर हिंदी काफी समृद्ध हुई।

यह हिंदी का सौभाग्य था कि वैसे समय में जबकि हिंदी के क्षेत्र मे सर्वत्र अव्यवस्था ही अव्यवस्था थी, आचार्य जी का पदार्पण हुआ। उन्होने बीस वर्षो तक अपने सबल हाथो हिंदी को आगे बढाया। इस कार्य मे उनका सपादक रूप बहुत सहायक हुआ। वे अपने जिन विचारो को पाठक, लेखक और आलोचक तक पहुँचाना चाहते थे, उन्हे पहुँचाने में कठिनाई होती यदि वे सपादक नही होते। इसलिए श्री गुलाबराय जी ने कहा है, "समालोचक के लिए यह आवश्यक नही कि वह सपादक ही हो, किंतु यदि वह सपादक के आसन पर भी विराजमान हो, तो आलोचना का कार्य उसके जीवन के कार्य से सबधित हो जाता है।" इसके साथ मै इतना जोड देना चाहता हूँ कि वह सुगम भी हो जाता है।

फिर द्विवेदी जी वैसे लोगो मे नही थे जो काम को बेगार समझकर किया करते है। उन्होने जो कुछ भी किया था वह उनके मनोयोगपूर्वक अध्ययन, चिंतन-मनन का फल था। बिना इसके साहित्यिक जीवन मे गभीरता का आना सभव नही, खासकर उनका जीवन जिन्हें चौबीसो घटे अपने पाठको, लेखको और आलोचको के विचारो, भावनाओ और समीक्षाओ को सुनना है और सुनकर ठोस उत्तर देना है। अत उन्होने जो कुछ आलोचनाएँ की और टिप्पणियां दी थी वे सब बडे महत्त्व की है। यह बात दूसरी है कि उनसे अर्द्ध शताब्दी आगे बढकर जब हम उनका मूल्याकन करने लगे तो आज हमे वे हलके लगें। लेकिन मूल्याकन करते समय देश-काल का ध्यान रखना भी उचित है।

आचार्य रामचद्र शुक्ल ने समालोचना के दो मार्ग बताए है। वे लिखते है—'समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते है, निर्णयात्मक (Judicial) और व्याख्यात्मक (Inductive)। गेले और स्कॉट के आधार पर उन्होने यह वर्गीकरण किया है। इन दोनो मार्गों की व्यवस्था भी उन्होने की है। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना का गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उनमे लेखक या कवि की कही प्रशंसा होती है, कही निंदा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रथ मे आई हुई बातो को एक व्यवस्थित रूप मे सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। यह मूल्य निर्धारित करने नही जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप

में व्याख्यात्मक नज़र ही परिमित रहती है। अर्थात् उसके अंग-प्रत्यग की विशेषताओ को ढूँढ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्यवस्था करने मे प्रस्तुत रहती है। पर इस व्याख्यात्मक समालोचना के अतर्गत वहुत-सी वातो का विचार होना है—जैसे, राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक परिस्थिति आदि का प्रभाव। ऐसी समीक्षा को ऐतिहासिक समीक्षा (Historical Criticism) कहते है। (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० सं०—526–27)।

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को पहली कोटि में रखते है। उनका सकेत (कालिदास की आलोचना) की ओर है। हिंदी साहित्य में शायद यह पहली आलोचना-पुस्तक थी जिसके लेखक आचार्य द्विवेदी ही थे। शुक्ल जी के अनुसार उसमें दोषो का ही उल्लेख हो सका, गुण नही ढूँढे गए।

चाहे जो हो, इतनी वात तो अवश्य हुई कि आचार्य द्विवेदी जी ने समालोचना का एक मार्ग निर्धारित किया जिस पर आलोचना का काम होने लगा।

द्विवेदी जी आलोचनाओ के सवध मे श्री गुलावराय ने तीन वातो पर विचार करना आवश्यक वताया है। (1) उनके आलोचना सवंधी सिद्धात, (2) उनकी लिखी आलोचनाएँ, और (3) आलोचको में उनका स्थान।

द्विवेदी जी के आलोचना सवंधी विचार 'सरस्वती' पत्रिका में समय-समय पर लिखे गए निवधो मे प्राप्त होते है। ऐसे निवधो के कई संग्रह भी निकले जिनमे रसज्ञ-रजन प्रमुख है। उनमें कविता, कवि-कर्तव्य, कविता की भाषा, नायिका भेद, नल का दुस्तर दूत कार्य आदि निवधो को संकलित किया गया है।

कर्तव्य शीर्षक निवंध में वे लिखते है:—

"छंद, अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण वाते हुईं, इन्ही पर ज़ोर देना अविवेकता प्रदर्शन के सिवा और कुछ नही।··किसी पुस्तक या प्रवध में क्या लिखा गया है, जिस ढँग से लिखा गया है, वह विपय उपयोगी है या नही, उससे किसी का मनोरजन हो सकता है या नही, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नही, लेखक ने कोई नई वात लिखी है या नही, यदि नही तो उसमे पुरानी ही वातो को नए ढँग से लिखा है या नही—यही विचारणीय विपय है।"

साथ ही द्विवेदी जी किसी काव्य का गुण-दोष वतलाना भी समालोचक का कर्तव्य समझते थे। केवल एक शर्त थी, वह यह कि आलोचक कवि से व्यक्तिगत रूप से द्वेष-भावना नही रखे। इसी के आधार पर उन्होने महाकवि कालिदास तथा अन्य सस्कृत कवियो की आलोचनाएँ की। ऐसा करने मे उन्हें रवींद्रनाथ ठाकुर, अरविंद घोष, ईश्वर चंद्र विद्यासागर प्रभृति विद्वानो से प्रेरणाएँ मिली थी, लेकिन द्विवेदी जी की इस ढँग की आलोचना मे एक वात खटकने वाली थी। केवल दोष दर्शन से आलोचना मे एकागिता आ जाती है। इससे पाठक के सामने केवल कृति का अंधकार पक्ष ही आता है। फिर अधकार में पडे प्राणी को प्रकाश चाहिए न कि निविड अंधकार। यदि दोष के साथ ही गुणो का भी वर्णन होता है तो आलोचना श्रद्धा की वस्तु वन जाती है, अन्यथा उसका मूल्य वहुत कम हो जाता है।

द्विवेदी जी ने साहित्यिक और राजनीतिक दोनो विपयो पर आलोचनाएँ लिखी थी। जो कुछ भी उन्होने लिखा उसमे उनकी शक्ति का परिचय मिलता है। अपने क्षेत्र में वे पूर्णतया निर्भीक थे, उनमें पाडित्य था, सतर्कता थी, विपय-विवेचन का सूक्ष्म ज्ञान था, साथ ही अपनी वात मनवाने का दृढ हठ भी था। जो उनका कहा नही मानता, उसे वे अपने व्यंग्य वाणो से वेधे विना नही रहते। ऐसे थे द्विवेदी जी!

आलोचकों में द्विवेदी जी का स्थान निर्धारित करना आसान काम नही है। यो भी किसी साहित्यकार का साहित्य मे स्थान निर्धारित करना कठिन काम है—तुलसी का पत्ता, क्या छोटा, क्या वडा—सव भगवान के मंदिर में समान सम्मान का अधिकारी होता है। फिर यह काम वडे-वडे विज्ञ आलोचक ही कर सकते है। मेरे जैसे लोग द्विवेदी जी का ऐतिहासिक महत्त्व मानते है। वे हिंदी-भवन के उन निर्माताओ में से थे जिन्होंने आरंभ की ईंट जोडी थी और वाद में चल कर जिसके आधार पर इतने विशाल महल का निर्माण हुआ। वे उस दिशा-सकेतक स्तभ के समान थे जो पथिक को भूल मे वचाता है, निर्दिष्ट मार्ग देता है। उन्होंने हिंदी के पाठको, लेखकों और आलोचको का निश्चित दिशा-निर्देश किया। उनके समकालीन आलोचको मे पंडित पद्मसिंह शर्मा और मिश्रवधु प्रमुख थे।

द्विवेदी जी जिस समय हिंदी के क्षेत्र मे आए थे उस समय विदेशो मे भी आलोचना का आदर्श निश्चित नही हुआ था। द्विवेदी जी पर प्राचीन सस्कृत आलोचको का प्रभाव था। साथ ही आधुनिकता के प्रकाश में जो कुछ भी उन्हें विदेशो से मिला उन्होने ग्रहण किया। उन पर अपने समय का भी प्रभाव था। वे हिंदी, अँग्रेज़ी, मराठी, गुजराती, सस्कृत और उर्दू के भी ज्ञाता थे। आलोचना के क्षेत्र में एक दूसरे पर आक्षेप करने की जो प्रवृत्ति काम कर रही थी, द्विवेदी जी भी उससे अछूते नही रह सके।

किंतु इस सत्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि यद्यपि मिश्र बधुओ से द्विवेदी जी का बराबर वाद-विवाद होता रहा तो भी दोनो के आलोचना सबधी आदर्श कुछ बातो में मिलते थे। पडित पद्मसिंह शर्मा और द्विवेदी जी दूसरो की हँसी उडाने में एक से थे, किंतु द्विवेदी जी का शास्त्रीय पक्ष अधिक सबल हुआ करता था। हास्य और व्यग्य के साथ भी द्विवेदी जी सयमी थे।

आचार्य रामचद्र शुक्ल भारतीय आलोचना मार्ग में उनके समान थे, पर उनका विदेशी साहित्य-शास्त्र का अध्ययन भी गभीर था। इसलिए उन्होने समन्वयात्मक मार्ग अपनाया और इसी कारण वे मौलिक आलोचक कहलाए। शुक्ल जी भी निर्दोष नही थे, वे भी कबीर जैसे ज्ञानमार्गी सत के साथ न्याय नही कर सके। यही बात छायावाद के साथ भी लागू होती है।

फिर भी इसे विस्मरण कैसे किया जाए कि जिस युग में आचार्य द्विवेदी जी पैदा हुए, वह युग ही अव्यवस्था का था। और एक ऐसी परिस्थिति में उन्होने आने वाली पीढी को आलोचना करना सिखलाया।

हिंदी का यह क्षेत्र तो अब सर्वाधिक उर्वर हो गया है और आलोचना के क्षेत्र मे भी विभिन्न वादो का प्रवेश हो चुका है। इससे जहाँ एक ओर पक्षपात और एकागिता का खतरा है, वहाँ दूसरी ओर बडी-बड़ी शुभ सभावनाएँ भी हैं।

इस विकास के लिए हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को अर्घ्य चढाए बिना नही रह सकते।

द्विवेदी : महान आलोचक

ए० एस० सुलोचना

साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियो से निर्मित होता है । अत उसके युग में जो कुछ गुजरता है, उसका प्रभाव उस पर पड़ता है । उसका मस्तिष्क उन्ही बातो पर विचार करता है । विचार करते-करते उसे अच्छाई और बुराई की पहचान भी होती है । अच्छी बातो को स्थाई रूप देने का वह भरसक प्रयत्न करता है । अच्छे विषयो की आलोचना करना उसकी प्रशसा करना आसान है, मगर गलत, अनुचित तथा बुरे विषयो की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करना तथा उसे इस तरह सुधारना कि लिखने वाले तथा पढने वाले दोनो के मन को आघात न पहुँचे, बहुत ही महान कार्य है । प० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने ऐसे ही काम को सफलतापूर्वक करके दिखाया ।

पडित जी ने देखा कि भाषा की उन्नति के बदले अवनति हो रही है । किसी को अच्छी हिंदी का ज्ञान नही है । सब लोग मनमाने ढग से लिखते थे । यह उनसे देखा न गया । उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में इस बारे मे अनेक लेख लिखे तथा व्याकरण की गलतियो का सुधार किया । अनेक लोगो को शुद्ध भाषा लिखने का प्रोत्साहन दिलाया । अगर द्विवेदी जी का आविर्भाव उस समय न होता तो शायद ही आज हिंदी को इतना ऊँचा स्थान मिलता ।

पडित जी की इतनी सफलता का कारण उनकी शैली ही है । उन्होने ऐसी सरल, सुगम शैली अपनाई जो सब की समझ मे आने वाली थी । सरल से सरल भाषा मे एक ही बात को कई ढग से कभी-कभी कई बार दुहराते थे, जिस तरह हम छोटे बच्चो को समझाते है । इससे किसी-किसी को उनकी शैली अच्छी न लगती थी, फिर भी उनकी भाषा की सुगमता, सरलता तथा शुद्धता के कारण लोग उनको पढते थे ।

द्विवेदी जी जैसे महान पत्रकार तथा व्याकरणविद् विद्वान के हाथो मे जाकर 'सरस्वती' में भाषा सस्कार का अभूतपूर्व कार्य हुआ उसका पूरा-पूरा श्रेय पडित जी ही को है । खासकर उस समय पडित जी को यह काम करना पड़ा जब कि सारा समाज, अँग्रेजी साहित्य, सभ्यता तथा सस्कृति की ओर झुकता जा रहा था । अँग्रेजी पढना, अँग्रेजी सभ्यता का अनुकरण करना, उसी के साहित्य की प्रशसा करना तथा उसी में लीन रहना ही जब फैशन समझा जा रहा था, द्विवेदी जी ने हिम्मत के साथ लडखडाती हुई हिंदी को ठीक करके, उसे साहित्यिक रूप देकर लोगो के सामने खड़ा किया । अँग्रेजी की ओर झुके हुए कई नवयुवको को हिंदी की ओर खीचने का महान कार्य पडित जी ने किया ।

धीरे-धीरे हिंदी गद्य साहित्य की वृद्धि होने लगी । खासकर सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन तथा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के उपरात हिंदी की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होने लगी । भाषा मे गाभीर्य, शुद्धता, तथा क्लिष्टता आई, शक्ति आई तथा विभिन्न प्रकार की शैलियो का जन्म हुआ ।

भारतेंदु के समय से ही साहित्यिक समालोचनाएँ होने लगी थी, पर पडित जी के समय मे उसका रूप निश्चित हुआ । पडित जी की समालोचनाएँ निर्णयात्मक होती थी । 'सरस्वती' में केवल पुस्तको की ही नही, परन्तु हिंदी तथा सस्कृत के कुछ कवियो की भी पडित जी ने आलोचनाएँ लिखी । उनकी चलाई हुई समीक्षा प्रणाली का आज भी अनुकरण हो रहा है । उनकी समालोचनाएँ भाषा की गडबडी को दूर करने में तथा संयत होकर लिखने में सहायक हुई ।

समालोचना का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे सफलतापूर्वक निभाना सबका काम नही है । द्विवेदी जी के निबधो में विचारो की योजना कही-कही विशृंखल हो गई है । सपादन कार्य मे अधिक व्यस्त रहने के कारण उनके स्वतत्र लेखो मे विशृखलता दृष्टिगोचर होती है । अत सतो की वाणी याद करके हमें शुद्ध अमृत का पान करके पानी को छोड़ देना चाहिए ।●

काव्य

आचार्य द्विवेदी के

'रस'-संबंधी विचा

नंददुलारे वाजपेयी

रस-सवधी नवीन विवेचन के कुछ उपकरण भारतेंदु युग से दृष्टिगत होने लगते हैं—परतु इन्हे विवेचन
सज्ञा देना अधिक उपयुक्त नही है। वास्तव में युगीन भावना के अनुरूप भारतेंदु-युग के कुछ लेखको ने कुछ नई
कही है। स्वय भारतेंदु ने अपनी 'नाटक' नामक पुस्तक में 'कौतुक', 'सामाजिक सस्कार' और 'देशवात्सल्य' को शृ
और 'हास्य' के साथ नाटक का प्रतिपाद्य वताया है। शृगार और हास्य तो ठीक है—परतु 'कौतुक' नया शब्द है
जिसके द्वारा नाटक की कथा-योजना का ही इगित होना है। समाज सुधार और देशवात्सल्य-नाट्य-सामग्री मा
जिससे नाट्य की कथा का निर्माण होता है—नाटक की सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इनका विनियोग सीधे रस
से नही होता। ये जीवन पक्ष की वस्तुएँ हैं—जिनकी कल्पना के माध्यम से काव्य का नाट्य रूप मे परिणमन
है और इस परिणमन के पश्चात् ही रस की स्थिति आती है। भारतेंदु जी के समसामयिक लेखको ने भी इसी प
में रहकर अपने विचार व्यक्त किए हैं। हम कह सकते हैं कि रीति-कालीन काव्य की कलापक्षीय प्रवृत्तियो के वि
यह एक नए आदोलन का आरभिक विकास था, परतु इसमें शास्त्रीय विवेचना की गभीरता नही आ सकी थी।
प्रस्ताव रखे जा रहे थे, परतु उनके समर्थन के लिए जो विवेचन अपेक्षित थे, उनका कोई तर्क सगत या प्रामा
स्वरूप उद्घाटित नही किया जा सका। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि भारतेदु युग में नई सामाजिक चे
रचनात्मक साहित्य में जितने उत्साह और उल्लास से सलग्न हुई थी, उतनी विवेचना के कार्य में नही। कदाचित्
कारण है कि भारतेदु युग में समीक्षात्मक निवधो की कमी दिखाई देती है।

बीसवी शताब्दी का आरभ होने पर हिंदी साहित्य में विचार-पक्ष की प्रौढता आने लगी। द्विवेदी युग
लेखको ने साहित्य समीक्षा के सवध में लिखना आरभ किया और धीरे-धीरे साहित्य सवधी विशेष दृष्टिकोण निर्मित
लगा। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस दृष्टिकोण के निर्माण में विशेष रूप से योग दिया। द्विवेदी जी शा
विचारक उतने नही थे, जितने एक स्वतत्र लेखक। अतएव काव्य शास्त्र के सवध में उन्होंने कतिपय फुटकर निव
लिखे हैं। उनका मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का ही रहा है। रस के सैद्धांतिक विवेचन मे उन्होंने विशेष रुचि
दिखाई। काव्य की भाषा आदि पर उनके निवध अधिक उल्लेखनीय हैं। प्राचीन कवियो की कतिपय विशेषताओं
उन्होने अच्छा प्रकाश डाला है, किंतु उसमें भी सैद्धातिक पक्ष या प्रश्न पर जमकर विचार करना उनके उद्देश्य मे
समिलित नही है। रीतिकालीन कवियो की भर्त्सना और भारतेंदु हरिश्चन्द्र आदि की प्रशसा उन्होंने
'हिंदी नव रत्न' नामक ग्रथ का विवेचन करते हुए उन्होने कतिपय साहित्यिक आदर्शों का सकेत किया है।
सवध मानव जीवन के उन्नयनकारी तथ्यो एव तत्त्वो से होना चाहिए। काव्य मे सरलता का गुण
अधिक से अधिक जन-समाज के लिए उपादेय हो सके, इस प्रकार के उल्लेख उन्होंने किए हैं।

[illegible] आदर्शात्मक स्वरूप पर उनकी दृष्टि केंद्रित थी, यद्यपि काव्य-चमत्कार और उक्ति भगिमाओ पर भी वे [illegible] ध्यान रखते थे। इस प्रकार एक नए साहित्यादर्श की रूपरेखा द्विवेदी जी और उनके सहयोगियो के प्रयत्न से निर्मित गई थी। परतु नए साहित्यादर्श की रूपरेखा का निर्माण एक बात है और उसे एक सिद्धात के रूप मे प्रतिष्ठित करना दूसरी बात है। द्विवेदी जी ने साहित्यादर्श की नवीनता तो अवश्य प्रतिष्ठित की, परतु उसे सैद्धातिक समग्रता कुछ [illegible] पश्चात् आचार्य रामचद्र शुक्ल जी के साहित्यिक निबंधो और ग्रथो द्वारा ही प्राप्त हो सकी।

यहाँ हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की 'वाग्विलास' पुस्तक की 'निवेदन' शीर्षक भूमिका मे आई हुई उन पक्तियो को उद्धृत करते है—इनमे रस सबधी द्विवेदी जी के विचारो का कुछ आभास मिलता है। वे लिखते है —

मनुष्य का हृदय अनेक विकारो का आधार है। यो तो वे सुप्त अवस्था मे रहते है, पर कारण उपस्थित होते ही जागृत हो उठते है। उनके जागरण से मनुष्य तदनुकूल व्यवहार करने लगता है। यह जागरण जितना ही उद्दाम या प्रबल होता है—मानवीय व्यवहार भी उतना ही कठोर हो जाता है। इन जागृत विकारो का ही नाम 'रस' है। काव्य शास्त्र मे इन्ही की सज्ञा रस है। इनकी प्रेरणा से जो काम होते है—उनके कुछ चिह्न भी मनुष्य में प्रकट हो जाते है। चाहें तो आप इन्हीं को अनुभाव कह सकते हैं।'

रस विषयक इस सक्षिप्त उल्लेख की ओर दृष्टिपात करते ही हमे कुछ बातो का अनायास परिचय मिलता है। पहली बात यह है कि इस उद्धरण की शब्दावली शास्त्रानुमोदित या परपरागत नही है। नवीन विवेचन की भूमिका पर भी उसमे गुनवद्ध विचार नही आए है। मनुष्यो के हृदय मे वासना रूप मे कतिपय मनोभाव प्रकट रूप से विद्यमान रहते है। काव्याध्ययन के द्वारा वे सुप्त भाव प्रसगानुकूल जागृत होते है और काव्यास्वाद की सृष्टि करते है—यह काव्यास्वाद ही 'रस' है। वासना रूप मे सस्थित इन स्थायी भावो का जागरण कवि के काव्यवैशिष्ट्य के अनुसार कभी अतिशय तीव्र और कभी अपेक्षाकृत मद हो सकता है। परतु प्रत्येक स्थिति में आस्वाद की भूमिका तो समरस रहती है। द्विवेदी जी ने इस आस्वाद के एक दूसरे पक्ष पर भी ध्यान दिलाया है। मानवीय व्यवहार का काव्यास्वाद से प्रभावित होना और तदनुरूप बन जाना। जिस काव्य में यह प्रेरणा शक्ति जितनी अधिक होगी—मानवीय व्यवहार उससे उतना ही अधिक प्रभावित होगा—रस सबधी यह विवेचना शास्त्रीय शब्दावली में अभिव्यक्त न होकर भी नवीन है। रस की शास्त्रीय धारणा आवरण-भग जनित आत्म तत्त्व के उन्मीलन पर आश्रित है—रस विशुद्ध आनदमूलक होता है। आनद ही काव्य की चरम-उपलब्धि है। परतु द्विवेदी जी आनद का उतना आग्रह नही करते, जितना काव्यास्वाद के पश्चात होने वाले मानवीय व्यवहार का करते है। स्पष्ट है कि काव्य की और उसके मूल तत्त्व रस की यह विवेचना वास्तविक नही है—केवल व्यवहाराश्रित है। काव्य ही क्यो—अन्य अनेक प्रकारो से मानव व्यवहार का नियमन किया जा सकता है। वैसी स्थिति में काव्य की अपनी स्वतत्र-सत्ता और रस का अपना निर्विरोध आनद अतिशय गौण हो जाता है और कविता केवल मानव-व्यवहारो को किसी विशेष दिशा में ले जाने का साधन बन जाती है। रस की यह उपयोगितावादी व्याख्या द्विवेदी जी से ही आरभ होती है और आगे चलकर यह अनेकोनेक रूपो में परिणत होती है।

यहाँ द्विवेदी जी ने रसास्वाद के पश्चात् सहृदय में प्रकट होने वाले किन्ही अनुभावो का उल्लेख किया है। रस सबधी शास्त्रीय विवेचना में विभाव, अनुभाव आदि मे स्थायी भाव की पुष्टि होती है और तब सहृदय को काव्य मे रस बोध होता है अत अनुभाववादी रस की परिवर्तिनी विषय वस्तुएँ नही है वरन् उसकी पूर्ववर्तिनी है। यहाँ भी द्विवेदी जी ने शास्त्रीय विवेचन का आधार न लेकर काव्य के प्रेरणापक्ष को—व्यवहार के परिप्रेक्ष्य को अपने समक्ष रखा है। यह दृष्टि नवीन है, परन्तु यह क्रमागत विचारणा से भिन्न है और इसमें नवीन शास्त्रीय विवेचना और शब्दावली का प्रयोग नही है। आगे चलकर आचार्य शुक्ल जी ने नए विचारो को सतुलित रूप में रखने का उद्योग किया है।●

द्विवेदी जी की काव्य-परिभाषा और काव्य स्वरूप का विवेचन

इंद्रनाथ चौधुरी

आधुनिक युग के प्रारंभिक काल में राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्रेरित हिंदी के विद्वानो ने, सस्कृत-काव्यशास्त्र का गभीर अध्ययन प्रारभ किया था। समय की गति के साथ-साथ इन विद्वानो ने यह अनुभव किया कि सस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि पक्ष तथा उनके कर्म के बहुत-से पहलू अछूते पडे हुए हैं और उनका पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन आवश्यक है। इस भावना को प्रारंभिक रूप देने वाले प्रथम विद्वान थे, महावीरप्रसाद द्विवेदी। सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र मे महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'नाट्यशास्त्र' (सन् 1920) और 'रसज्ञ-रजन' (सन् 1920) विशेष उल्लेखनीय ग्रथ हैं। इनमें से 'रसज्ञ-रजन' मे उन्होने स्फुट निबधो में काव्य-विषयक चर्चा की है। इन दोनो कृतियो के अतिरिक्त उन्होने अपने 'विचार-विमर्श' (सन् 1932), 'समालोचना-समुच्चय' (सन् 1928), 'आलोचनाजलि' (सन् 1928) आदि अन्य निबध-सग्रहो में भी स्वतत्र अथवा प्रासगिक रूप से काव्य-सिद्धात की चर्चा की है। द्विवेदी जी ने भाषा, छद, अनुवाद-कार्य का महत्त्व, काव्य स्वरूप आदि अनेक विषयो का विस्तृत विवेचन किया है। सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र मे उन्होने मूलत सस्कृत-साहित्य-शास्त्र का ही आधार ग्रहण किया है तथापि युगचेतना के प्रभावस्वरूप पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन नियमो का नवीन ढग से विवेचना करना भी नहीं भूले हैं। द्विवेदी जी की काव्य-परिभाषा तथा काव्य-स्वरूप का विवेचन करने से उनकी काव्यगत मान्यताओं के सबध में हम एक धारणा बना पाते हैं और काव्यशास्त्र के अध्ययन की दिशा में उनके योगदान से परिचित होते हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'रसज्ञ-रजन' मे ही कविता की तीन परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जो निम्नलिखित हैं —

'नाना प्रकार के विकारो के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन मे नही समाते, तब वे आप ही आप मुँह से निकलने लगते हैं। अर्थात् मनोभाव शब्दो का रूप धारण करते हैं। यही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।' एव—

'जो बात असाधारण और निराले ढग से शब्दो द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पडे, उसी का नाम कविता है।'[1] एव—

---

[1]—रसज्ञ-रजन, पृ० 39, 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास' में उद्धृत।

[illegible] कविता है।'[2]

[illegible] की इन परिभाषाओ को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी कविता को मनोभावो का [illegible] स्फुरण, गद्य-पद्यमय, निराली अभिव्यक्ति तथा चिन्मय मानते हैं। साथ ही द्विवेदी जी के अन्याअन्य कथनो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे कविता के लिए बोलचाल की सामान्य भाषा अधिक पसद है[3] तथा गुणो के प्रति भी उनकी आसक्ति है।[4] एक स्थान पर द्विवेदी जी चमत्कार को बहुत अधिक महत्त्व देते है और कहते है कि शिक्षित कवि की कविता मे चमत्कार का होना अत्यावश्यक है।[5]

महावीरप्रसाद द्विवेदी के उक्त कथनो का विवेचन करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि कविता की परिभाषा तथा स्फुरण विषयक उनके मतामत पूर्णरूपेण स्वच्छदतावादी पाश्चात्य लेखको के मतव्यो से प्रभावित है। जब वे कविता को मन में न समाने वाले मनोभावो का स्वाभाविक (आप ही आप) प्रकाश मानते है तो वस्तुत' वे वर्ड्सवर्थ की बातों को ही अपने शब्दो में दोहरा देते है कि कविता बलवती भावनाओ का सहज उच्छलन होती है। शात अवस्था मे भाव के स्मरण से उसका उद्भव होता है। उस् भाव का भावन किया जाता है—यहाँ तक कि एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया द्वारा—शनै -शनै शातता का लोप होकर वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है जो पहले भावन का विषय रहा हो और भाव वास्तव मे मन में अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। प्राय ऐसी मनोदशा में सफल रचना का सूत्रपात होता है।[6]

कोलरिज ने भी एक स्थान पर कविता के सबध मे यह कहा है कि सौंदर्य के माध्यम से प्रत्यक्ष आनद प्राप्त करना ही कविता है जिसका आधार मनोभावो की उत्तेजना है।[7] कवि के भीतर सामान्य व्यक्ति से कही अधिक मनोभावो की स्थिति रहती है।[8] इस सबध मे हमें भी कोई आपत्ति नही क्योकि कविता का वास्तविक आधार ही मनोभावो

---

2 कविता कलाप की भूमिका, 'हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास' में उद्धृत।

3 इसी प्रकार जब बोलचाल की भाषा की कविता को या आजकल के और दूसरे पद्यो को साधारण लोग भी पढने लगें तब समझना चाहिए कि कविता और कवि लोकप्रिय है। आजकल सस्कृतमयी कविता का रचा जाना और भी अधिक हानिकारक है। रसज्ञ-रजन, पृष्ठ 18।

4 'सादगी', असलियत और जोश यदि यह तीन गुण कविता मे हो तो कहना ही क्या है। परतु बहुधा अच्छी कविता मे भी इनमे से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है—काव्य और कविता लेख।

5 शिक्षित कवि की उक्तियो मे चमत्कार का होना परमावश्यक है। चमत्कार अलकारमूलक भी हो सकता है एव अभिव्यक्तिमूलक और औचित्यमूलक भी हो सकता है —रसज्ञ-रजन।

6 Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotion recollected in tranquillity The emotion is contemplated till, by a species of reaction, the tranquillity gradually disappears, and an emotion, kindered to that which was before the subject of contemplation, is gradually produced, and does itself actually exist in the mind In this mood successful composition generally begins.

Loci Critici, page 280.

7 The excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty—Biographia Literaria.

8 A more than usual state of emotion, Loci Critici, p. 309

का वाङमय प्रकाश होता है[9] परतु द्विवेदी जी जब यह कहते हैं कि जो मनोभाव मन में नही समाते वे ही शब्दो का रूप धारण कर कविता बन जाते है तो हमे आपत्ति करनी पडती है। आपत्ति का मुख्य कारण है कि कविता का सबध मनोभावो की सपूर्ण-सत्ता के साथ है न कि उन मनोभावो के साथ जिनका कवि-हृदय में कोई स्थान नही। अँग्रेज़ी विद्वान टी० एस० इलियट का यह कहना है कि मन की अनुभूति तथा भावनाओ का सपूर्ण सामजस्य ही कविता का रूप धारण करता है।[10] वस्तुत कवि का मन असख्य भावनाओ, पदावलियो, बिंबो के ग्रहण एव सचयन के निमित्त एक आधान-पात्र की भाँति होता है और वे तब तक वहाँ रहते हैं जब तक वे सब घटक, जिनके सयोग से कोई नया यौगिक पदार्थ बन सकता हो, एक साथ एकत्र नही हो जाते। टी० एस० इलियट, वर्डस्वर्थ की परिभाषा की आलोचना करते हुए अपने भावो को और भी स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि शात अवस्था में अनुस्मृत भाव का सूत्र मिथ्या है क्योकि यहाँ न तो भाव है, न अनुस्मृति—यदि अर्थ को तोडे-मरोडे नही तो—न शाति। यह तो समाहरण है और अनेकानेक अनुभवो के समाहार से जनित एक नई वस्तु है।[11]

इसके अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्य और पद्य की भाषा को एक माना है तथा बोलचाल की भाषा को ही कविता के लिए उपयुक्त माना है। यह विचार भी पूर्णरूपेण वर्डस्वर्थ के ही हैं। वर्डस्वर्थ ने स्पष्ट शब्दों मे यह कह दिया है कि कविताओ में मेरा उद्देश्य रहा है जन-साधारण के जीवन से घटनाओ तथा स्थितियो का चयन

---

[9] वर्डस्वर्थ तथा कालरिज ने मनोभाव (Emotion) के साथ-साथ अनुभूति (Feeling) शब्दो का भी प्रयोग किया है और ऐसा लगता है कि उनके लिए मुख्यत ये दो भिन्न पदार्थ हैं। सामान्यतया इस सबध मे दो मत है (1) अनुभूति तथा मनोभाव एक ही चीज हैं, (2) यह दोनो भिन्न पदार्थ हैं। भारतीय विद्वान इन दोनो को एक ही मानते रहे परतु पाश्चात्य विद्वानो के लिए यह दोनो भिन्न पदार्थ रहे। वे मनोभावो को मानसिक अवस्था मानते है और अनुभूति को सुख-दुःखात्मक विचारो पर निर्भर मानते हैं। यद्यपि वर्डस्वर्थ की परिभाषा मे इन दोनो का सापेक्षिक सबध स्पष्ट है इसी सबध के आधार पर हमारा विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

[10] The poet's mind is in fact a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images, which remain there until all the particles which can unite to form a new compound are present together—'Tradition and the Individual talent' Selected Essays, p 19.

[11] We must believe that 'emotion recollected in tranquillity is an inexact formula For it is neither emotion, nor without distortion of meaning, tranquillity It is a concentration and a new thing resulting from the concentration, p 21.

उक्त पक्तियो के उपरात इलियट ने एक ऐसा वाक्य कह दिया जिससे उनके सबध में धारणा ही बदल सकती है। उन्होने कहा, Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape of emotion वस्तुत यह एक विरोधाभास है क्योकि उनके सपूर्ण निबध के पाठ के उपरात यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त पक्ति का मुख्य उद्देश्य यह व्यक्त करना था कि कविता अनावश्यक मनोभावो से पलायन है जिससे कि आवश्यक मनोभावो को कविता में स्थान मिल सके। उनके निबध के एक वाक्य को प्रमाण के रूप में लिया जा सकता है—Very few know when there is an expression of significant emotion, emotion which has its life in the poem and not in the history of the poet Page 22

करना तथा उन्हें जनता के वास्तविक व्यवहार की भाषा से चुनी हुई शब्दावली में अभिव्यक्त करना।[12] और एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि यह निश्चित पूर्वक कहा जा सकता है कि गद्य और कविता की भाषा में न कोई मूल भेद है और न हो सकता है।[13] कालरिज ने वर्डस्वर्थ का विरोध करते हुए यह स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भाषा होती है जो वैयक्तिक वर्गगत और सार्वजनिक तत्वो से युक्त होती है। अतएव 'वास्तविक भाषा' जैसी कोई वस्तु नहीं है—'वास्तविक' के स्थान पर 'साधारण' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा निम्न-वर्ग की जनता की भाषा का ग्रहण भी काव्य के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्योकि शिक्षा दीक्षा के अभाव में उनका विचार-क्षेत्र अत्यंत सकुचित होता है, अतएव उसकी अभिव्यक्ति के साधन सर्वथा सीमित तथा अस्पष्ट होते हैं।[14] गद्य और पद्य की भाषा के भेद को स्पष्ट करते हुए कालरिज ने कहा है कि छद का आविर्भाव आवेग-दीप्ति के कारण होता है, अत यह आवश्यक है कि छदोमयी रचना का भाषा भी सर्वत्र आवेगदीप्त हो।[15] छद ही कविता का उचित परिच्छेद होता है और बिना छद की कविता अपूर्ण एव सदोष रह जाती है।[16] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता का सबध छद से है जिसका आविर्भाव आवेगदीप्ति के कारण होता है। फलत. कविता की भाषा आवेगमय होती है जो अनिवार्यत गद्य की भाषा से भिन्न है।

जहाँ तक महावीरप्रसाद द्विवेदी कविता को 'निराली अभिव्यक्ति' मानते हैं वहाँ विवेचन के लिए कोई अवकाश नहीं क्योकि 'निराली' से उनका क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पष्ट नही किया। कविता की भाषा को चित्रमय मानने के सबध में हमारा यह कहना है कि द्विवेदी जी का यह मत भी हूबहू वर्डस्वर्थ से मिलता है। वर्डस्वर्थ का कहना है कि कविता और चित्रकला के साम्य के निरूपण का हमें चाव है और इस साम्य-निरूपण के फलस्वरूप हम उन्हे स्वर्गीय कलाएँ कहते हैं।[17] चित्रमय भाषा कविता का एक धर्म है और परिभाषा में केवल इसके सबध में कहने से यह तात्पर्य निकलता है कि अन्यान्य धर्मो के स्थान पर आलोचक केवल इस पर ही गुरुत्व आरोपित करना चाहता है। जो अनुपयुक्त ही सिद्ध होगा। चित्रात्मकता के आधिक्य से काव्यवस्तु (Poetic statement)

---

[12] The principal object, then proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life, and to relate or describe them, throughout, as far as was possible in a selection of language really used by men——Preface to lyrical Ballads, Loci Critici, Page 264.

[13] It may be safely affirmed, that there neither is, nor can be any essential difference between the language of prose and metrical composition—*Ibid*, Page 269

[14] Everyman's language has, first its individualities, secondly the common properties of the class to which he belongs and thirdly words and phrases of universal use
For 'real' therefore we must substitute, ordinary, or lingua communis——Biographia Literaria, Chap XVII, Loci Critici, p. 319

[15] As the elements of metre owe their existence to a state of increased excitement, so the metre itself should be accompanied by the natural language of excitement Biographia Literaria Chap XVIII, P. 326.

[16] Metre the proper form of poetry, and poetry imperfect and defective without metre. *Ibid*, p. 331.

[17] We are fond of tracing the resemblance between poetry and painting, and accordingly, we call them sister, Loci Critici, p 269
महावीरप्रसाद द्विवेदी का कहना है चित्रकला और कविता का घनिष्ठ सबध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है। दोनो का काम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यो और मनोविकारो को चित्रित करना है। जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने मे भी उसकी वृद्धि होती है—कविता-कलाप की भूमिका।

के वर्णन में वाधा पहुँच सकती है और सपूर्ण कविता विंबो का भग्नस्तूप प्रतीत हो सकती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर गुणो पर भी काफी गुरुत्व आरोपित किया है। इस सवध में हमें इतना ही कहना है कि गुण काव्य के उत्कर्प-साधन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है परतु गुण के अभाव से काव्यत्व की हानि नही होती है। यह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य की परिभापा के सवध मे और एक वात कही है कि शिक्षित कवि की कविता मे चमत्कार का होना अत्यावश्यक है। यद्यपि चमत्कार से उनका क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पप्ट नही किया है। अभिनव गुप्त ने शैव सिद्धात के आधार पर इस की व्याख्या करते हुए चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार स्थायी भाव 'वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्य' होकर रसत्व को प्राप्त करता है और वह विघ्नो से सर्वथा रहित प्रतीति चमत्कार कहलाती है। और उससे उत्पन्न होने वाले कप और रामाचोदय आदि विकार भी चमत्कार कहलाते हैं। भोग करने वाले के, अद्भुत भोगात्मक व्यापार से आविष्ट मन का चमत्कृत हो जाना ही 'चमत्कार' कहलाता है अर्थात् रसानुभूति तथा उससे जन्य पुलकादि दोनो के लिए चमत्कार शब्द का प्रयोग होता है। और वह साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, या सकल्प, अथवा स्मृति, इस रूप से प्रतीत हो सकता है।[18] इस प्रकार अभिनव गुप्त के अनुसार चमत्कार चित्त के आह्लाद तथा वस्तु और अर्थ के साक्षात्कार का द्योतक है। विश्वनाथ ने रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए 'चमत्कार' शब्द का व्यवहार किया है और उनके अनुसार यह चित्त का विस्तार—जिसका दूसरा नाम विस्मय है—का द्योतक है।[19] काव्यानद के साथ विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। धर्मदत्त के ग्रथ से दो पक्तियाँ उद्धृत कर विश्वनाथ ने अपने वक्तव्य का समर्थन किया है कि रस का सार है चमत्कार जो रस मे सर्वत्र ही अनुभूत होता है और उस चमत्कार का सार है अद्युत[20] रस। विदेश के सौदर्यशास्त्र में भी सौंदर्यानुभूति मे विस्मय (Wonder) का तत्त्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है। प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमें वौद्धिकता भी वर्तमान रहती है, डेकार्टे ने यही वात कही है।[21] परतु यह निश्चित है कि 'चमत्कार' अथवा 'अद्युत' रस का स्थान नही ले सकता यह रस का अतर्गुण मात्र है इससे अधिक नही। और फिर 'अद्युत' सव रसो का सार नही हो सकता क्योकि सर्वत्र विस्मय का अनुभव नही होता। इस प्रकार परिभापा में रस अथवा आनद के स्थान केवल मात्र चमत्कार अथवा अदयुत का प्रयोग उचित नही।

कविता की परिभापा और उसके स्वरूप के सबध में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो-कुछ भी कहा है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि द्विवेदी जी पाश्चात्य स्वच्छदतावादी आलोचक वर्डस्वर्थ से प्रभावित थे। उन्होंने काव्यगत अनुभूति को सबसे अधिक महत्त्व दिया और काव्य के लिए गद्य-पद्यमय भापा को प्रमुखता देते हुए आधुनिक कविता के भावी स्वरूप को शास्त्रीय मान्यता प्रदान की। अनुभूति के साथ ही अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति के प्रमुख उपादान विव-विधान को काव्य के लिए आवश्यक माना जो आधुनिक पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी काव्याभिव्यक्ति का प्रमुख उपादान माना जाता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे 'चमत्कार' को महत्त्व देते हुए द्विवेदी जी ने अनुभूति की सूक्ष्मता और उसके साथ सयुक्त वौद्धिक भाव-पद्धति को भी महत्व दिया है।●

---

[18] अभिनव भारती, भाष्यकार, आचार्य विश्वेश्वर, 6/131 पृष्ठ 471।

[19] 'चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्याय', साहित्यदर्पण।

[20] 'रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्युतो रस ॥'

[21] There are only six primary emotions, wonder, love hatred, desire joy and sadness Wonder is a sudden surprise of the Soul It leads to fixing of attention on what seems to be rare and extraordinary It is caused by an impression in brain It is distinct from other emotions in as much as it is not accompanied by any charge in heart or blood It is related to brain only It forms an element of almost all emotion Descartes, explained by Dr K C Pandey, Western Aesthetics, p 198

द्विवेदी जी की काव्य-सृष्टि

गंगाप्रसाद विमल

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'गद्य भापा के ग्राचार्य' थे। निवध, अनुवाद ग्रौर पत्रकारिता के लेखन क्षेत्र मे उन्होंने एक युग का समारंभ किया था।[1] गद्य-भापा को सुनिश्चित परिसस्कृत[2] रूप देने का काम करने के साथ साथ गद्य ग्रौर पद्य की एक भापा[3] का समर्थन उन्होंने किया था। वे अपने आप कवि थे ग्रौर कविता के पीछे उनके निहित उद्देश्य मे कोई रहस्य नही था। अधिकाश कविताएँ किसी विशिप्ट उद्देश्य की परिपूर्ति मानी जा सकती है।[4] उनका अनुवादक-व्यक्तित्व ही कविता में प्रतिविंवित हुआ है। सस्कृत कविताओ की प्रतिच्छाया लेकर उन्होंने खडी वोली मे भापा के शुद्ध रूप के उदाहरण प्रस्तुत किए तथा व्रजभाषा के प्रवाह को हिंदी में अनूदित करने का प्रयत्न किया था। वस्तुत. गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि कविता कविता के लिए न रचकर उन्होने कविता को एक विशिप्ट अनुकरण के लिए आधार वनाया था। यह अनुकरण इतिहास-समय की अनिवार्यता के संदर्भ में सापेक्ष और नियत कहा जा सकता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एक 'मिशनरी' थे और वे अपने उस 'मिशन' के यत्न थे जिसके अनुसार उनके द्वारा हिंदी का एक आधुनिक साहित्यिक व्यक्तित्व वनता है। अत इस पूरे सदर्भ में उनकी कविताओ की सौंदर्यपरक व्याख्या और सर्वेक्षण हमारी सीमा है, उनके कवि-व्यक्तित्व तथा कविताग्रो की तथ्यात्मक आलोचना अभीप्ट नही।

परंपरा के सूत्र ग्रौर आधुनिक युगारंभ

हिंदी गद्य के आरंभ को साधारणत हमारे साहित्येतिहासकार आधुनिक काल की सज्ञा देते हैं। गद्य विधा का जन्म आधुनिक काल के नामाकन के लिए पर्याप्त नही है, तथा इस प्रसंग में गद्य विधा का जन्म ही विवादास्पद होने

---

[1] महावीरप्रसाद द्विवेदी—युग प्रेरक साहित्यकार थे।—आधुनिक हिंदी कवियो के काव्य सिद्धात (डॉ० सु० च० गुप्त), पृष्ठ 97

[2] उन्होंने भापा के परिप्कार में वहुत यत्न किए—खड़ी वोली हिंदी साहित्य का इतिहास (व्रजरत्न दास) पृ० 186।

[3] देखिए—हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल)

[4] द्विवेदी जी का अधिकांश काव्य सोद्देश्य लिखा गया था।—खड़ी वोली में अभिव्यजना (आशा गुप्ता) पृ० 243।

के कारण आधुनिक काल की सज्ञा ठीक नही बैठती। भारतेंदु-पीढी तक कविता में ब्रज के मुहावरे का जो प्रभाव था, गद्य मे उप-क्रियाओ का जो रूप था, उसे परपरा-प्रयोग का प्रभाव कहा जा सकता है। रोमाटिक कविता की एक परपरा सस्कृत से होती हुई विदेशी सूत्रों के प्रभावो से अमुक्त होकर श्रीधर पाठक तक आती है और बाद में छायावादी कविता में एक नया सस्कार पाती है। द्विवेदी जी ने परपरा के दोनो आधारों को नही स्वीकारा था। उन्होंने ब्रज भाषा के मुहावरे का हिंदी में अनुवाद किया था तथा क्रियाओ और उप-क्रियाओ के हिंदी रूप स्वीकारे थे। रोमाटिक-प्रवृत्ति उनके गद्य-व्यक्तित्व के अनुकूल नही थी इसलिए उनकी काव्य-रचना के परपरा सूत्रों का कोई एक बिंदु ऐसा नही है, जिसे हम प्रेरणा के सूत्र या प्रभाव के सूत्र कह सके। उनमें परपरा के स्थूल रूप के प्रति भी लगाव कविता के सदर्भ में नही पाया जा सकता। भाषा का परपरा सूत्र व्याकरण और भाषा का परपरा सूत्र सस्कृति दो ऐसे आधार है जिन्हें सही अर्थो मे आचार्य द्विवेदी ने व्याख्या दी है तथा उनके नवीनीकृत रूप सामने रखे हैं। इसलिए बीसवी शताब्दी के आरभ का साहित्यिक व्यक्तित्व और बीसवी शताब्दी के आरभिक वर्षो का विश्वव्यापी प्रभाव आधुनिक काल की सज्ञा के अनुरूप क्षेत्र बनाता है। आधुनिक काल भी, बोध और सवेदना के स्तर पर नही, केवल गद्य-पद्य-भाषा-सस्कृति और राष्ट्रीयता के आधार पर कहा जा सकता है। भाषा-सस्कृति और राष्ट्रीयता की चेतना के तीनो तत्व द्विवेदीयुगीन काव्य रचनाओ में अपना सामयिक व्यक्तित्व लिए होते हैं। द्विवेदी युग की परपरा का सच्चे अर्थों मे वहन करने वाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त कहे जा सकते है। क्योकि द्विवेदी युगीन भाषा प्रयोगो का स्वभाव और राष्ट्रीय सास्कृतिक चेतना का सरक्षक उन्हें कहा जा सकता है।

काव्य का वस्तु चेतना, उपलब्धि का प्रथम चरण :

कविता मे वस्तुवृत का महत्व मानकर द्विवेदी जी की काव्य रचना के सबध में गभीरता से विचार किया जा सकता है। 'वस्तु चेतना' का विस्तार उनकी गद्य रचनाओ मे जितना है कविताओ में आनुपातिक दृष्टि से कम नही है। यह पूरा प्रसग युगसदर्भ मे देखा जाए तो युगीन वस्तु-प्रवृत्ति को सामाजिक आधारो से अलग करके नही रखा जा सकता। आचार्य द्विवेदी समय के सदर्भो से भली भाँति परिचित थे। इसीलिए उनका वस्तुवृत न तो कोई रोमाटिक अवधारणा का आग्रह लिए हुए है और न ही किसी तरह के आध्यात्मिक-परिवेश की रचना करता है। इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी शास्त्रीय परपरा के अनुगामी होते हुए भी अपने वर्तमान से विलग नही है। वर्तमान यथार्थ की उपेक्षा करना साहित्य को परिकल्पनाओ का एलबम बना देना है। द्विवेदी युग का 'वर्तमान यथार्थ' स्वाधीनता[5], हिंदी प्रेम[6], बाल विधवा समस्या[7], प्रकृति वर्णन[8], काता सम्मति (उपदेशादि)[9], कविता की परिभाषा[10] भक्ति भावना[11], समाज सुधार[12] तथा महिमा गुणगान[13] की वस्तु चेतना तक कविता के सदर्भ में स्वीकृत रहा। गद्य

---

5. देखिए कविता—'जन्मभूमि मे' (द्विवेदी काव्य माला) तथा 'हे स्वतन्त्रते ! जन्म तुम्हारा कहाँ, बता यह प्रश्न हमारा'
   स्वतन्त्रता—शूर देशहित तजते जहाँ प्राण जन्म मेरा है वहाँ (द्विवेदी काव्य माला)।
6. गुण ग्राम की आगरी नागरी है।
   प्रजा की जु सन्मानसोजागरी है। (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 210
7 'बाल विधवा विलाप' (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 222
8 कुमुद पुष्प सुवास सुवासिता, बकुलचम्पक गधविमिश्रिता। (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 82
9. द्विवेदी काव्य माला—पृष्ठ 295
10 द्विवेदी काव्य माला—पृष्ठ 291
11. इष्ट देव आधार हमारे (द्विवेदी काव्य माला) पृ० 454
12. देखिए—देशोपालक और आर्यभूमि कविताएँ (द्विवेदी काव्य माला)
13. द्विवेदी काव्य माला—पृष्ठ 367

भाषा में वस्तु-वृत्त का विस्तार कुछ अधिक मिलता है। इसके साथ-साथ सामयिक-समस्याओं का छुट-पुट वर्णन द्विवेदी जी ने भी किया है किंतु मुख्य रूप से इसे आधार अन्य कवियों ने बनाया। स्पष्ट रूप से यह प्रभाव भारतेंदु युग की देन है, किंतु इनको द्विवेदी युगीन उपलब्धि के रूप में कई तरह से आंका जा सकता है। प्रथम द्विवेदी युग मे आकर काव्य भाषा के निश्चित आधार, देश भाषा के निश्चित आधार तथा स्वदेश के प्रति प्रेम भावना का एक और ही रूप सामने आया, द्वितीय-भारतेंदु युग प्रयोग युग था जब कि द्विवेदी युग एक विशिष्ट दिशा निर्देश का युग कहा जा सकता है। भारतेंदु का व्यक्तित्व अपनी साहित्य रचना तथा मडल वृत्त में प्रभावशाली रहा है। किंतु द्विवेदी जी के व्यक्तित्व ने कविता, कथा, निबध तथा समालोचना आदि क्षेत्रों को प्रभावित और प्रेरित किया है। यह कहा जा सकता है कि वस्तु चेतना का क्षेत्र द्विवेदी युग में अधिक विस्तार पा गया था तथा काव्य कलाओ की अनेक विधाओ को ठोस रूप मिलने लग गया था। वस्तु चेतना का रुख 'प्रकृति की सुरम्य भाव प्रतिमा स्थापन' की ओर परवर्ती रचनाकारो ने मोड़ा, द्विवेदी जी ने उसे एक वस्तु व्यजना के निहित उद्देश्य परक दायरे तक सीमित रखा। यह युग की प्रवृत्ति थी और उसका प्रतिनिधित्व स्वय द्विवेदी जी करते थे। उन्होने काव्य रचना की ओर अनेक लोगो को प्रेरित किया। काव्य रचना की वस्तु चेतना के सकेत लोगो को दिए, यहाँ तक कि 'सरस्वती' में प्रकाशित रवि वर्मा की कलाकृतियो पर कविताएँ स्वयं भी लिखी तथा लोगो से भी लिखवाई। धर्माडबर, 'राजनैतिक स्थिति' तथा 'भारतीय सस्कृति के कथावृत्तों' का भी कही कही आशिक रूप से उन्होने आधार लिया किंतु मुख्य रूप से अन्य कवियो को प्रेरित किया। इस सक्षिप्त विवरण से आरभिक हिंदी की विस्तुत वस्तु चेतना का अनुमान हम स्वय लगा लेते है क्योकि द्विवेदी जी की कविता में केवल परपरागत काव्य-वर्ण्य-विषय ही नही थे अपितु उन्होने अपने पूरे सामाजिक परिवेश से वर्ण्य विषय लिए थे।

कला चेतना, भाषा परिसंस्कार :

द्विवेदी जी की कविता को कलात्मक आधारो पर विद्वान उच्चकोटि की कविता नही मानते।[16] इस सबध मे द्विवेदी जी ने स्वीकारोक्ति भी दी है कि 'कविता का विषय मनोरजक और उपदेशजनक होना चाहिए।'[15] फिर भी उन्होंने प्रकृति कविताओ में स्वच्छद भाव से भाव व्यजना की है क्योकि 'प्रकृति के उपमानो की विभिन्न योजनाओं द्वारा भावो की व्यजना की जाती है।'[16] वस्तुत. उनके युग की कला चेतना की सीमा भावों की यही अतिरिक्त व्यजना मानी जा सकती है। जैसा कि डा० उदयभानु सिंह ने कहा है कि "आधुनिक हिंदी काव्य के इतिहास में उनकी कविताओ के लिए एक विशिष्ट पद सुरक्षित रहेगा—सौदर्यमूलक आलोचना के आधार पर नही किंतु जीवन मूलक और ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से।"[17] यही पर हमें उनकी काव्य सृष्टि के एक अतरग सत्य का अनुमान लगा लेना चाहिए जिसकी जड़ें कला के कलावादी परिवेश में निहित नही है अपितु जिसकी जड़ें

---

14 व्यक्तित्व की वास्तविक रमणीयता का उचित समावेश नही हो पाया (हिंदी भाषा तथा साहित्य डा० उदयनारायण तिवारी), पृ० 141
तथा देखिए हिंदी-साहित्य का इतिहास (रामचद्र शुक्ल) और हिंदी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

15 रसज्ञ रंजन—(आचार्य महावीरप्रसाद, द्विवेदी) पृ० 23

16 प्रकृति और काव्य (डा० रघुवंश) पृ० 158

17. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग (डा० उदयभानु सिंह), पृ० 92

गहरे तक कला के जीवनवादी परिवेश में जमी हुई है। दूसरे रूप मे उनके इस जीवन मूलक सत्य को देश प्रेम, हिंदी प्रेम, प्रकृति प्रेम तथा देशोद्धार की कामना के अतर्गत देखा जा सकता है। और यह जीवनमूलक अवधारणा उनकी उन क्रियात्मक योजनाओ में देखी जा सकती है जिनके द्वारा वे 'देशीय मस्तिष्क' को सामान्य से असामान्यता की ओर ले जाने का स्वप्न देखते है। हमें तो यह लगता है कि द्विवेदी जी अपने इस जीवनमूलक सत्य के आधार पर देश को वौद्धिक जागरण की प्रेरणा और चेतना देने में सलग्न थे। इसीलिए उनकी कविताओ को विचारात्मक वर्ग की कहना उचित जान पडता है।[18] उस विचारात्मक तथ्य ज्ञान को वे समग्र भारत में प्रसारित करना चाहते थे। इसके लिए उनके पास 'सरस्वस्ती' का मच था तथा 'सरस्वती' के मच के लिए उन्होने काव्य-अध्येताओ को आकर्पित भी किया था। देखा जाए तो 'मच स्थापन' के मूल में अपने विचार भावो का सप्रेषण एक अनिवार्यता थी। कविता द्वारा अधिक लोगो का आकर्षण मिले इस वात को हम इस प्रसग मे लेते है। कविता के वारे में इसलिए क्योकि कविता के संवंध में वे पर्याप्त 'लिबरल' भी थे, उन्होने कहा भी है 'कविता का लक्षण जहाँ कही भी पाया जाए चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में, वही काव्य है।'[19] उनका यह भी विचार था कि 'कविता यदि सरस और भावमयी होगी तो उसका अवश्य ही आदर होगा।'[20] 'सरस और भावमय' दो तत्वो को उन्होने भाषा की सहजता के साथ स्वीकारा है। इसीलिए उनकी कलाचेतना की सारी जागृति 'भाषा परिसस्कार' मे सकेंद्रित हो गई थी। 'उन्होने कठोरता के साथ माँज घिस कर भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया।'[21] तथा 'भाषा की शिथिलता दूर कर उसे दृढता प्रदान की।'[22] भाषा सस्कार की यह योजना विचारो के सहज सप्रेषण की आधारभूत वात का परिणाम है। इसमें सदेह नही कि द्विवेदी जी जिस गरिमामय खडी वोली का स्वप्न देखते थे तथा जिसमें काव्य माधुरी की नव्यतम सृष्टि की परिकल्पना करते थे, ठीक उस रूप में भाषा प्रवाह हिंदी कविता को मिला है। वाद में आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा था कि 'उनकी भाषा वहुत गद्यवत् हो गई थी।'[23] सही अर्थों में वे गद्य के क्षेत्र के लेखक थे। उनमें दोनो रूप विधाओ में 'भाषा का मार्जन, अधिक है।'[24] तथा यही भाषा मार्जन भाषा को आगे चल कर सामर्थ्य शक्ति तथा काव्य गुणो से सपन्न करने की आधारशिला वनती है। द्विवेदी जी की कविताओ में कला विधान के प्रवध, मुक्तक, प्रवधमुक्तक, गीत एव गद्यकाव्य रूप उपलब्ध होते है, उन्होने सायास प्रवध काव्य रूप में किसी खण्ड काव्य या महाकाव्य की रचना नही की। महाकाव्य की रचना की प्रेरणा अवश्य द्विवेदी जी ने दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कला रूपो के सस्कार उस का प्रश्न वक्त उठता ही नही था यद्यपि द्विवेदी जी ने इस दिशा में कार्य भी किया था तथापि उनके सामने भाषा सस्कार की समस्या ही सवसे वडी समस्या थी।

---

18 द्विवेदी जी की कविता वास्तव में विचारात्मक है—हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास—(रामवहोरी शुक्ल, भगीरथ मिश्र) पृ० 194

19. रसज्ञ रजन (महावीरप्रसाद द्विवेदी), पृ० 13

20. विचार विमर्श (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी), पृ० 27

21. हिंदी साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृ० 410

22 आधुनिक काव्यधारा (डा० केसरीनारायण शुक्ल), पृ० 102

23. हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृ० 611

24. हिंदी साहित्य (वावू श्यामसुदर दास), पृ० 286

काव्य सृष्टि : एक समग्र दृष्टि

कवि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्य रचनाओ में हमें सामयिक कविताएँ, व्यग्य कविताएँ एव सोद्देश्य कविताएँ मिल जाती हैं। इन्ही तीनों आधारो पर हम एक सर्व सामान्य तथ्य का आभास पाते हैं। उनकी सोद्देश्य कविताओं मे एक आदर्श की झलक है, इसी तरह सामयिक समस्याओ के समाधान के लिए भी उनके पास अस्पष्ट-सा समाधान है, व्यग्य कविताएँ वे आदर्शच्युत जीवन भोगियो को चेतावनी देते हुए रचते हैं अतत वहाँ भी एक आदर्श की परिपूर्ति होती है। अत. कहा जा सकता है कि 'द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक थे जो समय पाकर प्रेमचद जी आदि के उपन्यास साहित्य मे फूला फला।'[25] अपितु यह भी कहा जा सकता है कि काव्य रूपों मे वह आदर्शवाद मैथिलीशरण गुप्त द्वारा भी अनुकृत किया गया है। इसी आधार पर हम आचार्य द्विवेदी के आदर्श व्यक्तित्व की काव्य सृष्टि की एक समग्र दृष्टि आदर्शवाद (साहित्यिक आदर्शवाद) को, उनकी कविता की केंद्रीय चेतना बिंदु मान सकते हैं। उनकी कविता में काव्य गुण, काव्य रमणीयता न हो तथा उसमे बेशक चमत्कार भी न हो किंतु इतना सत्य है कि उनकी कविता दृष्टि ने आगे की कविता पीढ़ी को भाषा का संस्कारित स्वरूप, आदर्श की एक भव्य प्रतिमा तथा साहित्य रचना के लिए अनेक विधाएँ दी है। द्विवेदी जी की काव्य सृष्टि को हम केवल कविता तक ही सीमित नही रख सकते अपितु हमें समसामयिक जीवन बोध को सामने रखना होगा। समसामयिक जीवन बोध परपरा के आदर्श और आदर्श के पाखडवत रूप से मुक्त होने की छटपटाहट महसूस कर रहा था। आचार्य द्विवेदी कवि रूप में पहले आदमी थे जिन्होने इस छटपटाहट के सूत्रो को पकडा तथा उन्हें एक नियमन और सचालन दिया।

---

25 हिंदी साहित्य बीसवी शताब्दी (आचार्य नददुलारे वाजपेयी), पृ० 12

द्विवेदी-काव्य : प्रयोजन और विषय

—अशोक महाजन

प्राग्द्विवेदी-युग में हिंदी कविता श्रृंगारिकता से आक्रांत थी। श्रृंगार या रतिभाव से परे भी जीवन की कुछ उपादेयता अथवा क्रियाशीलता है, इसकी ओर इस काल के कवियो का ध्यान न जा सका। अतएव मासल-सौंदर्य एव विरह-मिलन के नाना ऊहात्मक स्वरूपो तक ही कवि का कौशल सीमित हो गया। प्राग्द्विवेदी काल मे यद्यपि रीवा-नरेश रघुराज सिंह, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह आदि कवि ब्रजभाषा में रचना कर मानव-मानस को रस-सिक्त करने में प्रयत्नशील रहे परतु उनके इस प्रयास में आकर्षण का अभाव था। इसके वाद साहित्याकाश मे भार-तेंदु का उदय हुआ और उन्होने ब्रजभाषा के स्थान पर खडी वोली में रचनाओ को प्रणीत किया, लेकिन 'भारतेंदु' के अस्त और 'प्रताप' के तिरोहित हो जाने पर जव हिंदी-साहित्य पतवारहीन नौका की भाँति असहाय होकर डग-मगाने लगा, उस समय द्विवेदी जी ने आगे आकर हिंदी का नेतृत्व ग्रहण किया। उन्होंने खडी वोली को समस्त साहित्यिक अभिव्यक्तियो का माध्यम वनाकर 'गद्य-पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनो प्रणालियो द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान-सपत्ति सपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रातो मे मुक्त हस्त से वितरित की।' इससे कविता का चोला ही वदल गया और सतोगुण की सन्यासिनी के रूप में वह हिंदी रगमच पर प्रकट हुई।

काव्य का प्रयोजन

मनुष्य में सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जव उसकी साहित्य-रचना का नियत्रण करने लगता है तव साहित्य में आदर्शवाद का जन्म होता है। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियो का आदर्श समाज में एक सात्विक ज्योति जगाता था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, श्रृंगार के विलासवैभव का निषेध—ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं। यद्यपि अपने कवि-जीवन के आरभिक वर्षों मे सस्कृत के अतिश्रृगारिक काव्यो को सब के पढने योग्य वनाने के लिए द्विवेदी जी ने सस्कृत के वैराग्य शतक, गीत गोविद, महिम स्तोत्र, ऋतु सहार, श्रृगार शतक और गगा स्तवन के छदोवद्ध अनुवाद किए लेकिन उनकी वाद की रचनाओ का प्रयोजन 'कातासमति तथोपदेश' ही रहा। द्विवेदी जी की मौलिक रचनाएँ वस्तु की केवल व्यजना करती है, वे अतर के तारो को झनझनाती नही, वरन् वाहर ही ठकठक करके चुप हो जाती हैं। "द्विवेदी जी के खडी वोली के आरभिक पद्यो में अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के विषय का अनियम भी थोडा-बहुत क्यो न हुआ हो, पर एक नई परिपाटी-भावाभिव्यक्ति की तीखी, लाइन-क्लियर की-सी स्वच्छ-सपाट शैली—अवश्य चल निकली है जिसमें सस्कृत का-सा दूरान्वय दोष या अर्थक्लिष्टता कही नही है। कविता जिस प्रकार की सौंदर्य सामग्री का व्यवहार कर अतर का मधुर रस उच्छ्वसित करती है, उसका स्पर्श करने मे द्विवेदी जी जैसे लोक-लाज से डरते रहे हो।"

द्विवेदी जी के काव्य में रवीद्र वावू की तरह न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का मार्जन करती है और समयानुकूल सरल उदात्त भावो का भी सत्कार करती है। द्विवेदी जी की कविताएँ कपास की भाँति नीरस होते हुए भी गुणमय फल देती है। लेकिन सौंदर्य की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओ को इतिवृत्तात्मक मात्र कहना हृदयहीनता है। उनकी सभी रचनाओं को आद्योपान्त

रव भाव—उनमें रति, करुणा, हास्य, निर्वेद, जुगुप्सा, क्रोध आदि भावो की विविधता है। उन विविध भावो
उनमें ग्रगतन के नीचे एक अन्त सलिला सरस्वती की धारा भी है जो इस बात की प्रतीक है कि हिंदी के प्र
उनकी सदा सात्विक श्रद्धा भावना रही है।

सामाजिक क्रांति के पक्षपाती

परम्परागत धर्माचार के नाम पर बालविधवाओ को बलात् अविवाहित रखना, समय और समाज की मूढ
एवं नृशंसता है। अतएव शोकार्त बाल-विधवाओ की कारुणिक दशा से द्विवेदी जी अभिभूत हुए विना न रह सके
'बालविधवा विलाप' मे उन्होंने एक बाल विधवा का मर्मस्पर्शी चित्र खीचा है -

उच्छिष्ट, रुक्ष, अरु नीरस अन्न खैहो,
चाडलिनीव मुख बाहर मूँदि जैहो ।
गालिप्रदान निशिवासर नित्य पैहौं,
हा हत ! दुखमय जीवन यो वितैहौ ।।
रडे ! तुही अवसि मत्सुत लीन खाई,
त्वमातु नाथ ! जब तजिहू यो रिसाई ।
ह्वैहे इहै जब महीप मताधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित जाउ तहाँ समाई ।।

इसके अतिरिक्त 'कान्यकुब्ज अवला विलाप' और 'ठहरौनी' में अवलाओ के प्रति सहानुभूति की निदर्श
परवर्ती द्विवेदी युग की सामाजिक कविता की विशेषता है। विधवा विवाह को धर्मसंगत वतलाते हुए द्विवेदी जी
हिंदूधर्म की कठोर रूढ़ियो के विरुद्ध लेखनी चलाई। उन्होने कहा कि ईश्वर की प्रसन्नता मूर्तिपूजन, गंगास्नान
तथा संध्योपासन मे नहीं है। परिणामस्वरूप टीकाधारी कट्टर कान्यकुब्जो ने क्रोधांध होकर उन्हें नास्तिक तक क
डाला। 'कथमहं नास्तिक' द्विवेदी जी के उसी आहत हृदय की धार्मिक अभिव्यक्ति है।

द्विवेदी जी की राष्ट्रीय कवि भावना

द्विवेदी जी वस्तुत गातरकारी सूत्रधार थे। वे देश की तत्कालीन अधोगति से क्षुब्ध थे। इसीलिए उ
दिनो उन्होंने लिखा था—

यदि कोई पीडित होता है,
उसे देख सब घर रोता है,
देश दशा पर प्यारे भाई,
आई कितनी वार रुलाई।

इतना ही नहीं, द्विवेदीजी ने भारत के सुनहले अतीत का वर्णन करते हुए कहा था—

जहाँ हुए व्यास मुनि प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्यभूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ।

राष्ट्र विकास के लिए नागरिको मे एकता होना अत्यावश्यक है —

हिंदू-मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई-भाई,
सबके सब तेरे शैदाई, फूलो-फलो स्वदेश।

द्विवेदी जी के मत मे, वह व्यक्ति पशु होता है, जिसमें अपने देश के प्रति संमान और गौरव-भाव नही होत

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नही नर पशु निरा है और मृतक समान है।

आचार्य द्विवेदी और छायावाद

सुधाकर पांडेय

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी के ऐसे विधायक के रूप में इतिहास मे प्रतिष्ठित है, जिनका कृतित्व 20वी सदी के आरभ के दो दशको तक अनन्य श्रीसपदामय है। हिंदी काव्य-मदिर में खडी बोली की कविता के प्राण प्रतिष्ठापक तक तथा कथा साहित्य की दीपशिखा के ज्योतिवर्द्धक के रूप में भी उनका मान सदैव से श्रद्धावदित रहा है। 19वी सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी साहित्य ने काव्य के क्षेत्र में जिस नवीन चेतना को जन्म दिया, उसको सयम एव अनुशासनपूर्वक यौवन के द्वार तक पहुँचाने मे दिए गए आचार्य द्विवेदी के योगदानके सुफल से हिंदी साहित्य में नई क्राति की प्रभा का उदय हुआ। इस अनुष्ठान की साधिका 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होने हिंदी भाषा और भाव के आदोलन मे नवीनता का पक्ष लिया। काव्य की भाषा के क्षेत्र में 'हिंदोस्थान' द्वारा उठाए गए आंदोलन को, जो नवीन भाषा (खडी बोली) को काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का पक्षपाती था, वद्विवेदी जी ने एक परिपुष्ट आधार-मात्र ही नही दिया अपितु एक ओजस्वी रूप एव रग भी दिया। वे केवल भाषा के क्षेत्र में ही नवीनता के पक्षपाती नही थे अपितु भाव के क्षेत्र में भी वे उसके समर्थक, आराधक एव प्रतिष्ठापक है। वे ऐसे कृतिकार थे जिसका अपना आदर्श था और जिसकी परपरा इस धरती की सपत्ति थी। उनकी इस मान्यता में युग की आकांक्षापूर्ति का सकल्प भी था। उनकी इस नवीनता की उपासना के मूल में सहज व्यावहारिक शिष्टाचार मात्र नही, एक ऐसा सकल्पात्मक आदर्श भी था जिसकी अनुभूति द्विवेदी जी ने युग की आवश्यकताओ से अनुप्राणित होकर अध्ययन, लोकदर्शन तथा अपने चिंतन के आधार पर की थी। उनके इस सकल्प में अडिग आस्था का स्वाभिमान, निस्पृह कर्म की कठोरता एव एकात निष्ठा की एकागिता थी। वह साहित्य का मूल जनमगल को स्वीकार करती थी, न कि व्यक्तिपरक एकात राग-विराग को।

ऐसे सकल्प वाले व्यक्तित्व कर्म एव पुरुषार्थ के आगार होते है तथा धुन के धनी भी। वे सामान्य जीवन के आचार-व्यवहार में भी कर्मयोगी की सहज स्थिति में रहने के अभ्यासी हो जाया करते है। इसलिए उनके ओज के ताप से अनेको को जलन एव उनकी सिद्धि श्री के प्रसाद से वचित रहने के कारण अनेको को अतृप्ति का बोध होता है। ऐसे अनेक मिल कर रागविराग से भरपूर हो ऐसी शक्ति का विरोध करते है। यह विरोध स्वत अपने मे महत्त्व-हीन होता है, और क्षणिक भी पर ऐसे कुछ लोगो का विरोध अपना महत्त्व रखता है, जिनके जीवन का सत्य ऐसे मनीषियो के नियति कार्यकलाप की भावपरिधि में अपना प्रतिरूप न पाने के कारण उनका विरोधी हो जाता है। यदि ये शक्तिशाली और लगनशील हुए तो अपना नया मार्ग निर्मित करते है अन्यथा ये भी एकात असंतोष के ताप मे स्वयं को स्वाहा कर लेते है। ऐसी स्थिति में युगविधायक स्रष्टा का कर्म एक ओर जहां उसे नवीन की स्थापना के लिए अपने व्यक्तित्व को प्राचीन के विलोम में खडा करता है वही उसे सत्यानुभूति लसित भावी नवीनता के विरोध का भी सामना करना पडता है। क्योकि वह अपने सकल्प को मंगल रूप देने के कारण और अधिक नवीनता को स्थान नही दे पाता। काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व ऐसे ही महारथी का व्यक्तित्व है।

---

1. श्री राजा रामपाल सिंह, कालाकाकर नरेश द्वारा इग्लैंड मे हिंदी एव अंग्रेजी में सन् 1833 में हिंदी की सेवा के लिए प्रकाशित पत्र जो सन् 1885 में हिंदी दैनिक होकर यही से प्रकाशित होने लगा।

उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी काव्य मे खड़ी बोली को काव्य की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित किया। साथ ही हिंदी काव्य की परिधि में विषय की दृष्टि से नवीन भावभूमि की स्थापना भी की। हिंदी काव्य को नए रूप, रंग तथा साज-सज्जा से सुसज्जित करने के इस अनुष्ठान मे उन्हे कुछ ऐसे सहज भावो की उपेक्षा भी करनी पडी जिनका स्वस्थ जीवन में सनातन है। समाज मे हो रहे चतुर्दिक सुधार-परिष्कार का दर्पण वे साहित्य को मानने वाले ऐसे मनीषी थे जो गद्य और पद्य दोनो की भाषा का नियमन, सस्कार एव परिष्कार एक ही सूत्र से करना चाहते थे। इसलिए सस्कृत साहित्य से स्नात होते हुए भी हिंदी पद्य मे इतिवृत्तात्मकता एव गद्य की नीरसता को द्विवेदी जी ने सरक्षण दे प्रवर्धित किया। यह कार्य उन्होने निरकुश होकर किया।

इस निरकुशता का कारण यह भी हो सकता है कि इनके पूर्व जिन लेखको ने ऐसे युगविधायक कार्य किए थे या तो अपने व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियो के कारण तत्कालीन साहित्य मे अपना एकछत्र शासन स्थापित नहीं कर पाये थे या ऐसे मडलो के द्वारा वे अपने आदर्श को रूपायित करते थे जिनमे एक ही वय और विद्या के अनेक व्यक्ति हुआ करते थे। ऐसे मडलो द्वारा सपन्न होने वाले कार्य परस्पर विचार विनिमय के कारण स्वत अनुशासन एव सयम की रेखा अपने लिए बना लेते थे। पर द्विवेदी जी के साथ ऐसी बात नही थी। उनके सरक्षण मे प्रवर्धित होने वाले साहित्य के स्रष्टा प्राय उनके या उनके विचारो के विशुद्ध अनुगामी मात्र थे। इसलिए आचार्य का विवेकमात्र ही उन सबका नियता बना जो सरस्वती-मडल के प्रमुख कवि थे। इसलिए द्विवेदी जी मे निर्माता के साथ ही साथ शिक्षक का वह गुण भी था जो आदर्श के प्रसार के लिए अकुश और अनुशासन का प्रयोग विहित मानता है। काव्य के क्षेत्र मे इसीलिए वे एक कठोर शास्ता के रूप मे भी प्रतिष्ठित हैं।

उनका यह अकुश या अनुशासन हिंदी काव्य जगत पर तब तक बना रहा जब तक सरस्वती (सन् 1903–20 ई०) उनके सपादन में थी। इस बीच भी उनकी काव्यगत मान्यताओ का प्राचीन एव नवीन दोनो ओर से विरोध हुआ, पर वे विरोध झझा मे उठने वाली हिलोरो से अधिक महत्त्व के नही। उनकी पदनिवृत्ति के साथ ही हिंदी काव्य जगत में नई कविता के आदोलन ने वेग ग्रहण किया।

नई कविता के समर्थन का प्रबल आदोलन 'सरस्वती' के ही विशिष्ट लेखक तथा कवि प० मुकुटधर पाडेय ने श्री शारदा में प्रकाशित अपने निबध हिंदी काव्य में छायावाद से आरभ किया। यद्यपि प० महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सपादक-पद से निवृत्त हो गए थे तो भी हिंदी की गति और प्रगति पर न केवल वे ध्यान रखते थे अपितु उसे स्वस्थ और नई दिशा देने का सकेत भी करते रहते थे। इसी शृखला मे उन्होने मई, 1927 की 'सरस्वती' मे 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक निबध 'सुकवि किंकर' के नाम से प्रकाशित कराया। जिस समय यह निबध प्रकाशित हुआ उसके पूर्व ही 'आँसू' का प्रथम सस्करण प्रकाशित हो चुका था। निराला और पत का साहित्यिक विवाद प्रारभ हो चुका था। छायावाद की रचनाएँ अपना स्थान व्यापक बना रही थी। यह सब हो तो रहा था, किंतु अब तक 'छायावाद' का न तो कोई स्वरूप स्पष्ट हुआ था और न इसके समर्थको की ओर से स्पष्टतापूर्वक कोई मान्य बात ही स्थापित की जा सकी थी। 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' के बीच की विभाजन-रेखा का स्पष्ट सकेत देना तो दूर उसके समर्थक इसके सबध में ऐसी ऐसी बाते कह रहे थे, जिनसे बाद में वे स्वय ही मुकर गए। कही महाकवि रवींद्र बाबू की साक्षी दी जाती थी, कही ईमाडयो के 'फैंटास्माटा' या सिबोलिज्म की दुहाई बोली जा रही थी। कही इसे शैली और कही इसे वाद के रूप मे उपस्थित किया जा रहा था। इतना ही नही, उपनिषद

पं० देवीदत्त शुक्ल का सरस्वती हीरक जयती ग्रंथ में 'सरस्वती के इतिहास का सिहावलोकन, शीर्षक निबध, पृ० 31–32/31 दिसम्बर—1961

3 श्री सेठ गोविंददास जी के सरक्षकत्व तथा श्री नर्मदाप्रसाद मिश्र बी०ए०, विशारद के सपादकत्व मे शारदा-भवन पुस्तकालय, जबलपुर से प्रकाशित।

4 श्री शारदा वर्ष 1, संख्या 5, जुलाई 1920, पृ० 277 तथा वर्ष 1, संख्या 6, सितबर 1920, पृ० 640.

से लेकर यूरोप के रोमांटिसिम तक को इजस कविता का आधार वताया जाता था। ऐसी अराजक स्थिति में इस निवध का प्रकाशन हुआ।

इस निवध के प्रकाशन के साथ ही उस पक्ष की ओर से द्विवेदी जी पर प्रवलतम प्रहार आरभ हुए जो पक्ष छायावाद का समर्थक था। इस विरोध मे द्विवेदी जी के निवधगत विचारो के विरोध का यत्न कम, उनके अर्जित के अजेय व्यक्तित्व के प्रति आक्रोश की भावना अधिक थी। इसका कारण ढूँढने अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। श्री नददुलारे वाजपेयी ने 'सत्समालोचना' शीर्षक अपने तत्कालीन निवध में ऐसे विरोधो के कारणो को यो स्पष्ट करने का यत्न किया है—"इस प्रकार के वैयक्तिक आक्षेपो का उद्देश्य अधिकतर पुराने वैर का प्रतिकार हुआ करता है। इस पुराने वैर का आधार या तो कोई साहित्यिक मतभेद होता है या परनिंदा—व्याज से अपनी प्रशसा की इच्छा होती है।"[5] छायावाद के सबध में बाबू श्यामसुदर दास ने प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में कहा था कि— 'हाँ, इस युग में कविता में एक विशेषता हुई। अब लोग खडी बोली में भी कविता करने लगे हैं और इस प्रकार की कविता का प्रचार वढ रहा है। यह अवश्यभावी और अनिवार्य है, पर छायावाद और समस्यापूर्ति से हिंदी कविता को वडी हानि पहुँच रही है। छायावाद की ओर नवयुवको का झुकाव है और जहाँ वे गुनगुनाने लगे कि चट दो चार पद जोडकर कवि वनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओ का अर्थ समझना कुछ सरल नही है। कविता लिखने के अनतर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझाने में असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवीद्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिंदी मे हो रहा है। उस कवि-श्रेष्ठ की विद्या-बुद्धि की समता करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ ऐसी बातें कह जाना जिसका कोई अर्थ ही न समझ सके, ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगे हैं। खडी बोली के वढते हुए प्रचार को देखकर और उससे भय-भीत होकर कुछ पुरानी लकीरो के फकीरो ने समस्यापूर्ति की धूम मचा रखी है। उसी मुक्तक काव्य को, जिसने हिंदी कविता का इतना अनिष्ट हुआ है, पुनर्जीवित करने का प्रयत्न हो रहा है। कवि समेलनो की धूम भी इस कार्य में सहयोग देकर हिंदी कविता का अनिष्ट साधन कर रही है।"[6]

यद्यपि वाबूसाहब का यह भाषण 'सरस्वती' के साथ ही साथ अनेक पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुआ था तो भी छायावाद के प्रति ऐसी धारणा रखने के कारण वे किसी भी आक्रोश के शिकार नही हुए पर आचार्य द्विवेदी पर वरसे, सयम और सद्भाव की मर्यादा को तिलाजलि तथा वय के मान को ताक पर रख कर।

अच्छा होगा कि 'छायावाद' के प्रति उस निवध में व्यक्त की गई मान्यताओ का पहले दर्शन कर लिया जाए। उन्होने निवध के प्रारभ में ही छायावादी कवियो के आराध्य रवि वावू की अर्द्धशताब्दी तक की गई साहित्यिक तपस्या की श्रद्धापूर्वक वदना की है, साथ ही प० मथुराप्रसाद मिश्र के त्रैमासिक कोश में मिस्टिक तथा मिस्टिकल शब्द के दिए गए अर्थ-गूढार्थ, गोप्य, गुप्त, और रहस्य के आधार पर छायावाद की निम्नलिखित शब्दो में व्याख्या प्रस्तुत की। "छायावाद से लोगो का क्या मतलब है, कुछ समझ में नही आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावो की छाया यदि अन्यत्र जाकर पडे तो उसे छायावाद कहना चाहिए।"[7]

द्विवेदी जी पहले व्यक्ति ठहरते हैं जिन्होने इस निवध के माध्यम से अधिकारपूर्वक कहा कि "रहस्यमयी कविता और छायावाद के अतर को स्पष्ट रूप से उपस्थित करना चाहिए न कि दोनो को एक मान कर किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न करना चाहिए।"[8]

---

5 माधुरी, वर्ष 7, खड 1, सख्या 1, अगस्त-सितवर, 1928, पृ० 108।

6 सरस्वती, भाग 28, खड 1, जनवरी 1927, पृष्ठ 6।

7. सरस्वती भाग 28, सख्या 5, मई 1927, पृष्ठ 526।

8 सरस्वती, भाग 28, स० 5, मई 1927, पृष्ठ 526-527

उस निबंध में निश्चय ही उन्होंने ऐसे कवियो का विरोध किया था जो स्कूल छोडते ही कमर कस कर वह कार्य कर दिखाने के लिए उतावले हो रहे थे जो काम रवींद्रनाथ ने 40 वर्ष के सतत् अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया था। उनकी मान्यता थी कि रवि बाबू के ढग की रचना ऐसे अनुभवहीन लोगो द्वारा 'विघ्यस्तरेति सागरम्' की उक्ति को चरितार्थ करना है। इसलिए उन्होंने तत्कालीन छायावादी काव्य मे व्याप्त आडबर, अस्पष्टता तथा अर्थहीनता का विरोध किया। उन्होंने इस अस्पष्टता का कारण क्लिष्ट कल्पना और शुष्क शब्दाडंबर को माना है तथा काव्य में लालित्य और माधुर्य के पक्ष का सहज समर्थन भी किया है। इस निबध में विरोध किया गया था विलक्षणता का और कुछ असमर्थ लोगों की अहमन्यता का। इस निबंध में स्पष्ट रूप से द्विवेदी जी ने तीन-चार छायावादी कवियो की काव्यशक्ति को सराहा है, साथ ही हितचिंतना की दृष्टि से 'छायावाद' के संबध में अपना विचार प्रकट करते हुए उन्होंने छायावाद मे व्याप्त असत् विचारो से मुक्ति के लिए छायावादी कवियो से निवेदन भी किया है ताकि वे अपने उद्देश्य में विजय प्राप्त करें।[10] इससे यह स्पष्ट ही प्रकट होता है कि वे छायावाद के कवियो के उद्देश्य के विरोधी नही थे और तीन-चार व्यक्तियो की काव्यशक्ति के प्रशंसक भी थे।

इतना होते हुए भी नवीनता के उत्साह के प्रवाह में छायावाद का कट्टर समर्थन इसी निबध को आधार बना कर श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड और रामनाथ सुमन ने किया।[11] इसके साथ ही छायावाद के समर्थन के आदोलन को नददुलारे वाजपेयी के निबंधो से विशेष बल मिला।[12] आज यदि इन निबंधो का दर्शन किया जाए तो वे निबध द्विवेदी जी द्वारा उठाए गए प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत करते हुए नही दीखते, अपितु ऐसे लगते है मानो जबर्दस्ती किसी बात का समर्थन करने के लिए परिकरबद्ध हैं। बाद में इन्ही लेखको द्वारा 'छायावाद' के संबंध में लिखे गए निबंधो मे उन आरोपो को सत्य स्वीकार किया गया है जिन्हें द्विवेदी जी ने अपने इस निबध में व्यक्त किया था। इस प्रकार द्विवेदी जी की इस विचारसरणी के वे अनुमोदक मात्र ही सिद्ध नही हुए, उनकी दृष्टि की व्यापकता एव सारग्राहिता के प्रमाण भी बने।

वस्तुस्थिति तो यह दीखती है कि छायावाद की हितचिंतना की दृष्टि से ही द्विवेदी जी ने यह निबंध लिखा था। इसके सबध में केवल यह साक्ष्य ही पर्याप्त नही होगा कि 'छायावाद' के संबध में उनके द्वारा की गई भविष्यवाणी का अधिकाश अब इतिहास का सत्य हो गया है, अपितु छायावाद के प्रवर्द्धन एवं सरक्षण के लिए किए गए उनके कार्यों को भी देखना होगा।

'छायावाद' के विकास मे उनके योगदान की बात उन्हे आश्चर्यजनक लग सकती है, जिन्होंने 'सरस्वती' का पूर्णरूप से दर्शन नही किया है। किंतु उनके इस कृतित्व का परोक्ष समर्थक आचार्य रामचद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' भी है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'खडी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे संतुष्ट न रह कर द्वितीय उत्थान में कई कवि खडी बोली के काव्य को कल्पना का नया रूप-रग देने और उसे अधिक अंतर्भाव व्यजक बनाने में प्रवृत्त हुए, जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँग्रेजी ढर्रा लिए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (लिरिक्स) बँगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु विन्यास और अनूठे शीर्षको के साथ चित्रमयी कोमल और व्यंजक भाषा मे इनकी नए ढंग की रचनाएँ सं० 1970-71 से ही निकलने लगी थी। जिनमें से कुछ के भीतर रहस्य भावना भी रहती थी।"[13]

---

9. सरस्वती, भाग 28, संख्या, 5, मई 1927, पृष्ठ 526-527.
10. वही, पृष्ठ
11 देखिए, माधुरी, वर्ष 5, सं० 6, 6 जुलाई 1927, पृ० 786, तथा श्री गौड की पुस्तक 'साहित्यप्रवाह' पृ० 32, तथा माधुरी, वर्ष 7, खड 1, सं० 1, अगस्त-सितंबर, 1928 पृ0 162.
12 हिंदी साहित्य: बीसवी शताब्दी।
13. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 618 (स० 2018 वि०).

ऐसी रचनाओ का क्रमविकास दिखाते हुए श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'नक्षत्र निपात', 'अनुरोध', 'पुष्पाजलि' एव 'स्वयं आगत की' ओर उन्होने ध्यान आकृष्ट किया । ये रचनाएँ 1914 से 1918 के वीच की है ।[14] इसके साथ ही श्री वदरीनाथ भट्ट[15] और मुकुटधर पाडेय की रचनाओ की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया । भट्ट जी की 1913 की रचना 'दे रहा दीपक जल कर फूल' और श्री मुकुटधर पाडेय की 'आँसू और उद्गार' शीर्षक रचनाओ को इस मान्यता के साक्ष्य के रूप में उपस्थित किया है । उनके अनुसार मुकुटधर जी वरावर नूतन पद्धति पर ही चले ।[16] गप्त जी के सवंध में उन्होने यह स्पष्ट किया है कि वे किसी विशेष पद्धति या वाद में न रह कर कई पद्धतियो पर चलने वाले कवि ह ।

शुक्ल जी की इस मान्यता को अपने शोध-प्रवध 'हिंदी साहित्य का विकास, (1900–25) में श्रीकृष्णलाल ने इस रूप में समर्थन दिया है—"स्वच्छदता का दूसरा चरण केवल साहित्यिक आंदोलन मात्र न था, वरन् वह कलात्मक और दार्शनिक आदोलन भी था। उसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त भावना तथा प्रेम और वीरता को अपनाने की तीव्र आकाक्षा, अलभ्य श्रम से उद्भूत एकात वेदना और अनंत निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक वृत्तियों का प्रदर्शन था। यह द्वितीय आदोलन 1914 के आसपास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय, राय कृष्णदास, वदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की स्फुट कविताओ से आरभ होता है, किंतु इसका वास्तविक प्रारभ 1918 से मानना चाहिए जव से प्रसाद, सुमित्रानदन पत और निराला की नवीन शैली की कविताओ का प्रकाशन होता है ।[18]

छायावाद के विकास क्रम की इन मान्यताओ को हिंदी जगत की स्वीकृति प्राप्त है । ऐसी रचनाएँ जिनका उल्लेख इन समालोचको ने किया है उनसे उस 'सरस्वती' का क्या सवध था जिसके साक्षात् सपादक श्री द्विवेदी जी थे, अव इसे देखना अप्रासगिक न होगा । छायावाद के वीजविंदु स्वरूप प्रकाशित इन रचनाओ को यदि द्विवेदी जी की सरस्वती ने प्रश्रय दिया है तो निश्चय ही काव्य के इस रूप के विरोधी के रूप में उन्हे उपस्थित करना शालीनता और इतिहास की मर्यादा भग करना है ।

श्री मुकुटधर पाडेय की दो रचनाओ में से कुछ अश, उनके शीर्षक 'आँसू' और 'उद्गार' का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने इस प्रसग में दिए है और विना शीर्षक के एक रचना[19] का एक अश उन्होने उद्धृत किया है। 'आंसू'[20] का प्रकाशन 'सरस्वती' में दिसवर 1916 में 'विश्ववोध'[21] का उसी में दिसवर 1917 में तथा 'उद्गार'[22] का प्रकाशन अप्रैल 1918 में हुआ है । मैथिलीशरण गुप्त की 'अनुरोध'[23] 'नक्षत्रनिपात'[24] 'स्वय आगत'[25] 'पुष्पाजलि'[26] शीर्षक रचनाएँ भी यही प्रकाशित हुई है । वदरीनाथ भट्ट की जिस रचना का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है वह भी

---

14. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 618 स० 2018 वि०
15. वही, पृ० 620.
16. वही, पृ० 619.
17 वही पृ० 621.
18 हिंदी परिषद् प्रयाग से 1948 में प्रकाशित।
19 'सरस्वती' में 'विश्व वोध' शीर्षक से प्रकाशित ।
20 देखें पृ० 402, वही ।
21. वही, पृ० 326 ।
22. वही, पृ० 212-13 ।
23. सरस्वनी, अप्रैल 1915, पृ० 209-10 ।
24. सरस्वती, जून, 1914, पृ० 304 ।
25. सरस्वती, नववर, 1918, पृ० 227-228 ।
26. सरस्वती, जून 1917, पृ० 303 ।

'मरस्वती' में ही सन् 1913 में प्रकाशित हुई है डा० श्रीकृष्णलाल ने रायकृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की जिन रचनाओं का प्रसग मे नाम लिया है वे भी इसी काल की 'सरस्वती' की ही देन है। इतना ही नही 'छायावाद' की चिरपरिचित 'स्वप्न' शीर्षक प्रतिनिधि रचना भी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी ।

'सरस्वती' में 'छायावाद' की इस प्रतिनिधि रचना तथा अन्यान्यो का प्रकाशन इस मान्यता को सपुष्ट करता है कि द्विवेदी जी ने अपने विचार छायावाद के हित की दृष्टि से ही प्रकट किए थे, क्योकि उन्होने छायावादी पद्धति की रचनाओ को 'सरस्वती' द्वारा ऐसी स्थिति मे व्यापक प्रकाशन दिया जिसमें किसी प्रकार का प्रतिवध उन पर नही था। वे तो केवल उन्ही रचनाओ को प्रकाशित करने के लिए ख्यात है, जो उन्हें रुचिकर लगी। उनका वास्तविक विरोध तो छायावाद के असद् पक्ष से था, ऐसे पक्ष से जिसे छायावाद के तत्कालीन समर्थको ने और स्वय छायावादी शीर्पस्थ कवियो ने भी वाद में अग्राह्य माना। अपरिपक्वता, आडवर, अक्षमता और अनुकरण के विरोध का शतश स्वागत होना चाहिए था और तत्वामिनिवेपी दृष्टि तो सदा से ही इनका विरोध करती चली आ रही है । इस दृष्टि से देखा जाए तो छायावाद के सवध में द्विवेदी जी की दृष्टि तत्त्व एव मर्म से पूर्ण थी। इस सवध में यह भी निवेदन करना उचित होगा कि हिंदी के सुप्रसिद्ध नाटककार, ख्यातिलब्ध छायावादी काव्य अतर्जगत के कवि, तथा छायावाद के समर्थ आलोचको द्वारा उद्धृत कवि प० लक्ष्मीनारायण मिश्र अव अपनी उन रचनाओ को स्वस्थ मानने को तैयार नही और स्वय उन मान्यताओं के कायल हो गए है जो मान्यताएँ छायावाद के सवध में द्विवेदी जी ने इस निवध में स्थिर की थी।

इतिहास में छायावाद का उदय एक घटना है, किंतु उसका जीवन भी अत्यत अल्प रहा। यदि द्विवेदी जी द्वारा वर्जित तत्त्वो का छायावादी कवियो ने तिरस्कार कर दिया होता तो निश्चय ही छायावाद का जीवन और सुव्यवस्थित, दीर्घ एव श्रेयमय होता। ऐसी स्थिति में अव यह मानना कि द्विवेदीजी छायावाद के विरोधी थे, इतिहास के सत्य को तिरस्कृत करना है । इसलिए द्विवेदी जी न केवल इतिवृत्तात्मक कविता के प्रवर्द्धक मात्र के रूप में स्मरण के पात्र है अपितु 'छायावाद' के ऐतिहासिक महत्त्व के हितचिंतक भी।
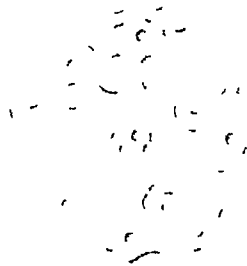
भाषा और व्याकरण

द्विवेदी जी और भाषा सुधार

पप्पूजी

भारतेंदु के आगमन के पूर्व हिंदी की दशा वडी करुणाजनक थी। लेखको के सामने भाषा का कोई स्थिर, निश्चित और सर्वसमत रूप नही था। सव अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापते थे। प्रतिभाशाली नेता के अभाव के कारण हिंदी की स्थिति वडी अस्तव्यस्त थी। राजनैतिक क्षेत्र में उर्दू और अँग्रेज़ी की धाक जमी हुई थी। उर्दू, फारसी और अँग्रेज़ी मे लिखना और वोलना लोग अपना अहोभाग्य समझते थे। लेखको की भाषा भी उर्दू के अनावश्यक भार से दवी हुई थी। सितारे हिंद परिस्थितियो के फेर मे पडकर उर्दू का प्रयोग करते थे, सदासुखलाल की भाषा पडिताऊ थी, इशाअल्ला खाँ की हिंदी लखनउआ थी, लल्लूलाल जी ने व्रजमिश्रित भाषा का प्रयोग किया। ईसाई-धर्म प्रचारको की भाषा व्याकरण की अशुद्धियो और ग्रामीण प्रयोगो से भरी हुई थी। ऐसे अवसर पर भारतेंदु जी ने सरल, प्राजल और लोकप्रिय भाषा की स्थापना की। भारतेंदु और उनकी मडली की भाषा ओज, प्रसाद और माधुर्य से युक्त थी। भारतेंदु ने अव्यवहारिक और अप्रयुक्त शब्दो का वहिष्कार किया। शब्दो को तोडने और मरोडने का क्रम वद किया और सुदर, मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया जिससे भाषा की प्रभावोत्पादकता वढ गई।

इतना होने पर भी भारतेंदु युग की हिंदी अशुद्ध थी। किसी ने परिमार्जित तथा परिष्कृत भाषा का प्रयोग नही किया। सव की भाषा पर व्रजभाषा और प्रातीयता का दवदवा था। साहित्य के इस ऊबड़-खाबड़ क्षेत्र मे पडित महावीरप्रसाद जी ने पदार्पण किया। उनका रेलवे का पद त्याग कर हिंदी क्षेत्र मे आना मानो हिंदी, हिंदी-जनता, हिंदी पाठक तथा हिंदी-लेखको के लिए शख ध्वनि करके जगाना था। द्विवेदी-युग को हम सुधार-युग कह सकते है। क्योकि उस युग मे साहित्य के सभी अगो का सम्यक रूप से सुधार हुआ। भाव, कला तथा व्याकरण की दृष्टि से भाषा का निखरा हुआ रूप हमारे सामने आया। सुरुचिपूर्ण नाटको की रचना करके उन महारथियों ने नाटककारो, प्रेक्षको और पाठको की रुचियो का परिष्कार किया। आख्यायिका, उपन्यास, निवध, समालोचना आदि के क्षेत्र में भी द्विवेदी जी ने प्रशसनीय कार्य करके पथ-भ्रष्ट लेखको को ऊपर उठाया और उनको पवित्र-मार्ग दिखाया। आधुनिक समालोचना का सूत्रधार वनने का श्रेय केवल द्विवेदी जी को ही मिला। 'सरस्वती' का सपादन करके उन्होंने उस युग के हिंदी-साहित्य के अभावो को दूर किया। इस तरह द्विवेदी जी का भाषा सवधी सुधार [illegible] महत्त्वपूर्ण है। आजकल के लेखको की भाषा मे जो शिष्ट, परिमार्जित और प्राजल रूप परिलक्षित हो रहा है उस

पर द्वेविदी जी की छाप है। इस प्रकार द्विवेदी जी को हम भापा संवधी अराजकता को दूर कर के सुव्यवस्थित भापा के संस्थापक के रूप में चिरकाल तक स्मरण रख सकते है।

सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने भापा-सुधार का यह काम अपनी ओर से आरभ किया। उन्होंने पहले अपने दोषो का सुधार किया और फिर दूसरो के लेखो की कडी आलोचना की। सपादक के पद पर रहकर उन्होंने प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओ को खूब सशोधित किया। लेखो में भापा, भाव तथा व्याकरण के दोप होते थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' में भाषा-सुधार संवधी लेख लिखते थे। इनमें वे लेखको के अशुद्ध प्रयोग दिखाते थे और उनको सचेत कर देते थे कि वे भविष्य में ऐसी त्रुटियाँ न करें। सदिग्ध विपयो पर पत्रिकाओ में वाद-विवाद और चर्चाएँ होती थी। 'वादे वादे तत्त्ववोधे' के अनुसार अत में असली तत्त्व निकलता था। सैंव लेखक उनके निर्णय को मान्य समझ कर उसके अनुसार चलते थे। कारक चिह्न शव्दो के साथ मिला कर लिखना चाहिए या अलग, इस सटाऊ और हटाऊ सिद्धात के पक्ष और विपक्ष में वडे-वडे दिग्गज पडित अपना-अपना मत पत्रिकाओ के द्वारा लोगो पर प्रकट करते थे। यह वाद-विवाद और खडन-मंडन कई महीनो तक चलता रहा। इस सिद्धात पर खूव वहसें चली। अत मे वे एक निर्णय पर आ गए। 'इये' लिखना चाहिए या 'इए', 'शास्त्रीय पद्धति' या 'शास्त्र पद्धति'। उस समय वहुत से लेखक कर्म के साथ 'को' लगा कर क्रिया को पुलिग एकवचन में रखते थे जैसे "उद्दड और हठी वालक को रखा जाता है, इन विद्यार्थियो को अध्यापक वनाया जाय"। द्विवेदी जी ऐसे प्रयोगो को अशुद्ध वताकर उनको इस प्रकार ठीक करते थे— "उद्दड और हठी वालक रखे जाते है, ये विद्यार्थी अध्यापक वनाए जाएँ"। एक वार द्विवेदी जी विश्वनाथ प्रसाद से वातचीत कर रहे थे। वातो के सिलसिले में द्विवेदी जी ने कहा—आप 'सरस्वती' ध्यान से नही पढते। सरस्वती की अपनी निजी शैली है। वह मै आपको वताता हूँ। 'लिये' शव्द जव लेने के अर्थ में प्रयुक्त होता है तव 'य' कार से लिखा जाता है और जव विभक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है तव 'ए' कार से लिखा जाता है। जव एक वचन शव्द के अत मे 'ये' कार होता है तव वहुवचन में भी 'य' कारात होना चाहिए। जैसे लिया-लिये, किया-किये, पर स्त्रीलिंग मे 'ई' लिखा जाता है। विदेशी शव्दो के योग के वारे में द्विवेदी जी के विचार देखिए— 'हिंदी एक जीवित भापा है। उसे किसी परिमित सीमा में वद कर रखने से उसकी वडी हानि होने की सभावना है। दूसरी भापाओ के शव्द और भावो को ग्रेहण करने की शक्ति रखना सजीवता का लक्षण है। केवल यह देखना चाहिए कि हिंदी उन्हे पचा सकती है या नही, वे हिंदी के अनुकूल है या नही। मकान, मालिक, रुपया, नोट, स्टेशन हिंदी में खप गए। विदेशी नही रहे।'

इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदी जी हिंदी के महान लेखक ही नही वल्कि वड़े नेता भी है। वे एक नए युग के सस्थापक, सचालक और सवर्धक है। उन्होने जनता की रुचि को परिष्कृत किया। हिंदी को एक स्थिर, सुचारु और सुघटित रूप दिया। हिंदी वाटिका को कूडा करकट से वचाकर उसे साफ-सुथरा रखा। लेखको को प्रोत्साहन देकर उन्हें व्याकरण-समत, शिष्ट, और परिमार्जित भापा लिखने की प्रेरणा दी। हिंदी के क्षेत्र में द्विवेदी जी का आगमन नही होता तो हिंदी भापा की गति वही होती जो नगाधिराज हिमालय के न होने पर भारत की गति है। इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नही है। माखनलाल जी के शव्दो में हम यह कह सकते है कि "युगसस्थापक, युग-संचालक, युगनिर्माता, हे युगमूर्ति, युग युग तक तुम्हें युगनमस्कार!"

भाषा-सुधारक आचार्य द्विवेदी

सुरेंद्रनाथ सिंह

आधुनिक गद्य और पद्य की भाषा, खडी बोली के परिमार्जन, सस्कार और परिष्कार का इतिहास पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की सूक्ष्म दृष्टि, प्रखर पाडित्य और कर्मठता का इतिहास है। भाषा की यह प्रकृति है कि वह अनेक स्रोतो से प्रभाव ग्रहण करके अभिव्यक्तिक्षम बनती है। खडी बोली के विषय में भी यह सत्य है। 19वीं शताब्दी के अत मे खडी बोली का विकास अभिव्य जना के नए-नए क्षितिजो मे हो रहा था। अनेक प्रकार के लेखक हिंदी मे आ रहे थे। कुछ पुराने ढग के पडित थे, कुछ अरबी-फारसी-उर्दू के भक्त थे, कुछ नवशिक्षित अँग्रेजी-दाँ थे। वह ऐसा समय था जबकि अँग्रेज़ी, बँगला, मराठी आदि के विद्वानो से निज भाषा की उन्नति के आकाक्षी राष्ट्र प्रेम के नाम पर आग्रह करते थे कि वे हिंदी में कुछ लिखे। परिणामत हिंदी की प्रकृति से अनभिज्ञ लेखक अन्य भाषाओं के शब्दो के अनुवाद मात्र का आश्रय लेकर टूटे-फूटे शब्दो मे कुछ सकोच और हिचक के साथ लिखने लगे। इन कारण से भी हिंदी का रूप विशृखल होने लगा। कोशो के सहारे अपने विचारो का शाब्दिक अनुवाद कर देने से हिंदी की भाव-भगिमा का ह्रास होना स्वाभाविक था। भाषा की तत्कालीन स्थिति की ओर सकेत करते हुए पं० रामचद्र शुक्ल ने लिखा है—

"इस कालखड के बीच हिंदी लेखको की तारीफ में प्राय यही कहा-सुना जाता रहा कि ये सस्कृत बहुत अच्छी जानते है, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान है, ये अँग्रेज़ी के अच्छे पडित है। यह कहने की आवश्यकता नही समझी जाती थी कि ये हिंदी बहुत अच्छी जानते है। यह मालूम ही नही होता था कि हिंदी भी कोई जानने की चीज़ है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिंदी के प्रौढ और अच्छे लेखक भी अपने लेखो में फारसीदानी, अँग्रेज़ीदानी, सस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे।

परतु यह स्थिति बहुत दिनो तक नही रही। सन् 1903 ई० में द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सपादक बने। उन्होंने अपने अदम्य व्यक्तित्व और भगीरथ प्रयत्न से भाषा की अनस्थिरता को दूर करके उसे स्थिर तथा परिनिष्ठित रूप दिया, व्याकरण की अव्यवस्था को दूर करके उसे व्यवस्था प्रदान की।

इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होने दूसरो की भाषा का सुधार करने से पहले स्वय अपनी भाषा का सुधार किया। उनकी प्रारभिक रचनाओ में तत्कालीन लेखको की कृतियो में पाए जाने वाले अधिकाश भाषा-दोष प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। साहित्य-साधना के बल पर उन्होंने भाषा पर अधिकार प्राप्त किया। उनकी बौद्धिक इयत्ता के विकास के साथ ही साथ उनकी भाषा भी प्राजल और परिष्कृत होती गई। आचार्य द्विवेदी की महत्ता केवल इस बात मे नही है कि उन्होने स्वय व्याकरण-संमत भाषा का प्रयोग किया बल्कि उनकी

असाधारण गरिमा का आधार यह है कि उन्होने अन्य लेखको को टकसाली भाषा में लिखने की प्रेरणा दी, उनकी लिखी हुई रचनाओ का अपेक्षित सुधार किया और उनका मार्ग-दर्शन करके उन्हें इस योग्य बनाया कि वे कालातर में हिंदी के विख्यात साहित्यकार बन सके।

द्विवेदी जी खडी बोली को परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्रदान करने के लिए दृढसकल्प थे। 'सरस्वती' के सपादक का पद ग्रहण करने पर उन्होने इस आवश्यक कर्तव्य का सपूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह किया। अनेक बोलियो और भाषाओ के बोलने वाले लोगो की हिंदी में अनेकरूपता की मात्रा अधिक थी। राष्ट्रीय आदोलन की विचार-वाहिका खडी बोली हिंदी के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसे नियमो से अनुशासित हो, जो लोक प्रचलित, सर्व-ग्राह्य और सर्वोपयोगी हो, उसे ऐसे आचार्य का निर्देशन प्राप्त हो जो स्वय आदर्श हो, जिसके मन में हिंदी के प्रति भक्ति और जिसकी वाणी मे शक्ति हो। द्विवेदी जी मे ये विशेषताएँ अपने भव्य रूप मे उपस्थित थी। इसीलिए वे भाषा-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य का सफलता से सपादन कर सके।

आचार्य ने भाषा-सुधार का कार्य प्रमुखतया तीन प्रकार से सपन्न किया।

(1) दूसरो के भाषा-दोषो की तीव्र आलोचना के द्वारा,
(2) सपादक-पद से सरस्वती के लेखको की रचनाओ का सशोधन स्वय करके अथवा कभी-कभी दूसरो से करा करके,
(3) वार्तालाप, लेखो एव पत्रो के माध्यम से लेखको को उनके दोषो के प्रति सावधान करके।

(1) सशक्त ढग से तीव्र आलोचना वही कर सकता है जो अधिकारी हो, स्वय प्राणशक्ति से ऊर्ज्वस्विन हो। आलोचना ठोस रूप तभी धारण कर सकती है जब औचित्य के निकष पर खरी उतरे। उसमें आलोचक का आलोच्य कृति और कृतिकार के प्रति दुर्भाव नही बल्कि साहित्यिक न्याय व्यक्त हो। द्विवेदी जी की भाषा-सबधी आलोचनाओ में न्यायमूर्ति रूप ही सधे स्वर में निर्णय देता है। लेखक भाषा-सबंधी त्रुटियो से बचें, अपने मनमौजी असाधु प्रयोगो से भाषा को भानुमती का पिटारा न बनाएँ, इसलिए कठोर अनुशासक नेता की भाँति उनकी रचनाओं की प्रखर आलोचना करते थे। 1901 ई० मे उन्होने 'हिंदी कालिदास की समालोचना' अत्यंत प्रखर शैली मे लिखी। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य का भाषा-सबधी ज्ञान कितना गहरा और व्यवस्थित था। प्रस्तुत प्रसग में निम्नाकित उद्धरण अपेक्षणीय है—

"अनुवादक महोदय ने व्याकरण के नियमो की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है। कही क्रिया है तो कर्त्ता नही और कर्त्ता है तो क्रिया नही। कारक चिह्नो की भी अतिशय अवहेलना हुई है। जहाँ कही मूल में समापिका क्रिया है वहाँ अनुवाद मे मनमानी असमापिका और जहाँ असमापिका है वहाँ समापिका कर दी गई है। कही एक के स्थान में दो-दो तीन-तीन क्रियाएँ रखी गई है और कही एक भी नही। काल और वचन-विचार को भी अनेक स्थलो पर तिलाजलि मिली है। इन महान् दोषो के कारण भाषा पद्यो का ठीक ठीक अन्वय नही हो सकता।'

छटितम नील धार की भाँती।
सेवत विमल जोन्ह युतराती॥
कहुँ गेहन महँ चलत फुहारा।
कहुँ मनि ज्योति अनेक प्रकारा॥
कहुँ चदन घसि अग लगावत।
यहि रितु नर मन ताप नसावत॥

अब कहिए कि प्रथम दो पक्तियो का अर्थ क्या समझे? 'छटि' यह जो असमापिका क्रिया है तत्सबधी समापिका क्रिया कहाँ है? फिर इससे अर्थ क्या निलकता है, सो भी बतलाइए। हमारी बुद्धि में तो 'नील धार की भाँति तम छूँटकर जोन्हयुत विमल रात्रि का सेवन करता है' यही अर्थ भासित होता है। क्या कहना? अश्रुतपूर्व अर्थ है। अँधकार चाँदनी का सेवन करने लगा? हम प्रार्थनापूर्वक पूछते है 'नील धार' क्या पदार्थ है जिसकी

उपमा तम से दी गई है । 'सेवत' का कर्त्ता यदि 'नर' मानते है तो क्रिया काशी में और कर्ता कश्मीर मे, इस प्रकार की दशा होती है और फिर 'छटि तम नीलधार की भाँति' यह चरण विकिर पिंडवत अलग ही रह जाता है । उसका अन्वय ही नही हो सकता । फुहारे आप ही आप चलते है । मणि-ज्योनियाँ भी आप ही आप प्रकाशित होती है, परतु क्या चदन भी आप ही आप घिस जाता है ? यदि 'घसि लगावत' का कर्त्ता 'नर' है तो तीसरी और चौथी पक्ति मे उस नर का कोई कर्तृत्व नही पाया जाता । 'नर' ने यदि फुहारे और मणिज्योतियो से कुछ काम ही न लिया तो उनका होना निष्फल हुआ । अनुवादक जी के ईप्सित अर्थ को केवल योगीजन योग दृष्टि द्वारा ही जान सकते है, अन्य की गति नही जो जान सके ।"

द्विवेदी जी कटु आलोचना के साथ-साथ भाषा के परिष्कृत रूप की ओर भी सकेत करते चलते थे । चुटीली शैली में तद्भव शब्दो के अभिप्राय-रहित प्रयोग की विगर्हणा करते हुए कोमल भाव के अनुकूल सस्कृत के श्रवण-मधुर शब्दो को अपनाने की वाछा प्रकट करते है ।

'ठड' के झुड को तो देखिए । शीत और शीतल को अर्द्धचद्र देकर जहाँ कही आवश्यकता पडी है प्राय 'ठड' का ही प्रयोग किया गया है । 'चचु' अथवा 'चोच' शब्द नही आने पाया । आने पाया है 'टोट' । 'पलाश' और 'किशुक' का प्रयोग नही हुआ, हुआ है 'टेसू' का । 'पाथर ढेरी', 'धनु डोर', 'नेवाडी' की मधुरता को तो देखिए । 'कुमारसभव भाष।' मे अनुवादक जी ने 'वजे जु टुटत सप्तऋषि हाथा', 'टुटे तार की वीन समाना' लिखा था, इसमे 'टुटी माल विखरी लटे वसे अगर सनकेस' लिख दिया । 'टूटना' क्रिया से अधिक स्नेह जान पडता है । 'अस्त होना' स्यात् कटु था जिससे 'डूबना' लिखा गया । अनुवादक जी अभी तक 'ठड' के पीछे पडे थे, छोडते-छोडते उसे छोटा तो उसके स्थान में 'जाडा' लिख दिया । ईंट न सही पत्थर सही ।"

उर्दू-भक्त लेखक अरवी-फारसी शब्दो को उनके तत्सम-रूप मे लिखते थे, किंतु सस्कृत के शब्दो को ऐसा विकृत करते थे कि कही-कही अर्थ का अनर्थ भी हो जाता था । यह वात द्विवेदी जी को असह्य थी । 'भाषा सुधार और व्याकरण' लेख में उन्होने उन विभूतियो के भाषा-दोषो पर तीव्र प्रहार किए है जो अपनी 'ज़ुवादानी सावित' करने के लिए शब्दो को विकृत करते है—

"ये अरबी, फारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूती' 'लक्ष्मी' को 'लक्शमी', 'स्त्री' को 'इस्त्री', 'पाँच सौ' को 'पान्सौ', 'मेपराशि' को 'मेख (खूंटा) राशि', और 'सदिच्छा' को 'सदेच्छा' लिख कर अपनी 'ज़ुवादानी' सावित करते है । यहाँ तक कि अपना नाम लिखने मे वे 'नारायण' को 'नरायण (न)', 'प्रसाद' को 'परसाद' और 'गुप्त' को 'गुप्ता' तक कर डालते हैं । खुद तो वे 'नामोनिशान' या 'नामोनिशाँ' की जगह अक्सर 'नामनिशान' लिखते है, पर यदि कोई 'रद्दवदल' लिख दे तो उसे 'रद्दोवदल' कराने दौडते है गोया शब्दो के ठेकेदार आजम यही है । उनकी कुटिल नीति ने चाणक्य नीति को मात कर दिया ।"

(2) 19वी शताब्दी का समय आधुनिक हिंदी का शैशव काल था । अधिकाश लेखक भाषा की साधना से काफी दूर थे और अनेक प्रकाशक प्रूफ-सशोधन तक की आवश्यकता नही समझते थे । फलत मुद्रण की भी भयकर भूलें होती थी । नायक या नायिका के स्थान पर नामक या नामिका छप जाना साधारण बात थी । भाषा-विषयक अराजकता के ऐसे युग में द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सपादक बने थे । द्विवेदी-सपादित 'सरस्वती' के आरभिक अको से यह सिद्ध होता है कि उस समय समर्थ लेखको का अभाव था । अधिकाश लेखन-कार्य सपादक को अपने नाम से या छद्म-नाम से स्वय ही करना पडा । 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई स्वीकृत एव अस्वीकृत रचनाओ की पाडुलिपियाँ यह निसदेह प्रमाणित करती है कि लेखक लिखना तक नही जानते थे । शुद्धता के उपासक एव भाषा के सजग प्रहरी के लिए ये त्रुटियाँ असह्य थी । उन्होने दोष-परिहार के लिए ध्वसात्मक और भाषा-निर्माण के लिए रचनात्मक प्रवृत्ति अपनाई । उन्होने अशुद्ध रूपो की निषेधात्मक आलोचना मात्र करके सतोष नही किया वल्कि उनके शुद्ध रूपो का आदर्श भी प्रस्तुत किया । केवल यही निर्णय नही दिया कि अमुक रूप असाधु एव अग्राह्य है, अपितु आचार्य नाम को सार्थक करते हुए यह भी बतलाया कि उसका क्या रूप ग्राह्य है । 'सरस्वती' के लेखको की रचनाओ को देखने वाले यह जानते है कि किस प्रकार द्विवेदी जी ने उनकी

रचनाओ की आमूल काट-छाँट की है, उनका कायाकल्प किया है । इस प्रकार आद्योपात संशोधन के कारण रचनाएँ इतनी रंग जाती थी कि कभी कभी कपोजिटरो के लिए अपाठ्य-सी हो जाती थी। परतु धन्य है वह सूत्रधार जो कानपुर में रहता हुआ भी प्रयाग में छपनेवाली 'सरस्वती' में अशुद्धियाँ नही रहने देता था। द्विवेदी जी के तप से ही 'सरस्वती' सरस्वती वन गई ।

हिंदी के वे साहित्यकार जो अपनी भाषा शैली के लिए वहुत दिनो तक याद किए जाते रहेंगे वे भी आचार्य द्विवेदी से पाथेय ग्रहण करके अपने गंतव्य की ओर वढे थे। उनकी प्रारभिक रचनाग्रो मे अनेक प्रकार के भाषा-दोष दृष्टिगोचर होते है। द्विवेदी जी ने उनकी भाषा का एक आदर्श गुरु की भाँति सशोधन किया।

उस युग में वर्तनी की अशुद्धि साधारण वात थी। द्विवेदी जी ने भाषा को परिनिष्ठित करने के लिए उनका मार्जन करना अनिवार्य समझा। हिंदी का सर्वप्रथम व्यवस्थित व्याकरण लिखने वाले कामताप्रसाद गुरु 'उन्है', 'अनौखा', 'तौ', 'प्रगट' आदि लिखते थे। मिश्रवंधु की रचनाओ में 'आगामि', 'जलजान', 'दशावो', 'कर्त्ता है' 'पडेगा', 'प्रतिवादी' आदि का व्यवहार पाया जाता है। रामचद्र शुक्ल ने 'अस्थिपिंजर', 'अतर्ध्यान' आदि का प्रयोग किया है। अध्यापक पूर्णसिंह में तो अशुद्धियो की भरमार है—'कीया', 'वैह्', 'नौज्वान', 'चह्‌य', 'प्रेममँ साह्‌यनें' आदि। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ सज्ञा, सर्वनाम, विशेष्य, विशेषण, क्रिया, अव्यय, कारक, लिंग, वचन आदि की अशुद्धियो से भरी रहती थी। द्विवेदी जी घोर परिश्रम करके उन्हें व्याकरणसंमत प्राजल रूप प्रदान करते थे। निम्नाकित सक्षिप्त सरणी से उनके महत्वशाली संशोधन-कार्य का दिग्दर्शन हो जाएगा।

मूल	द्विवेदी जी द्वारा संशोधित
मेरा मित्र टहलने लगे (सत्यदेव)	मेरे मित्र ··· ···टहलने लगे
भाव उदय . . होते हैं (विद्यानाथ)	भाव उदित ·· ···होते हैं
उनके अभिमान का चकनाचूर हो गया (सत्यदेव)	उनका अभिमान चकनाचूर हो गया
समझी जानी लगी (रामचद्र शुक्ल)	समझी जाने लगी
भेज दिई जावें (गोविंदवल्लभ पंत)	भेज दी जाएँ
लडके लडकियाँ———लगे थे (सत्यदेव)	लडके लडकियाँ ······लगी थी
वदला लेवे (मिश्रवंधु)	वदला ले
जव—तो (सूर्यनारायण दीक्षित)	जव——तव
हर एक मनुष्य मात्र (पूर्ण सिंह)	हर एक मनुष्य
जन्म दिन को (मिश्रवंधु)	जन्मदिन पर
पत्थरो में खुदी हुई (पूर्णसिंह)	पत्थरो पर खुदी हुई
की लालच (रामचद्र शुक्ल)	का लालच
के शुद्धि (वेंकटेशनारायण तिवारी)	की शुद्धि
हमारे संतान (काशीप्रसाद जायसवाल)	हमारी सतान
जितनी स्त्री समाज है (सत्यदेव)	जितने स्त्री समाज है
योद्धो (वृदावनलाल वर्मा)	योद्धाओं
बीमाओ (मिश्रवंधु)	वीमो
यह लोग (श्रीमती वंग महिला)	ये लोग
चैतन्यता (रामचद्र शुक्ल)	चेतनता
उतपत्ति (गणेशशकर विद्यार्थी)	उत्पत्ति

इस प्रकार वाक्य के आकाक्षा, योग्यता आदि गुणो की ओर भी उन्होने पर्याप्त ध्यान दिया। भावाभिव्यक्ति के लिए वाक्य रचना में इनका उचित विनियोग आवश्यक है। श्री रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था—"दोनों में मानव हृदय पर किसका—" द्विवेदी जी ने शुद्ध किया—"मानवहृदय पर दोनो में से किसका—"। श्री सत्यदेव की

मूल रचना में प्रयुक्त वाक्य था—'घंटी को आगे देखा है।' आचार्य द्विवेदी ने उसे संशोधित रूप दिया—'घंटी पहले कभी देखी है।' प० वेंकटेशनारायण तिवारी की उक्ति थी—'मूल या सिद्धात था।' द्विवेदी जी ने परिमार्जन किया—मूल सिद्धात यह था।

उन्होने स्थान-स्थान पर मुहावरों को सुधार-सँवार कर भी भाषा को धारावाहिक एव व्यजनासमर्थ बनाने का प्रयास किया, उदाहरणार्थ—'ठडी साँस भरी' के स्थान पर 'ठडी साँस ली', 'धूल में उड गए' के स्थान पर 'धूल में मिल गए', 'शराब का दौर लगा रहे हैं' के स्थान पर 'शराब का दौर चल रहा है' आदि।

रचनाओ की अशुद्धियो का सशोधन करते-करते जब वे 'अनत परिश्रम से पराजित' हो जाते थे तब दूसरो से भी उनका सशोधन कराने का प्रयत्न करते थे। पं० गिरिधर शर्मा की 'अशुमती' कविता को श्री मैथिलीशरण गुप्त के पास सशोधनार्थ भेजते हुए उन्होने हाशिए पर जो आदेश दिया है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है—"मैथिलीशरण जी,

दया कीजिए, हमारी जान बचाइए। इन दोनो कविताओ को जरा ध्यान से अपनी तरह देख जाइए। फिर उचित संशोधन करके चार-पाँच दिन में यथासभव शीघ्र ही लौटा दीजिए। कई जगह शब्दस्थापना का क्रम ठीक नही। पढते नही बनता।"

(3) द्विवेदी जी अपने लेखो में हिंदी के अशुद्ध प्रयोगो की सोदाहरण आलोचना करते थे। निद्र्वंद्व होकर बडे से बडे लेखको के दोषो का उद्घाटन करने से कभी-कभी घनघोर विवाद भी हो जाया करता था। 1905 ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'भाषा और व्याकरण' नामक लेख के कारण उनमें और श्री बालमुकुद गुप्त में जो विवाद चला था उसमें रोचकता के साथ-साथ तीक्ष्णता भी कम नही थी।

द्विवेदी जी वास्तविक अर्थ में आचार्य थे। वे अपने दायित्व के प्रति सदैव जागरूक थे। वे शुद्धता का जितना ध्यान प्रकाशन में रखते थे उतना ही वार्तालाप में भी। यही कारण है कि वे स्वय परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करते थे और दूसरो से भी यह अपेक्षा रखते थे कि वे भी लिखते तथा बोलते समय शुद्धता का ध्यान रखें। उनकी इस सजगता और सुधारक-प्रवृत्ति का अवबोध प० विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' के साथ किए गए वार्तालाप में ध्यान देने योग्य है—"देखिए लेने के अर्थ में जब लिये शब्द लिखा जाता है तब यकार से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब एकार से लिखा जाता है। जो शब्द एक वचन में एकारात रहते हैं वे बहुवचन में यकारात ही रहेंगे। जैसे किया—किये, गया-गये, परतु स्त्रीलिंग मे 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', 'देखिए' इत्यादि में एकार लिखा जाता है। अकारात शब्दो का बहुवचन एकारात होता है। जैसे 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'। जहाँ पूरा अनुस्वार बोले वहाँ अनुस्वार लगाया जाता है। जैसे 'सस्कार' और जहाँ आधा अनुस्वार, जिसे उर्दू में नूनगुन्ना कहते हैं, बोले वहाँ चद्रबिंदु लगाया जाता है—जैसे 'काँपना'।"

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि द्विवेदी जी की भाषा-विषयक मान्यता मन की तरग पर आश्रित न होकर निश्चित सिद्धातो पर प्रतिष्ठित थी। वे भाषा को अभिव्यक्ति का साधन ही मानते थे, साध्य नहीं। उनकी निर्भ्रांत धारणा थी कि यदि हिंदी में व्यवहृत अन्य भाषाओ के शब्दो से विचार-व्यजना मे अपेक्षित सहायता मिलती है तो उन्हें अवश्य ग्रहण करना चाहिए—

"आजकल कुछ लेखक तो ऐसी हिंदी लिखते हैं जिसमें सस्कृत शब्दो की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अँग्रेजी, फारसी, अरबी सभी भाषाओ के प्रचलित शब्दो का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशी शब्दो का विलकुल ही प्रयोग नही करते, ढूँढ-ढूँढ कर ठेठ हिंदी शब्द काम में लाते है। मेरी राय मे शब्द चाहे जिस भाषा के हों यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कही बोलचाल में आते है तो उन्हें हिंदी के शब्द-समूह से बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिंदी की कोई हानि नही, प्रत्युत लाभ है। अरबी, फारसी के सैकडो शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार भी सभव नही।"

उन्होने हिंदी भाषा और व्याकरण के अनेक विवादग्रस्त विषयो का युक्तिपूर्वक स्पष्टीकरण किया है। कारक-विभक्तियो के सबध मे उनका मतव्य बहुत कुछ व्यावहारिक उपयोगिता पर आधारित है—

" जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसी का अश हो जाती है । यह सत्य है, परंतु इसका यह अर्थ नही कि विभक्तियो को शब्दो से जोड कर लिखा जाए। संस्कृत-व्याकरण में भी इस नियम का निर्देश नही। उसमें विभक्तियाँ पृथक रह ही नही सकती क्योकि उनकी सधि से शब्दो में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परतु हिंदी में ऐसी वात नही। विभक्तियो को सटाकर या हटाकर लिखना रुचि, शैली या सुभीते का विपय है, व्याकरण का नही। शब्द अलग-अलग होने से पढने में सुभीता होता है, भ्रम की सभावना कम रह जाती है । अत विभक्तियो का अलग लिखना ही अधिक श्रेयस्कर है। . ."

अव हिंदी राष्ट्रभापा स्वीकृत हो चुकी है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक की अत प्रातीय भापा के रूप में मान्य है । आज उसका क्षेत्र अत्यत व्यापक हो गया है। अहिंदी-भाषाभापी भारतीय ही नही वल्कि विदेशी लोग भी वहुत वडी सख्या में उत्साह के साथ हिंदी सीख रहे हैं । हिंदी की समस्याएँ अनेकमुखी हैं। स्थिरीकरण और एकरूपता का प्रश्न भी अनुपेक्षणीय है। यह ठीक है कि वोलचाल की भापा मे सदैव परिवर्तन होते रहे है और होते रहेंगे, परतु यह भी आवश्यक है कि वर्तनी और व्याकरण की दृष्टि से हिंदी का हिंदीत्व सुरक्षित रखा जाए, उसके रूपो में स्थिरता और एकरूपता लाई जाए, उसे एक आदर्श राष्ट्रभापा के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए। इस गुरुतर दायित्व का निर्वाह कौन करेगा। ? कोई भी समझदार व्यक्ति इस वात को अस्वीकार नही कर सकता कि आज हिंदी भापा को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे महान् साहित्यिक नेता की महती आवश्यकता है।

भाषा-संस्कारक द्विवेदी

रामफेर त्रिपाठी

यद्यपि हिंदी (खडी वोली) के स्वरूप की प्रतिष्ठा भारतेंदु और अनेक सहयोगियो द्वारा हो चुकी थी, तथापि अभी उसका परिष्कार, परिमार्जन और सस्कार होना वाकी था। तव हिंदी भापा के नाम पर सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैली हुई थी जव 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी-जगत् में महावीरप्रमाद द्विवेदी का आगमन हुआ। इन स्थितियो ने द्विवेदी जी के भाषा-सस्कारी रूप को वनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसलिए कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी का भाषा सशोधन वहुत कुछ समय की माँग का पूरक था। आज, जव कि हिंदी अपेक्षत इतनी समृद्ध और विकसित हो गई है तव भी यह महसूस किया जा रहा है कि हिंदी के स्वरूप-निर्णय और सप्रति भापा के नाम पर चलने वाले नाना विवादो को सुलझाने तथा उसे एक निश्चित् दिशा-निर्देशन के लिए महावीरप्रसाद द्विवेदी ही जैसे कर्मठ भाषा-सुधारक व्यक्ति की वडी जरूरत है। भापागत प्रश्नो, विवादो और समस्याओ के हल के लिए जिस सत्य-निष्ठा, अनथक परिश्रम, अडिग आत्मविश्वास, घोर सक्रियता, असीम सहनशीलता, अटूट लगन, निश्चित नीति और स्थिर होते हुए भी जिस प्रगतिशील भाषादर्श की आवश्यकता होती है, द्विवेदी जी मे उन सवका अच्छा समन्वय था।

हिंदी-हित से प्रेरित्त होकर द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई० में 'सरस्वती' के सपादन का कार्यभार सँभाला। अव उनके पास अनेक प्रसिद्ध और लोकप्रिय साहित्यकारो की ऐसी रचनाएँ आने लगी जिनकी भाषा व्याकरणिक दृष्टि से अत्यत अव्यवस्थित और दोषपूर्ण होती थी। शैली के विचार से भी वे काफी अक्षम और अपरिपक्व होती थी। इस तरह के कवियो और लेखको में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचद और रामचद्र शुक्ल के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी अव 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आए लेखो और कविताओ की भाषा का परिष्कार, परिमार्जन और सशोधन करने लगे। शायद ही ऐसी कोई रचना होती जो द्विवेदी जी की नजर और सशोधनकारी दृष्टि का प्रभाव अथवा प्रसाद पाए विना प्रेस में मुद्रणार्थ जाती। उनके द्वारा सशोधित कतिपय ऐसी रचनाएँ नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के सग्रहालय में अव भी देखी जा सकती हैं। अशुद्धियो से भरी होने के कारण कई वार उन्हें अनेक रचनाओ का आद्योपात संशोधन करना पडता था। कभी-कभी ऐसा करने में पूरी रचना का यहाँ तक कायाकल्प हो जाया करता था कि लेखक केवल अपने नाम को देखकर ही अपनी कृति को पहचान पाता था। इस सवध में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रेपित 'हेमत' नामक कविता को नाट्य-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसे आमूल सशोधित कर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में निकाला था। उक्त सशोधन से गुप्त जी पर उसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उसे व्यक्त करते हुए उनका कहना है—"जिस रूप में मैंने उसे भेजा था उसमें दूसरी ही वस्तु का दिखाई पडती थी, वाहर से ही नही भीतर से भी। पढने पर मेरा आनद आश्चर्य में वदल गया। इसमें तो इतना सशोधन और परिवर्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नही कही जा सकती थी। कहाँ वह वकवास और कहाँ यह मूर्ति ! यह कितना

विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पडित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। इतना परिश्रम उन्होंने किया और उसका फल मुझे दे डाला। यह तो मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि मेरे ऐसे न जाने कितने लोग इनसे इस प्रकार उपकृत हुए है। नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण वात नही, परंतु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है।" पत्र में दोपो का उल्लेख करते हुए अस्वीकृत रचनाएँ लेखक को लौटा दी जाती थी।

द्विवेदी जी के इन भापागत सुधारो का इतना व्यापक प्रभाव पडा कि भापा के छोटे-मोटे प्रश्नो के प्रति भी लोग काफी जागरूक वन वैठे। हिंदी-विभक्तियो को हटाकर लिखा जाए या सटाकर, इसे लेकर सन् 1909 में 'हटाऊ और सटाऊ' नामक दो विवाद उठ खडे हुए। द्विवेदी जी विभक्तियो के 'हटाऊ' पक्ष के समर्थक थे। और अत में विजय भी इसी पक्ष की हुई थी।

'पुस्तक-समीक्षा' के लिए जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास आती थी, उनकी आलोचना करते समय वे उनकी भापा-शैली-पक्ष पर विशेप ध्यान देते थे। मिश्र वधुओ के 'हिंदी-नवरत्न', जो अपने समय की उत्कृष्ट कोटि की समीक्षा-कृति समझी जाती थी, की कडी आलोचना करते हुए उन्होने लिखा था—

"भापा इसकी परिमार्जित नही है। अनेक स्थलो की रचना व्याकरण-च्युत भी है। सभव है तीन आदमियो की शिरकत इसकी भापा के अधिकाश दोपो का कारण हो। अच्छे लेखक की भापा जैसी होनी चाहिए वैसी भापा इस पुस्तक की नही।"

विराम-चिह्नो के अनिवार्य और व्यवस्थित प्रयोगो की ओर भी द्विवेदी जी ने तत्कालीन लेखको का ध्यान आकर्पित किया। लोग विरामो पर ध्यान न देने के आदी वन गए थे। इसे अच्छी तरह लक्ष्यकर द्विवेदी जी ने पहला काम यह किया कि अपनी रचनाओ में विरामो का यथोचित प्रयोग कर एक आदर्श उपस्थित किया और साथ ही दूसरो को भी ऐसा करने पर मजवूर किया।

द्विवेदी जी द्वारा किए गए भाषा-सुधार कार्य को निम्नोद्घृत चार श्रेणियो में रखकर देखा जा सकता है:-

(अ) सरस्वती-सपादक के रूप में किया गया सुधार ;

(व) दूसरे अनेक साहित्यकारो की अशुद्धियो और दोपो की आलोचना करके किया गया सुधार ;

(स) यथावसर नाना हिंदी-ग्रथो की भापा को संशोधित कर किया गया सुधार ; और (द) भापा-व्याकरण संवधी लेख लिखकर, पत्र लिखकर और भापण आदि के माध्यम से खोजा गया सुधार।

सपादक-रूप में वे अपनी सयत और निश्चित रुचि के अनुकूल 'सरस्वती' में छपने के लिए आई हुई रचनाओ की तराश-खराश करते थे। सशोधन व सुधार में वे किसी की राय के कायल नही थे। द्विवेदी जी का यह सशोधन इतना लाभप्रद होता था कि मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचद जैसे साहित्यकारो ने थोडे समय में ही पर्याप्त प्रगति कर ली थी। चूकि प्रेमचद जी उर्दू से हिंदी में आए थे, इसलिए वे हिंदी भापा और शैली के नाम पर और भी दरिद्र सावित हो रहे थे। प्रेमचद जी जव कभी अपनी कोई कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्रेपित करते तव उसकी एक प्रति अपने पास प्रकाशित सशोधित कहानी से तुलना कर अपनी त्रुटियो और अशुद्धियो को जानने के लिए अवश्य सुरक्षित रखते। आचार्य रामचद्र शुक्ल के प्रसिद्ध निवध "कविता क्या है ?" का सशोधन द्विवेदी जी के हाथो ही हुआ था। इसके अतिरिक्त उनके भापा-सुधार से 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, श्रीधर पाठक और सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे अनेक आहित्य महारथियो ने लाभ उठाया था।

लोक-रुचि का परिप्कार कर भापा को उत्कृष्ट साहित्य के सर्वथा योग्य वनाने के लिए द्विवेदी जी ने समय-समय पर जो सपादकीय लेख, भापण और साहित्यिको को पत्रादि लिखे उनसे भी हमारी भापा के सस्कार का पथ पर्याप्त प्रशस्त हुआ। हिंदी को समृद्धशालिनी देखने के लिए दूसरी भापाओ से शब्द लेने में संकोच न करने का समर्थन

---

1. द्विवेदी पत्रावली में सग्रहीत गुप्त जी के 'आचार्य देव' सस्मरण से।

करते हुए कानपुर साहित्य समेलन में भाषण के अवसर पर उन्होंने कहा था—

"विदेशी भाव, शब्द और मुहावरे ग्रहण करने में केवल यह देखना चाहिए कि हिंदी उन्हें पचा सकती है या नही, उनका प्रयोग खटकता तो नही, वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नही, हिंदी हिंदी ही वनी है या नही। मकान, मालिक, नोट, नवर आदि शब्द हिंदी मे खप गए है, विदेशी नही रहे। हाँ, खटकने वाले भावो या मुहावरो का प्रयोग करना ठीक नही। दृष्टिकोण (Angle of vision), लागू होना (to be applied), नगी प्रकृति (naked nature), आदि के प्रयोग में हिंदी की विशेषता को धक्का पहुँचता है।"

उन्होंने उक्त वातो पर ध्यान देते हुए भाषा की नई-नई शैलियो को अपनाने के लिए लेखको को उकसाया और नए शब्दो तथा मुहावरो से सपन्न भाषा-प्रयोग की वात कही, जिससे कि हिंदी की अभिव्यजना-शक्ति वढे और उसमे निखार आए।

व्याकरण और भाषा सवधी अनेक लेख लिखकर भी द्विवेदी जी ने तद्विपयक त्रुटियो के परिहार का प्रयत्न किया। वे किसी लेखक या कवि की रचनागत त्रुटियो को देखकर स्वभावत. ही चिढ जाते और खीझ उठते थे। किंतु वाद में उनकी यही खीझ ही उन दोषो या अशुदधियो के परिमार्जन का कारण वनती थी। कुछ ऐसी ही मन स्थिति मे वालमुकुद गुप्त के विषय में द्विवेदी जी ने लिखा था—

"ये अरवी, फारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति' को 'पती', 'अनुभूति' को 'अनुभूति'—'स्त्री' को 'इस्त्री', 'पाँच सौ' को 'पान्सौ'—लिखकर अपनी जुवाँदानी सावित करते हैं।"

अपने व्यग्यात्मक और विरोध प्रधान निवधो में द्विवेदी जी छद्मनाम का भी प्रयोग करते थे। ऐसा शायद आलोच्य विषय की अच्छी तरह खवर लेने के लिए किया जाता था। दूसरे, ऐसा करने से आलोच्य साहित्यकार, जो सभवत उनका घनिष्ट भी हो सकता है, को प्रहारकर्ता (आलोचक) का पता न लगे—ऐसी भी मशा का होना इसके पीछे सभव है। श्रीकठ पाठक एम० ए०, के कल्पित नाम से अपने स्नेही प० सुधाकर द्विवेदी की रचना 'रामकहानी' की कटु आलोचना उन्होंने इसी तरह की है—

"इस पुस्तक की भाषा न हिंदी है, न उर्दू है, न गँवारी है। वह इन सवकी खिचडी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहूँ, चावल, तिल, उडद आदि सात धान्य, कोई कम कोई अधिक, सव एक में गड्ड वड्ड कर देने से जैसे सतनजा हो जाता है, वैसे ही इस पुस्तक की भापा भी कई वोलियो की खिचडी है"

द्विवेदी जी ने पत्रो के माध्यम से भी भाषा-सस्कार का महत्वपूर्ण काम किया है। 'सरस्वती' में लिखने वाले सभी कवियो और लेखको को पत्र लिख कर उनकी रचनागत त्रुटियो से वे उन्हें वरावर अवगत कराते रहते थे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि ऐसे पत्रो मे उस समय की सारी साहित्यिक हलचलो को स्पष्ट देखा जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त को लिखा गया उनका एक पत्र देखिए —

"हम लोग सिद्ध कवि नही। वहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढने योग्य वन पाते हैं। आप दो वातो में से एक भी नही करना चाहते हैं। कुछ लिखकर उसे छपा देना ही आप का उद्देश्य जान पडता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोडे ही समय में लिखा होगा, परतु उसे ठीक करने मे हमारे चार घटे लग गए। पहला ही पद्य लीजिए —

होवे तुरत उनकी वलहीन काया
जाने न वे तनिक भी न अपना पराया
होवे विवेक पर वुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध, जो जन करें तुझ को कदापि

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे है जो आपने ऐसी क्रियाओ का प्रयोग किया? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे परतु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहे तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छापने का विचार छोड दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए। ताले में बंद करके रखिए।"

एक-एक शब्द की परख व पडताल द्विवेदी जी कितनी गहराई से करते थे और उसके लिए उनमें कितना धैर्य, कितनी सहनशीलता तथा कितना हिंदी-हित भरा था, इसका पता 'सुहाग' शब्द को लेकर मैथिलीशरण जी को उनके द्वारा लिखा हुआ निम्नोद्धृत पत्र दे सकता है—

जूही, कानपुर
29—9—46

श्रीयुत वावू मैथिलीशरण जी,

आशीष। सुहाग शब्द का जो भाव है (हिंदी में) वह सौभाग्य से ठीक-ठीक-व्यक्त नही होता। इस कारण भाग-सुहाग पाठ सुख-सौभाग्य से अधिक उपयुक्त है। भाग-सुहाग की जगह सुखद-सुहाग भी हो सकता है। जो पद्य आपने लिखा उसका दूसरा चरण मुझसे ठीक पढते नही वनता, गति ठीक है?

शुभैषी,
म० प्र० द्विवेदी।

निष्कर्ष-रूप मे भाषाविषयक नाना सुधारो का उल्लेख करते हुए द्विवेदी युगीन साहित्य के प्रसिद्ध अध्येता डॉ० उदयभानु सिह का कहना है कि "इस प्रकार द्विवेदी जी समालोचनाओ द्वारा हिंदी-लेखको को वर्ण और शब्द-गत लेखन त्रुटियो, सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, लिंग, वचन, कारक, संधि, समास, प्रत्यक्ष, आकाक्षा, योग्यता, सन्निधि, वाच्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष भाषण, आदि की व्याकरणासवधी अशुद्धियो, विरामादि चिह्नो, अवच्छेद, मुहावरो, पुनरुक्ति, कटुता, जटिलता, शिथिलता, पडिताऊपन आदि दोषो का परिहार करके हिंदी के अनिश्चित प्रयोगो को निश्चित रूप देने मे वहुत कुछ कृतकार्य हुए।"

अत मे इतना कहना ही पडगा कि द्विवेदी जी ने अपने सुधारो से हिंदी को विकसित किया है और ऐसा करके उसे एक अक्षुण्ण मर्यादा प्रदान की है। उनके आपादमस्तक सुधारवादी होने का यह वडा लाभ हिंदी को मिला था। उनकी भाषाविषयक अनेक वातें भाषा सक्राति के इस युग मे हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकती है। मै समझता हूँ कि द्विवेदी जी भाषा के जिस आदर्श और सामान्य नीति को अपना कर आगे वढे थे, उसमें अव भी ऐसी अनेक विचारणीय वाते है जिन पर चलकर वहुत कुछ लाभान्वित हुआ जा सकता है। आज द्विवेदी जी की इस राय से कौन असहमति प्रगट कर सकता है कि "हमारी राय यह है कि इस समय हिंदी में जितनी पुस्तकें लिखी जाएँ खूव सरल भाषा में लिखी जाएँ। यथासभव उनमें सस्कृत के अधिक शब्द न आने पाएँ। क्योकि जव लोग सीधी-सादी भाषा की पुस्तको ही को नही पढते तव वे क्लिष्ट भाषा की पुस्तकें क्यो छूने लगे, अतएव जो शब्द वोलचाल में आते है फिर चाहे वे फारसी के हो, चाहे अरवी के हो, चाहें अँग्रेजी के हो उनका प्रयोग वुरा नही कहा जा सकता।"

महावीरप्रसाद

कन्हैयालाल शर्मा 'व्रजेश'

स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सवत् 1921 ईसवी में रायवरेली जिले के अतर्गत दौलतपुर नामक ग्राम में एक साधारण-ब्राह्मण परिवार में हुआ था। साथ ही देहावसान सवत् 1996 ईसवी में। इनके पिता फौज में नौकर थे किंतु किसी विशेष पद पर न होने के कारण घर की आर्थिक स्थिति सुदृढ न थी। अत धनाभाव के कारण द्विवेदी जी केवल हाईस्कूल तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके। इनकी प्रारभिक शिक्षा घर पर ही सस्कृत के साथ हुई थी, तत्पश्चात् गाँव में ही वने स्कूल में जाने लगे और फिर फतेहपुर, उन्नाव व रायवरेली स्थानो में शिक्षा ग्रहण कर हाई स्कूल परीक्षा पास की।

हाई स्कूल परीक्षा पास कर द्विवेदी जी ववई चले गये और वहाँ पर तार का काम सीखने लगे। काम सीखने के पश्चात् वे जी० आई० पी० रेलवे में 22 रु० प्रति माह की नौकरी पर लग गए। आरभ से ही परिश्रमी व अध्यवसायी होने के कारण लगन के साथ नौकरी करते रहे और धीरे-धीरे 150 रु० के वेतन के पद पर आसीन हो गए। दुर्भाग्यवश अपने उच्चाधिकारी से अनबन हो जाने के कारण इनको अपना पद छोडना पडा। फिर वे साहित्य क्षेत्र में कूद पडे। सन् 1903 में आकर वे 'सरस्वती' पत्रिका का सपादन करने लगे।

अत्यत परिश्रमी व अध्यवसायी होने के कारण द्विवेदी जी ने नौकरी की अवधि में कई भापाओं का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अत धीरे-धीरे वे हिंदी, सस्कृत, उर्दू, मराठी, गुजराती तथा वँगाली के कुशल ज्ञाता वन गए। साथ ही हिंदी व सस्कृत की कविता भी करने लगे।

साहित्य साधना—द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया। उनके समय तक यद्यपि हिंदी भाषा का प्रचार अवश्य हो चुका था किंतु उसका न तो स्थिर रूप ही था और न भाव प्रकाशन प्रणाली और यही कारण था कि भाषा गभीर विचारो को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ थी। व्याकरण के नियमो तथा विराम चिह्नों का कोई आधार नही था किंतु आपने हिंदी का परिमार्जन करके उसे व्याकरण समत वनाने का सफल प्रयत्न किया। यह सफलता उनको 'सरस्वती' के सपादन कार्य काल में अधिक मिली जवकि उन्होंने अशुद्धियो के विरुद्ध लेख लिख-लिख कर लेखको का ध्यान अपनी और खीचा और उनको शुद्ध तथा परिमार्जित भापा लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। द्विवेदी जी की साहित्य साधना ने हिंदी को एक नवीन गति दी। उनका व्यक्तित्व एक आलोचक, निबंधकार, अनुवादक तथा कवि का व्यक्तित्व था। इस तरह इक्कीस वर्ष निरतर सरस्वती का संपादन करते हुए हिंदी के कुरूप को सुरूप में परिवर्तित कर एक अभूतपूर्व प्रयास किया।

भाषा—द्विवेदी जी की भाषा खडी वोली थी तथा वे भापा के आचार्य थे। द्विवेदी जी ने खडी बोली की कविता के लिए विकास कार्य किया। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जैसे खडी वोली के कवि उन्हीं के प्रयत्नों की प्रेरणा के फलस्वरूप है। कविता में देश प्रेम की भावना जाग्रत हुई। नवीन छदो का सफलतापूर्वक वर्णन किया गया।

द्विवेदी जी के प्रयत्नो से हिंदी में अन्य भाषाओ के ग्रथो के अनुवाद भी हुए। इनकी अनुपम साहित्य सेवाओ के कारण इनके समय को 'द्विवेदी युग' के नाम से पुकारा जाता है। इन्होने नए-नए विषयो से हिंदी साहित्य को सपन्न बनाया। इन्होने स्वय लिखा तथा दूसरो से लिखाया। इनका शब्द चयन अत्यत शक्तिशाली तथा वाक्य विन्यास विशुद्ध था। भाषा भाव तथा विचारानुसार होती थी। वाक्य छोटे-छोटे तथा सुव्यवस्थित होते थे। छोटे-छोटे वाक्यो द्वारा गूढ मे गूढ विषय भी अत्यत सरलता से प्रकट कर देना इनकी मुख्य विशेषता थी। वे सस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ उर्दू के ताज, किस्मत आदि शब्दो का प्रयोग भी करते थे। वे सरल व सुबोध भाषा के पक्षपाती थे। उनकी भाषा में न तो सस्कृत के तत्सम शब्दो की भरमार है और न उर्दू के शब्दो की कलाबाजी। उन्होने उस समय में प्रचलित सस्कृत, अरबी, उर्दू और फारसी के शब्दो का निर्भय प्रयोग किया है किंतु फिर भी हिंदी के प्रवाह में कोई शिथिलता न आने पाए उन्होने यह ध्यान सदैव ही रखा है।

रचनाएँ—हिंदी कालिदास की समालोचना, मलिता, विलास, रसज्ञ रजन, काव्य-मजूषा, नाट्यशाला, साहित्य-सीकर, साहित्य सदर्भ, बेकन विचार, रत्नावली आदि 50 ग्रथो की रचना की। इनकी ऋतु तरंगिनी, कुमार सभव, रत्नावली आदि अनुवाद पुस्तकें है।

शैली—विषय के अनुकूल द्विवेदी जी की शैली में परिवर्तन होता रहा है। अत उसमें जो भी रूप दृष्टि-गोचर होते रहते है, उनमें तीन मुख्य है—

परिचयात्मक—इस शैली में वाक्य छोटे-छोटे व भाषा व्यावहारिक है। उन्होने नए-नए विषयो पर लिखा, और उनका पूरा परिचय सरल व सुबोध शैली में दिया। द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भाँति एक एक बात को कई कई बार दोहराया है ताकि पाठको की समझ में वह भली प्रकार से आजाए।

आलोचनात्मक—हिंदी भाषा के प्रचलित दोषो को दूर करने के लिए लिखे गए लेखो में आलोचनात्मक शैली के दर्शन होते है। यह शैली ओजपूर्ण है। भाषा गभीर है। कही-कही यह शैली व्यगात्मक भी हो गई है किंतु वह भी व्यावहारिक भाषा व छोटे छोटे वाक्यो में। यही इनकी प्रधान शैली है। हिंदी के लिए उन्होने जो कुछ लिखा उसमें उन्होने विरोधियो के तर्क का मुहँतोड जवाब दिया। मनमाने ढग से लिखने वालो की खूब खबर ली। उनकी भाषा में सस्कृत शब्दो की भरमार रहती है इसलिए कि उनके प्रारंभिक अध्ययन का श्रीगणेश सस्कृत ही के साथ हुआ था। अत उनके भाव तथा विचार भी आकर्षक होते थे।

गवेषणात्मक—गभीर साहित्यिक विषयो के विवेचन मे द्विवेदी जी ने गवेषणात्मक शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते है। एक सरल गवेषणात्मक जिसका उद्देश्य भाषा व भाव दोनो को ही सरलता से समझाने का रहा है तथा इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे है व भाषा कुछ निकृष्ट है। दूसरी गूढ गवेषणात्मक शैली जिसमें विशुद्ध हिंदी का प्रयोग किया गया है और इसका रूप उन लेखो से मिलता है जिनका उद्देश्य जन साधारण को किसी गभीर विषय को समझाना है।

द्विवेदी जी ने जो कविताएँ लिखी हैं उनमें सस्कृत शब्दो की अधिकता है। भाषा गद्य से मिलती जुलती है। भाषा की दृष्टि से इनकी 'कुमार सभव' एक श्रेष्ठ रचना है।

द्विवेदी जी हिंदी साहित्य में एक युग प्रवर्तक आचार्य के रूप में सदा स्मरणीय रहेंगे। उन्होने हिंदी में जो परपरा चलानी चाही वह भाषा के पुरस्कार के रूप में उनके समुख ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई। उनका व्यक्तित्व, निबध लेखक और आलोचक तथा भाषा परिष्कारक सभी दृष्टियो से एक आचार्य का व्यक्तित्व है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की भाषा शैली सरल, स्वाभाविक तथा सजीव है और जब तक ससार में हिंदी की महत्ता का लेशमात्रा भी अस्तित्व अवशेष रहेगा तब तक हिंदी के उन्नायक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिंदी के प्रति अगाध प्रेम देदीप्यमान होता रहेगा। ●

संपादक द्विवेदी

'विविध विषय' के अंतर्गत स्व० आचार्य द्विवेदी जी द्वारा लिखित 'वनारस का हिंदू विश्व-विद्यालय' शीर्षक टिप्पणी
—सरस्वती भाग 17, खंड 2, सितंबर, 1916

बनारस का हिन्दू विश्वविद्यालय।

हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास, फरवरी 1916 को, बनारस में हो गया। [illegible]

पंडित महावीरप्रसाद

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

द्विवेदी जी ने अपनी साहित्य-सेवा के द्वारा हिंदी में सुरुचि और शिक्षा-प्रचार किया। 'सरस्वती' का संपादन-भार लेने के वाद द्विवेदी जी ने हिंदी की हीनावस्था को प्रकट करने के लिए जो एक व्यग्य-चित्र उसमें प्रकाशित कराया था आज वही चित्र हम लोगो को उपहासजनक प्रतीत होगा। हिंदी साहित्य की आश्चर्यजनक उन्नति द्विवेदी जी की साधना का फल है।

द्विवेदी जी का एक बड़ा काम उनकी समालोचना है। उनके समय में 'सरस्वती' का पुस्तक परिचय महत्त्वपूर्ण था। द्विवेदी जी की समति एक कठोर निरीक्षक की समति थी। हिंदी में अब तो समतियाँ प्रकाशित करने की चाल खूब वढ गई है। विद्वानो की समतियाँ आदरणीय अवश्य है। समाज में जिन लोगो की विशेष प्रतिष्ठा है उनकी समतियो का प्रभाव भी खूब पडता है। इसीलिए लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानो की अनुकूल समतियाँ प्रकाशित करने से प्रकाशको और लेखको को यथेष्ठ लाभ होता है। समालोचना या समति-दान का आधार कोई सिद्धात होता है। यदि किसी विद्वान को देव की रचना की अपेक्षा विहारी की रचना अधिक रुचिकर है, या अधिकाश लोगो को 'सेवा-सदन' की अपेक्षा 'रगभूमि' अधिक चित्ताकर्षक है, तो उसी के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि देव से विहारी श्रेष्ठ है या 'रगभूमि' से 'सेवासदन' हीन ? किसी रचना के गुण-दोषो की विवेचना करने के लिए हमें अपनी व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा कर उन सिद्धातो के अनुसार आलोचना करनी चाहिए जिनसे साहित्य की यथार्थ महिमा प्रकट होती है। द्विवेदी जी एक सिद्धांत को लेकर आलोचना करते थे। इससे उनकी आलोचना का यथेष्ट प्रभाव पडा।

यह सच है कि किसी रचना के मूल्य की परीक्षा साहित्य के नियमोपनियमो के द्वारा कदापि नही हो सकती। सच पूछा जाए तो मौलिक और उच्च कोटि की कृति का ऐसे प्रचलित नियमोपनियमो से कोई सवध नही होता। प्रतिभा किसी प्रकार के वधन को स्वीकार नही कर सकती। प्रतिभा अपना नियम आप वना लेती है। परतु प्रतिभा की सृजन-शक्ति में और असयतो की उच्छृखलता में भेद है। इसी से साहित्य मे मर्मज्ञो की आवश्यकता है और इसी आवश्यकता की पूर्ति द्विवेदी जी ने की थी।

जो युग के प्रवर्तक होते है उन्हें सवसे पहले लोक रुचि को परिष्कृत करना पडता है। समाज की एक विशेष वौद्धिक अवस्था के अनुसार समाज की एक विशेष रुचि होती है। मध्ययुग में भक्ति भाव का प्रावल्य होने पर जो सगुणोपासना आरंभ हुई, उसी के कारण रीतिकाल में श्रृगार रस, नायिका भेद और नख-शिख वर्णन की ओर लोगो की रुचि वढ़ी। भारतवर्प के लिए वह अधयुग था। शिक्षा का प्रचार रुक गया था। लोगो में अधविश्वास और अंध-भक्ति अधिक होने के कारण ज्ञान के लिए अधिक आग्रह नही था। जाति में अवसाद था, आत्मशैथिल्य था, इसीलिए कल्पना के मायालोक में कल्पित नायक और नायिका की प्रेमलीला से ही उनकी मनस्तुष्टि होती थी। भारतेंदुजी ने हिंदी-गद्य-साहित्य में नवयुग का दर्शन तो अवश्य कराया, पर पद्य साहित्य में मध्ययुग के आदर्श ही उन्होने स्वीकृत किए।

व्रजभाषा में एक तो स्वभाविक माधुर्य है और फिर व्रजभापा के कवियो ने उसे अलकारों से सजाकर एक ऐसा मनोमोहक रूप प्रदान कर दिया है कि वह मूर्तिमती कविता ही हो गई है।

यमक और अनुप्रास की छटा में भाव विकृत हो गया था। पर लोग यही समझ रहे थे कि कविता के लिए एकमात्र ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। गद्य और पद्य की भाषा एक हो नही सकती। द्विवेदी जी ने बोल-चाल की भाषा में स्वय कविताएँ लिखी और उसी पक्ष का समर्थन किया। श्रीधर पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की एक कविता का पद्यात्मक अनुवाद बोल-चाल की भाषा में किया। द्विवेदी जी ने भी उसी भाषा में 'कुमार-सभव-सार' लिखा। खड़ी बोली की इस प्रधानता से हिंदी के काव्य-साहित्य मे वस्तुवाद की प्रतिष्ठा हुई। कल्पना का मायालोक टूट गया और राष्ट्रीय तथा सदुपदेशपूर्ण कविताओ का प्रचार बढने लगा।

द्विवेदी जी ने समय समय पर कुछ ऐसे लेख लिखे हैं जिनके कारण हिंदी-साहित्य में एक आँधी सी आ गई है। पर उन्ही आँधियो के कारण हिंदी में सुरुचि का प्रचार हुआ है। जब तक हम लोग सत्य को साग्रह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही है तब तक हम लोग उन्नति कर ही नही सकते। अपने दोषो की ओर आँख मूंद लेने से हमारी उन्नति की गति अवरुद्ध हो जाएगी पर उन समालोचनाओ से क्या लाभ जो साहित्य में नए आदर्शों की सृष्टि नही करती? इसीलिए अपने अठारह वर्ष के सपादन-काल में द्विवेदी जी ने सरस्वती में, क्या विदेशी और क्या स्वदेशी, सभी श्रेष्ठ साहित्य कला कोविदो और कलाकारो के परिचय प्रकाशित किए है। यही नही, उन्होने सर्वसाधारण की ज्ञान-वृद्धि के लिए सभी प्रकार के उपयोगी विषयो पर लेख लिखे हैं। द्विवेदी जी के जीवन का लक्ष्य था जन-समाज की सेवा। उन्होने जो कुछ लिखा है, जन-समाज के लिए लिखा है। लोगो में शिक्षा का प्रचार हो, उसके ज्ञान की वृद्धि हो, सत्साहित्य की ओर उनकी प्रवृत्ति हो, वे अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो को पहचाने। इसी उद्देश्य से वे लेख लिखते थे। वे कला के लिए कला के उपासक नही थे। जो जीवन के लिए श्रेयस्कर नही है, ऐसी कला में वे किसी प्रकार का सार नही देखते थे। वे तुलसी और सूर के उपासक थे, देव और मतिराम के नही। उनके सपादन-काल मे 'सरस्वती' में एक भी ऐसा लेख प्रकाशित नही हुआ, जिसका समाज पर बुरा प्रभाव पडे। ऐसे विज्ञापनो को वे 'सरस्वती' मे प्रकाशित नही होने देते थे, जिनमें किसी प्रकार की अश्लीलता हो। 'सरस्वती' के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य में सुरुचि का प्रचार किया और साहित्य के क्षेत्र को खूब विस्तृत किया। हिंदी में अभी भी किसी विषय पर यदि कोई लेखो का सग्रह करना चाहे, तो उसे 'सरस्वती' का ही आश्रय लेना पड़ेगा। अधिकाश सर्वश्रेष्ठ कहानियां, कविताएँ, समालोचनाएँ आदि उसी से निकली है।

द्विवेदी जी सपादन-कला में कितने दक्ष थे, इसके लिए मेरे समान लोगो को अपनी सम्मति देने की आवश्यकता नही। द्विवेदी जी की सबसे बडी विशेषता उनकी कार्यतत्परता थी। वे अपने कार्य में इतने सावधान थे कि एक भी भूल उन्हें क्षम्य नही थी। प्रूफ की भूलो को वे सहसा क्षमा नही करते थे। एक बार 'सरस्वती' के किसी अक मे पुरानी कवरो पर चिट लगाकर उन्हें काम में लाने की आवश्यकता पड गई। द्विवेदी जी के लिए एक भूल भी अक्षम्य थी। उन्होने इस सबध में खूब डाँटकर पत्न लिखा था। 'सरस्वती' के पाठको के मनोरजन और ज्ञानवृद्धि के लिए अंग्रेजी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि कई भाषाओ के पत्नो से सामग्री सकलित की जाती थी। द्विवेदी जी जो कुछ लिखते थे, उसकी सामग्री यदि उन्होने किसी अन्य पत्न से ली तो उस मूल लेख या नोट को भी काट कर अपने लेख के साथ भेजते थे। यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखला कर यह कहता हूँ कि यह सब उन्ही की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते है, जिनकी रचना पर ही उनकी महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते है, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओ से नही जानी जा सकती। द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पडा है। मेघ की तरह उन्होंने किस से उसकी ज्ञानराशि सचित कर और वर्षा कर समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।

उनके पत्नो का भी एक महत्त्व है। हिंदी के कई मासिक पत्नो में उनके कुछ पत्न प्रकाशित हो चुके हैं। परंतु पुस्तक के रूप मे श्री बैजनाथसिंह 'विनोद' ने 'द्विवेदी-पत्रावली' नाम देकर उनके कुछ पत्नो का एक सग्रह प्रकाशित कराया है। यह पत्नावली काशी की ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रथमाला का 34 वाँ पुष्प है। आमुख में श्री [illegible] ने लिखा है, 'उनके पत्न भी साहित्यिक और सामाजिक महत्त्व के है। उनके पत्न प्राय समसामयिक व्यक्तियों और साहित्य-

कारों को लिख गए हैं, इसलिए उनका महत्त्व और भी बढ जाता है।- कुछ व्यक्तिगत प्रसगो को छोडकर द्विवेदी जी के पत्र किसी न किसी भाषा सबधी प्रश्न अथवा साहित्यिक समस्या पर लिखे गए हैं। फलत आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य के विकास पर इन पत्रो से काफी प्रकाश पडता है।" उनकी सच्ची विशेषता उनके इन पत्रो में प्रकट होती है। वे साहित्य के नही, युग के निर्माता थे। इसी से उनके पत्रो के प्रति पाठको को औत्सुक्य अवश्य होता है। पर उसकी पूर्ति इस पत्र-सग्रह के द्वारा ठीक है कि द्विवेदी जी के इन पत्रो में उनके व्यक्तिगत जीवन की एक झलक मिल जाती है, परतु उनके साहित्यिक जीवन का यथार्थ गौरव उनके इन पत्रो मे लक्षित नही होता।

द्विवेदी जी के पत्रो में आत्मीयता का भाव होने पर भी वह विशेषता नही है, जिसके कारण कोई पत्र अनायास ही चित्त को आकृष्ट कर लेता है। गुप्तजी को उन्होने जो पत्र लिखे हैं, उनसे उनकी आत्मीयता अवश्य प्रकट होती है, परतु उन पत्रो में भी ऐसी कोई बात नही है, जो पाठको के लिए नवीन हो। गुप्तजी की कृतियो के सबध मे वे अपने सपादकीय नोटो में यथेष्ट लिख चुके हैं। इसी से उनके पत्रो में जिस अतरग भाव को पाठक देखना चाहते हैं, उसका उनमें अभाव देखकर पाठको को तृप्ति नही होती है। जो आदेश और निदेश उन्होने अपने पत्रो में दिए हैं, उनमें भी ऐसी कोई बात नही है, जिससे तरुण साहित्यकारो को कुछ प्रेरणा मिल सके। द्विवेदी जी के पत्रो को पढने से जो एक बात पाठको के हृदय में स्पष्ट रूप से अकित हो जाती है, वह यह है कि द्विवेदी जी के युग मे साहित्यकारो के बीच में वैमनस्य का भाव अत्यत प्रबल था। विवादो में कटुता तो आ ही जाती है, परतु व्यक्तिगत आक्षेपो और निंदा के भावो से पूर्ण आलोचनाओ की धूम उस समय थी। द्विवेदी जी के कितने ही पत्रो मे उनका यही मनोभाव व्यक्त हुआ है।

अपने सपादनकाल में द्विवेदी जी ने ऐसे कितने ही लेख लिखे, जिनके कारण हिंदी-साहित्य के क्षेत्र मे एक आँधी-सी आ गई। हिंदी-भाषा और साहित्य के सबध में उन्होने 'सरस्वती' मे जो पहला लेख लिखा, उसके कारण बालमुकुद गुप्त जी से उनका सघर्ष प्रारभ हुआ। जिन भावो की प्रेरणा से उन्होने वह लेख लिखा था, उसका सकेत उनके पत्रो में मिलता है। पडित श्रीधर पाठकजी को उन्होने अपने एक पत्र मे लिखा है, "कोई-कोई पुरानी रचना ऐसी है, जिसे देखकर घिन लगती है। बोलने में व्याकरण के नियमो का यदि अनुसरण न किया जाए, तो विशेष आक्षेप की बात नही, पर लिखने में ऐसा होना अच्छा नही। सस्कृत क्यो अब तक निर्दोष बनी है? उसकी रचना व्याकरण के अनुसार होती है, इसलिए! पालि और प्राकृत आदि भाषाएँ क्यो लोप हो गई, उनका व्याकरण निर्दोष नही, अतएव उनकी रचना भी निर्दोष नही। हिंदी में कोई अच्छा व्याकरण नही, जिसे सब लोग माने। इससे जिसके जी में जो आता है, उसे ही वह लिखता है। यह भाषा का दुर्भाग्य है। इससे उसे कभी स्थिरता न प्राप्त होगी।"

द्विवेदी-युग मे भाषा परिष्कृत हुई, लोकरुचि परिवर्तित और परिमार्जित हुई और साहित्य में नव-आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। द्विवेदी-युग को हम लोक-शिक्षा-काल भी कह सकते है, द्विवेदी जी का मुख्य लक्ष्य था लोक-शिक्षा का प्रचार, लोक शिक्षा का सबसे बडा साधन है भाषा। द्विवेदी जी के सपादन-काल मे अन्य भाषाओ में जो ऐसे आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते थे, उनकी चर्चा अवश्य की जाती थी। कितने ही ऐसे लेखो के अनुवाद भी 'सरस्वती' में प्रकाशित होते थे, जिनके द्वारा हिंदी भाषा और साहित्य के विकास मे यथेष्ट लाभ हो। भाषा और साहित्य के सबध में द्विवेदी जी के विचार सकीर्ण नही थे। उन्हें उर्दू से नफ़रत नही थी। यही नही, वे सभी भाषाओ से उत्कृष्ट सामग्री लेकर हिंदी साहित्य की वृद्धि करना चाहते थे।

द्विवेदी जी गए और उनके साथ एक युग का भी अत हो गया। उन्होने साहित्य की एक मर्यादा स्थापित कर दी थी और कविता का एक आदर्श निश्चित कर दिया था। उन्होने साहित्य को जन-समाज से कभी पृथक् न होने दिया। गभीर से गभीर विषयो पर लेख प्रकाशित हुए, पर वे सभी सर्वसाधारण के लिए सुपाठ्य और सरल थे। उनके काल में जो कहानियाँ प्रकाशित हुईं उनमे यथार्थ जगत के चित्र थे पर कला के नाम से समाज की वीभत्स लीलाएँ उनमें अकित नही हुईं। कविताओ में भी सरलता के साथ सरसता थी और उसमे असयत कल्पना नही आने पाई। उन्होने सर्वत्र भाषा और भाव दोनो की विशुद्धि पर ध्यान दिया, इसीलिए उनका युग सुरुचि और सुशिक्षा का युग था। ●

'सरस्वती' पत्रिका और द्विवेदी जी की संपादकीय नीति

मार्कण्डेय उपाध्याय

इतिहास जब सघर्षशील परिस्थितियो से गुज़र रहा होता है, तब वह ऐसे व्यक्तियो को जन्म देता है जो पुन उसमे नई स्फूर्ति, नई शक्ति, नई दीप्ति, नई चेतना और नई सभावनाएँ भर देते है , इतिहास को फिर एक बार नई दिशा और नया स्वरूप प्राप्त होता है, वह अपने को नए सदर्भो से जोड लेता है । हिंदी साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन ऐसे ही समय में हुआ, जब हिंदी बडी जटिल परिस्थितियो से गुजर रही थी, जब उसका अस्तित्व खतरे मे था । भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र और उनके मडल के लेखको ने हिंदी को प्रतिष्ठित करने, उसे प्रचारित और प्रसारित करने मे काफी सहयोग दिया था । उनकी इस कठिन साधना का ही फल था कि हिंदी को प्रतिष्ठा मिली । लेकिन अभी उसके रूप में काफी परिष्कार की आवश्यकता थी । इसके लिए ज़रूरी था कि भाषा, व्याकरण और वाक्य-रचना पर विशेष ध्यान दिया जाए । क्योकि बिना इसके किसी भी भाषा में एक अराजकता की-सी स्थिति होती है और उसके स्वरूप के स्थिर करने में काफी कठिनाइयो का सामना करना पडता है । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा हिंदी में इसी आवश्यकता की पूर्ति हुई ।

और इसके लिए आचार्य द्विवेदी जी को मिली 'सरस्वती' पत्रिका । 'सरस्वती' के पहले हिंदी मे साहित्यिक पत्रिकाओ का सर्वथा अभाव था और जो एक-आध थी भी उनका न तो कोई साहित्यिक उद्देश्य था, न कोई आदर्श, और न ही कोई स्तर । हिंदी को सबसे पहले 'सरस्वती' ही एक सशक्त माध्यम के रूप में मिली । आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में "यह नवीन हिंदी साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरभ में 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए ।" आगे वे लिखते है "द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्ति का आभास लेकर प्रकट होने वाली 'सरस्वती' पत्रिका थी ।"

जनवरी 1903 मे द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सपादन-कार्य सभाला और 1920 तक बडी ही निष्ठा, लगन, आत्मविश्वास, धैर्य, साहस, कुशलता और ईमानदारी के साथ उसका संपादन कार्य करते रहे । उनकी कर्तव्य निष्ठा और साहस का सबसे बडा प्रमाण यह है कि बडे-से-बडे प्रलोभनो के सामने वे झुके नहीं और न ही अपने कर्तव्य से स्खलित हुए । एक स्थान पर उन्होने लिखा है—"कोई कहता, मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा । कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा । कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक दर्जन घड़ी या [illegible] जाएगी । xxx नतीजा यह होता कि मै बहरा और गूंगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिसे मैं

पाठकों का लाभ समझता। ***जानबूझ कर मैंन कभी अपनी आत्मा का हनन नही किया। यह है अपने दायित्व का बोध और कर्तव्य के प्रति आस्था।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के कलेवर और साज-सज्जा में काफी परिवर्तन किया और उसे विविध विपयो की ओर मोड़ कर उसके आकर्षण में चार चाँद लगा दिए। उनके आने के कुछ पहले से 'सरस्वती' की स्थिति बहुत अच्छी नही थी और धीरे-धीरे ग्राहको की सख्या भी कम होती जा रही थी। द्विवेदी जी ने बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए उसमें विविध प्रकार की सामग्री प्रस्तुत कर पाठको का ध्यान उसकी ओर खीचा और स्थिति को सुधार लिया। सबसे पहले उन्होने उसे समय से प्रकाशित करने की व्यवस्था की। इसके लिए कभी कभी उन्हे अच्छी रचनाओ के अभाव में पूरी की पूरी सामग्री स्वय प्रस्तुत करनी पडती थी।

'सरस्वती' में प्रकाशित स्तभो की झाँकी इस प्रकार है—(1) विविध विषय (संपादकीय), (2) अख्यायिका, (3) ऐतिहासिक विषय (4) कविता, (5) जीवन-चरित, (6) देश, नगर और जात्यादि वर्णन, (7) फुटकर विषय, (8) विचित्र विषय (9) विज्ञान विषय, तथा (10) साहित्य विषय। इनमें कभी-कभी एक-आध विपय बढ भी जाया करते थे लेकिन सामान्यत. इन्ही स्तभो के अतर्गत उपयुक्त सामग्री का चयन और सयोजन होता था। 'विविध विषय' के अतर्गत साहित्यिक टिप्पणी के साथ-साथ तत्कालीन किसी प्रसिद्ध वैज्ञानिक अनुसधान, भौगोलिक परिवर्तन, किसी नवीन ऐतिहासिक खोज, और किसी महत्वपूर्ण राजनैतिक उथल-पुथल का सक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया जाता था, जिससे पाठको को नई सूचनाएँ मिलती और उन्हें विश्व की प्रगति का ज्ञान प्राप्त होता। एक और स्तभ, जो वडा ही महत्त्वपूर्ण था, 1903 के सभी अको में निकलता रहा, परतु आगे चलकर उसे वद कर दिया गया। वह स्तभ था 'साहित्य समाचार'। इसके अतर्गत किसी शीर्षक से एक व्यग्य चित्र होता और नीचे उसका भावार्थ लिखा रहता था। उदाहरणार्थ 1903 के अक 6 में एक चित्र है, जिसका शीर्षक है 'मातृभापा का सत्कार'। चित्र में एक भारतीय विद्वान के साथ एक अंग्रेज महिला खडी है और आगे एक वूढी औरत (मातृभापा) है। चित्र के नीचे लिखा है—

अंग्रेज़ी भापा—'डियर, डियर, देखो यह कौन आती है!'
श्रीयुत् पडित विद्यानिवास पाडेय एम० ए०, डी० एस० सी०, एल० एल० वी० (मातृभापा से)।
—"खवरदार, जो इस तरफ कदम वढाया" मातृभापा—"हाय करम!,,

उपर्युक्त स्तभो से स्पष्ट है कि सामग्री का चयन वड़ी सावधानी, वड़ी कुशलता, वडे परिश्रम और एक निश्चित योजना के अनुसार होता था। पाठको की रुचि और उनके ज्ञानवर्द्धन की वात वरावर ध्यान मे रहती थी।

द्विवेदी जी 'सरस्वती' में प्रकाशन के लिए आई रचनाओ में वडी सावधानी के साथ सशोधन करते, उनकी भाषा सँवारते, व्याकरण सवधी भूलो को सुधारते, वाक्य रचना ठीक करते और तव उन्हे प्रकाशित करने की अनुमति देते थे। इससे लेखक अपनी अशुद्धियाँ दूर करने का प्रयत्न करते और भविष्य मे शुद्ध भापा लिखने की ओर अग्रसर होते थे। रचनाओ का सशोधन इतनी सावधानी के साथ करते थे कि मुद्रित रचनाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण रचना की मूल प्रति वन जाती। अपने द्वारा किए गए सशोधन पर नाराज होने वाले लेखको से उनका विनम्र निवेदन था-"आखिर आपको मर्मज्ञता का दावा तो है नही, हम सभी भूल कर सकते है। मै भूल करूं आप वता दे तो मै कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूंगा।" वे जानते थे कि किस सीमा तक सपादक अपने अधिकार का उपयोग कर सकता है। एक वार उनके पास 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए पी० एच० डी० से विभूपित एक व्यक्ति की रचना आई। रचना के साथ एक नोट लगा था—"इसके सशोधन में कृपा करके कोई उर्दू शब्द न डालें।" द्विवेदी जी ने रचना लौटाते हुए लिखा—"सपादन के सबध में मै किसी की कोई शर्त स्वीकार नही कर सकता।"

द्विवेदी जी की सपादन कला की सवसे वडी और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है नए-नए लेखक पैदा करना, हिंदी के जाने माने लेखको से रचनाएँ प्राप्त करना। उनकी सपादन कला का ही फल था कि श्री राधाकृष्ण दास, प० श्रीधर पाठक, प० राधाचरण गोस्वामी, प० जनार्दन झा, प० नाथराम शकर शर्मा, डा० महेंदुलाल गर्ग, प० गौरीदत्त जी वाजपेयी, पुरोहित गोपीनाथ जी, प० रामचरित उपाध्याय, प० रामचद्र शुक्ल, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री

सत्यनारायण कविरत्न, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आदि लेखक 'सरस्वती' को वरावर सहयोग देते रहे। इनमे से कई लेखक तो 'सरस्वती' की ही देन है। आवश्यकता पडने पर वे देश के नेताओ और विद्वानो को भी हिंदी के प्रति सावधान कर दिया करते थे। एक वार उन्होने मालवीय जी को लिखा था—"आप स्वय हिंदी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सवको हिंदी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।" इतना ही नही उन्होने ऐसे-ऐसे लोगो से रचनाएँ प्राप्त की जिनका हिंदी से कोई सवध नही था और न उसमें किसी प्रकार की रुचि थी।

द्विवेदी जी भाषा और व्याकरण के प्रति वडे ही सजग थे। वे पत्रिका के स्तर और पाठको की रुचि का इतना ख्याल रखते कि वडे से वडे लेखक की रचना भी दोषपूर्ण होने पर नि सकोच लौटा देते थे। वे रचनाओ में सरल और सुवोध भाषा के पक्षपाती थे। उन्होने लिखा है—"सशोधन द्वारा लेखो की भाषा अधिक-सख्यक पाठको की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरवी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकाश पाठक समझ लेंगे या नही। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नही की।" अपनी इसी नीति के आधार पर लेखको से उनका अनुरोध था—"लेखको को सरल और सुवोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडवर द्वारा पाठको पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई वडी ही गभीर और वडी ही अलौकिक वात कह रहे हैं।" अपनी इस भाषा-नीति का पालन उन्होने 'सरस्वती' के सपादन-काल मे किया। यही कारण था कि 'सरस्वती' की भाषा एक आदर्श वन गई और हिंदी की अन्य पत्र-पत्रिकाओ ने भी उसके अनुकरण का प्रयास किया। कविता में उन्होने खडी वोली को प्रश्रय दिया। 2 फरवरी, 1909 में 'कविता कलाम' मे उन्होने लिखा 'इस नए ढग की कविताओ को 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख वहुत लोग अव इनकी नकल अधिकता से करने लगे है। × × × अतएव वहुत सभव है कि किसी समय हिंदी के गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो जाए।"

द्विवेदी जी की भाषा और व्याकरण सवधी महत्वपूर्ण देन के विषय में आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा—"पर जो कुछ हुआ वही वहुत हुआ और उसके लिए हमारा हिंदी साहित्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के सपादक के रूप में उन्होने आई हुई पुस्तको के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखा कर लेखको को वहुत कुछ सावधान कर दिया। गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जव तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जाएगी तव तक वना रहेगा।"

भाषा और व्याकरण पर विशेष ध्यान देने का यह मतलव नही है कि विषय और सामग्री पर उन्होने ध्यान नही दिया। सपादक की सवसे वडी खूवी इसी में होती है कि वह सामग्री का चुनाव किस ढग से करता है। उसके एक तरफ तो पाठक-वर्ग होता है और दूसरी तरफ पत्रिका की मर्यादा होती है, उनका स्तर होता है। संपादक को इन दोनो के बीच सूत्र जोडना होता है। उसे ध्यान रखना पडता है कि पाठक असतुष्ट भी न हो, उनकी रुचि भी खराव न हो और पत्रिका का स्तर भी वना रहे। द्विवेदी जी ने अपनी सपादन कुशलता से दोनो को ही सुरक्षित रखा। पाठको की रुचि का ख्याल रखते हुए उन्होने ऐसी सामग्री दी जिससे पाठको को "सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो।" साहित्यिक लेख, पुस्तक और पत्र-पत्रिकाओ की समीक्षा, मनोरजक और शिक्षाप्रद सामाजिक और ऐतिहासिक कहानियाँ, प्राचीन भारत के किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष की जीवनी, विविध विषयो पर लिखी गई मार्मिक और रोचक कविताएँ, किसी अन्य भाषा के कवि या लेखक का परिचय और उसकी उत्तम कविता या लेख का सरल हिंदी में अनुवाद, कोई मार्मिक सस्मरण, किसी देश, नगर या जाति के रहन-सहन, रीति रिवाज का वर्णन, राजनैतिक और आर्थिक लेख, तत्कालीन किसी नवीन वैज्ञानिक अनुसधान का विवरण, भारतीय या पाश्चात्य दर्शन के किसी वाद का परिचय, पाठको द्वारा उठाए गए प्रश्नो का उत्तर, ये सव 1903 से 1920 तक 'सरस्वती' मे प्रकाशित होने वाली रचनाओ के विषय है। सामग्री की इस विविधता को देख कर सहज में ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'सरस्वती' का स्तर उसकी सभावना और उपलब्धि क्या हो सकती थी। 'सरस्वती' मे द्विवेदी जी द्वारा की गई पुस्तको और पत्र-पत्रिकाओ की आलोचनाओ का हिंदी भाषा के स्वरूप-विकास में वहुत वडा योगदान है। उनकी इन आलोचनाओ का रूप यह है कि

लेखक और प्रकाशक सभी भाषा और व्याकरण के प्रति सावधान हो गए। वे फूंक-फूंक कर पांव रखने लगे और कोशिश करने लगे कि अशुद्धियां न जाने पाएं।

'सरस्वती' में प्रकाशित चित्रो ने उसके आकर्षण को और भी बढा दिया था। पत्रिका के मुख पृष्ठ पर एक चित्र होता जिसमें कलात्मकता के साथ-साथ 'सरस्वती' की गरिमा भी होती। चित्रो की सादगी उसके आकर्षण का मुख्य कारण थी। पत्रिका के भीतर किसी ऐतिहासिक पुरुष या स्त्री अथवा तत्कालीन सामाजिक या साहित्यिक व्यक्ति का चित्र होता और साथ ही उसका जीवन चरित भी दिया जाता था। 'कामिनी कौतूहल' शीर्षक स्तभ के अतर्गत किसी प्रसिद्ध महिला का चित्र और परिचय होता था। इन सबके साथ ही अक में प्रकाशित किसी पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक या वैज्ञानिक लेख से सबधित चित्र भी होते। इनसे लेखो को समझने मे आसानी होती थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से जो कार्य किया वह हिंदी साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है। जिस आस्था और विश्वास के साथ 18 वर्षों तक वे 'सरस्वती' का सपादन करते रहे वह उनके धैर्य, आत्मविश्वास, कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का सबसे बडा सबूत है। विश्व-साहित्य के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे जब एक व्यक्ति अकेले एक पत्रिका के माध्यम से इतनी लबी अवधि तक पूरे साहित्य पर छाया हुआ हो और शासन करता रहा हो। यह बडी ही अद्भुत बात है लेकिन सत्य है। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सबध में जो लक्ष्य रखे थे उनका पालन अपने सपादन के अतिम क्षण तक वे करते रहे। चाहे पूरा का पूरा अक उन्हें ही क्यो न लिखना पडा हो, 'सरस्वती' को समय से निकालते रहे। अपने लाभ और हानि की चिंता न कर उन्होंने बराबर पाठको का ख्याल रखा। अपनी आत्मा का हनन कभी भी नही किया और न ही किसी प्रलोभन के सामने विचलित हुए।

आज कुछ लोग द्विवेदी जी के पुनर्मूल्याकन की बात सोचते हैं। उनका कहना है—"विभाजनोपजीवी आलोचको ने उनके नाम पर एक युग ही खडा कर दिया है लेकिन अब समय आ गया है कि हम भावुकतारहित होकर उनके कृतियो-कार्यो का उचित आकलन करें।"

काश कि ये विद्वान 1903 की उस परिस्थिति को देखते जब भाषा की बात तो दूर रही, पूरी की पूरी जाति गुलाम थी, और ऐसी विकट परिस्थितियो मे द्विवेदी जी जैसे लोगो ने हिंदी का प्रचार, परिष्कार और सस्कार करने मे अपने जीवन की आहुति दे दी। आज द्विवेदी जी के कार्यो और उनकी कृतियो के मूल्याकन की आवश्यकता नही है, आवश्यकता है उनके धैर्य, साहस, निष्ठा, आत्मविश्वास, ईमानदारी, कार्य करने की क्षमता आदि गुणो को अपने भीतर ग्रहण करने की। हमें यह कभी नही भूलना चाहिए कि जिस भूमि पर खडे होकर हम यह बात कर रहे हैं वह इन्ही साहित्य-मनीषियो की तैयार की हुई है। युगप्रवर्तक वही होता है जो युग के लिए नई भूमि तैयार करे, उसमें नई चेतना भर दे, उसे नए विचारो से मडित कर दे, उसमें नया प्राण फूंक दे। द्विवेदी जी की अन्य कृतियो और कार्यो की बात तो अलग, अकेले 'सरस्वती' के सपादकियो से उन्होने हिंदी के लिए जो कार्य किया वही उनके युग-प्रवर्तक होने का सबसे बडा सबूत है।

○ ○ ○

आचार्य द्विवेदी

का पत्रकार जीवन

गौरीशंकर गुप्त

'सरस्वती' के सपादन मे स्व० आचार्य प० महावीरप्रमाद द्विवेदी जी के मुख्य आदर्श ये थे—(1) समय की पावदी, (2) सचालको का विश्वासभाजन वनने की चेष्टा, (3) अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठको के हानि-लाभ का ख्याल रखना, और (4) न्याय-पक्ष से कभी विचलित न होना। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रेस की मशीन टूट जाने का नही, वल्कि 'कॉपी' समय पर न पहुँचने का वे अपने को जिम्मेदार मानते थे। उन्होने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होमकर किया। भले ही समूचा अक उन्हें ही क्यो न लिखना पडा हो, 'कॉपी' समय पर ही उन्होने भेजी। छै-छै महीने आगे की सामग्री वे सदा अपने पास तैयार रखते थे। वे सोचते थे कि यदि महीनो वीमार पडा रहा, तो क्या होगा ? 'सरस्वती' का प्रकाशन तव तक वद रखना क्या पाठको के साथ अन्याय न होगा ? इसीलिए, सोलह-सत्रह वर्षों के दीर्घ-काल में एक वार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन उनके कारण नही रुका। जव उन्होने उसमे अवकाश ग्रहण किया, तव भी उन्होने अपने उत्तराधिकारी नये सपादक को वहुत-सी वची हुई सामग्री अर्पण की।

'सरस्वती'-सचालको का विश्वासभाजन वनने की वे सदा चेष्टा करते रहे, जिससे उन्हें कभी उलझन में पडने की नौवत नही आई। पत्रिका के जो उद्देश्य थे, उनकी रक्षा उन्होन दृढतापूर्वक की। उनके कार्य-काल में 'सरस्वती' का प्रचार ज्यो-ज्यो वढता गया और सचालको के वे ज्यो-ज्यो अधिकाधिक विश्वासभाजन होते गए, त्यो-त्यो उनकी सेवा का प्रतिफल भी उन्हे मिलता गया। उनकी आर्थिक स्थिति प्राय वैसी ही हो गई, जैसी कि रेलवे की नौकरी छोडने के समय थी। यह भी उल्लेख्य है कि सचालको ने उनके सपादन-स्वातत्र्य मे कभी वाधा नही डाली।

द्विवेदी जी के समय में 'सरस्वती' में कुछ छपाना या किसी के जीवन-चरित्र आदि का प्रकाशन [illegible] वहुत वडी वात मानी जाती थी। इसी कारण उनको प्राय भारी-भारी प्रलोभन दिए जाते थे। कोई [illegible] मेरी मौसी का मरसिया छाप दें, मै आपको निहाल कर दूंगा। कोई कहता-अमुक समाचार [illegible] प्रकाशित कर दें, मे आपके गले में वनारसी दुपट्टा डाल दूंगा। कोई आदेश देता-मेरे प्रभु का [illegible] चरित निकाल दे तो आपको एक अच्छी घडी या पैरगाडी नजर करूँगा। इन प्रलोभनो का [illegible] वे 'अपने दुर्भाग्य को कोसते।' वे 'वहरे और गूंगे वन जाते' और 'सरस्वती' मे वही सामग्री [illegible] पाठको का लाभ समझते। वे उनकी रुचि का सदा ध्यान रखते और यह देखते [illegible] कार्य से उसको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। एक वार तो [illegible] लेकर उन पर प्रहार करने पहुँचे थे। उनका 'अपराध' केवल यह था कि उन्होने [illegible] कविता 'सरस्वती' में नही प्रकाशित की थी। नवयुवक लेखको तथा कवियो से [illegible] पढते-पढाते नही ? यो ही विद्वान होने का स्वाग भरते है।

द्विवेदी जी सशोधन द्वारा लेखो की भाषा वहुसख्यक पाठको की [illegible] वे यह नही देखते थे कि यह शब्द अरवी का है या फारसी का या तुर्की का। [illegible] वाक्य या लेख का आशय अधिकाश पाठक समझ लेंगे या नही। [illegible]

किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नही की। वे इस वात को हरगिज़ गवारा नही कर सकते थे कि कोई व्यक्ति धूर्तता से या ज़ोर-दवाव से उनसे कोई अनुचित काम करा ले। एक वार एक पी०एच०डी० महोदय ने एक लेख उनके पास भेजा। उन दिनो वी० ए० और एम० ए० वालो के लेखो के लिए भी सपादको को वहुत कोशिश करनी पडती थी। पी-एच०डी० तो देवतुल्य थे। लेख के साथ पत्र में पी-एच०डी० महोदय ने लिखा था—इसके सशोधन में आप कृपया कोई उर्दू शब्द न डालें। आप जानते है, द्विवेदी जी पर इस की क्या प्रतिक्रिया हुई ? उन्होने अविलव उनका लेख वापस कर दिया और स्पष्ट लिख दिया कि सपादन के सवध में मैं किसी की कोई शर्त स्वीकार नही कर सकता। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके लघु लेखो (नोटो) और आलोचनाओं से ही इस वात का पता चल सकता है कि उन्होने कहाँ तक न्याय-मार्ग का अवलवन किया। जानवूझकर उन्होने कभी अपनी आत्मा का हनन नही किया, न किसी के प्रसाद की आकाक्षा की और न किसी के कोप से वे विचलित ही हुए।

एक वार एक साहित्यसेवी ने अपने एक प्रियजन के निधन पर एक कविता लिख भेजी। थी वह विलकुल बेकार। दविवेदी जी ने उसे नही प्रकाशित किया। किसी के पूछने पर कि क्या वहुत रद्दी थी ? उन्होने कहा—वाहियात मरसिया था। वाप मरे, मरसिया नही लिखा, स्त्री मरी, मरसिया नही लिखा। दुनियाँ में मरते तो है ही। फिर, कुछ कविता भी होती। हाँ, 'दवीर' और अनीस' के से मरसिये होते तो क्या वात थी। हिंदी वाले जानें इनको पढते है या नही। इस प्रकार, साफ़गोई तथा आत्मा की ध्वनि को कहने से वे कभी चूकने नही थे, भले ही किसी को अच्छा लगता अथवा वुरा। स्पष्ट एव अप्रिय सत्य कहने में वे पर्वत की तरह अडिग रहे।

एक वार एक सज्जन ने स्वदेशी शक्कर की कुछ थैलियाँ उनको भेंट की। उनका मूल उद्देश्य था कि वे उनके विपय में 'सरस्वती' में कुछ लिख दें। कुछ समय के पश्चात् पुन. वे महाशय उनसे मिले और उन्होने उन थैलियो का स्मरण दिलाया तो अपनी अलमारी की ओर सकेत कर द्विवेदी जी वोले—तुम्हारी थैलियाँ ज्यो की त्यो रखी है। 'सरस्वती' इस प्रकार किसी के व्यवसाय का माध्यम नही वन सकती। ऐसे थे द्विवेदी जी।

एक वार 'सरस्वती' में किसी राजवश का एक सचित्र परिचय प्रकाशित हुआ था, जिसके फलस्वरूप उक्त वश के एक कुमार ने द्विवेदी जी को पुरस्कृत करने की अभिलापा व्यक्त की थी। परंतु उन्होंने विनीत भाव से उक्त राजकुमार को लिखा था अपना कर्तव्य मानकर मैंने यह किया है। उसके लिए मैं पुरस्कार नही लेना चाहता। यूँ पुरस्कार का अधिकारी भी नही हूँ। परतु यदि आप इस वात से सतुष्ट होकर पुरस्कार देना ही चाहते है तो 'सरस्वती' को दे सकते है, 'सरस्वती'-सपादक को नही। निर्लोभ ब्राह्मण द्विवेदी जी ने वही वात लिखी, जो एक ब्राह्मण के लिए शोभनीय है। सचमुच 'सरस्वती' का सर्वविध विकास ही उनकी साधना का लक्ष्य था।

द्विवेदी जी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था —अथक-गति से नवीन लेखको तथा कवियो का मार्ग दर्शन एव प्रोत्साहन। आशुकवि श्री जगमोहननाथ अवस्थी जी के शब्दो में कहूँ कि वे ····"साहित्य के रचयिता न सही, परतु रचना करने वालो की रचना करने वाले साहित्यिक ब्रह्मा थे।' संपादकाचार्य स्व० प० वावूराव विष्णु पराडकरजी भी द्विवेदी जी को गुरुतुल्य मानते थे। वे कहते थे कि उनको आचार्य द्विवेदी जी और 'सरस्वती' से काफी प्रेरणा मिली थी। 'सरस्वती', का प्रत्येक अंक अपने सपादक के व्यक्तित्व की घोपणा करता था। यह 'सरस्वती' की ही विशेपता थी और वह द्विवेदी जी का निजत्व था।

उनकी दूसरी विशेषता थी होनहार की पहचान और उसको उत्साह-प्रदान। आज हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखको में अधिक ऐसे हैं, जिन्हें द्विवेदी जी से लिखने का उत्साह मिला था। यदि न मिला होता तो शायद वे लेखक न होते। नवीन होनहार लेखक को उत्साहित करने का अर्थ यह नही है कि उसका जो लेख आए वही छाप दिया जाए। इससे तो उसका भविष्य नष्ट हो जाता है। वह अपने दोप समझ नहीं पाता,

अत सुधारने का यत्न भी नही करता। 'अह' की वृत्ति वढ जाती है और सस्ते लेखको की [illegible] है। उत्साह-प्रदान के पहले यह आवश्यक है कि लेखक के भीतर जो कला छिपी पडी है, उसे पहचाने तथा उसे बाहर निकालने का यत्न करे । यह कार्य द्विवेदी जी ही कर सकते थे । लेखक की विशेषता की रक्षा करते हुए उसके लेख का सशोधन करना अत्यत कठिन कार्य है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

एक बार द्विवेदी जी ने स्व० प० लक्ष्मीधर वाजपेयी जी को नाना फडणनवीस पर कुछ लिखकर 'सरस्वती' के लिए भेजने का आदेश दिया। उन्होने यथेष्ठ अध्ययन करके लगभग पचास पृष्ठ हाफ फुलिस्केप सीट लिखकर उनकी सेवा में भेज दी। लौटती डाक से उन्हें द्विवेदी जी का पत्र मिला कि आपने यह 'सरस्वती' के लिए लेख लिखा है या ग्रथ लिखा है? खैर, अब किसी तरह उसका उपयोग कर लिया जाएगा। बाद में वाजपेयी जी के आग्रहानुसार उनकी पाडुलिपि द्विवेदी जी ने उनके पास वापस भेज दी थी। वाजपेयी जी के कथनानुसार प्रत्येक कापी के हाशिए पर किनारे-किनारे लेख के उतने ही अश पर पेन्सिल से निशान थे, जितना लेख के लिए उपयोगी था। बीच-बीच में अँग्रेज़ी में कुछ टीकात्मक वाक्य भी थे, जो उनके लेख से प्रभावित होकर लिखे गए थे।

पचास पृष्ठो में लिखा हुआ अपना उक्त जीवनचरित्र 'सरस्वती' के आठ पृष्ठो मे प्रकाशित देखकर वाजपेयी जी को आश्चर्य हुआ। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बँधा था कि कही [illegible] मालूम नही होती थी। इतना ही नही, अपितु लेख वाजपेयी जी के नाम से छपा था और दो रुपये पृष्ठ के हिसाब से [illegible] रुपयो का मनीआर्डर भी पुरस्कार में उनके पास एक सप्ताह के भीतर ही अपने आप पहुँच गया था। वे तो अवाक् [illegible] गए कि यह कैसा महान् पत्रकार है जो अपने साधारण कृपापात्र लेखको के प्रति इतना सजग रहता है।

सभी जानते है कि राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी को द्विवेदी जी ही साहित्य क्षेत्र मे लाए और वहुत ही मनोयोगपूर्वक उनका पथप्रदर्शन करते रहे। श्री मैथिलिशरण जी ने स्वय कहा है—

> करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद !
> महावीर का यदि उन्हें मिलता नही प्रसाद ! !

'सरस्वती' में उनकी 'हेमत' शीर्षक कविता पहली वार प्रकाशित हुई तो उन्होने देखा कि उसमें इतना सशोधन-परिवर्धन हुआ था कि वह उन्हें अपनी रचना ही प्रतीत नही होती थी। उनके [illegible] हैं —"कहाँ वह ककाल और कहाँ यह मूर्ति ! वह कितनी विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी, [illegible] के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा था। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पण्डित जी की [illegible] देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। अयोग्य देखकर भी पडित जी ने मुझे त्यागा नहीं, [illegible] अपना लिया। मुझे वोलचाल की भाषा में पद्य रचने का 'गुर' मिल गया।"

अपने देश के तरुणो को द्विवेदी जी कैसे प्रोत्साहित करते थे, इसका एक और सुदर [illegible] है। बात सन् 1926 की है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी जी के एक वडे लेख का अनुवाद '[illegible] मैगजीन' में वहुत विस्तार एव प्रशसात्मक टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ था। द्विवेदी जी की [illegible] पडी और वे अवस्थी जी की खोज करने लगे। अवस्थी जी को स्वय इसकी जानकारी नहीं थी। [illegible] द्विवेदी जी आशीर्वाद देने उनके निवास-स्थान पर पहुँचे थे। उन्होने [illegible] —'[illegible] विद्वान् हो। देश-विदेश में भारत का नाम कर रहे हो।" अवस्थी जी अवाक् [illegible] कभी नही सुना था कि द्विवेदी जी किसी की झूठी तारीफ करते हैं। वरन् [illegible] कुछ प्रसग उन्होने सुने थे। अवस्थी जी कहते हैं—"मुझे आशीर्वाद देकर और [illegible] वे लगभग आध घटे में चल दिए।"

लेखक तथा सपादक के व्यवहार में मुख्य वात द्विवेदी जी में यह थी कि वे [illegible] एक विशेष दृष्टि रखते थे । जो सामग्री उनके पास पहुँचती, उसमे से वे [illegible] रहते थे कि मुझे अपने पाठको को कैसी सामग्री देनी है और जो देनी है [illegible]

वे लेखकों तथा कवियो को जुटाने की कला में परम निष्णात थे। साथ ही, उनकी पैनी नजर यह भी ताड़ती रहती थी कि कौन किस विपय पर सुदर लिख सकता है। प्राय. वे अपने लेखको तथा कवियो को विपय विशेप पर लेख तथा कविता लिखने का आदेश दिया करते थे और प्राय: उनके पास सवद्ध साहित्य भी भिजवा दिया करते थे। स्व० प० रामनारायण मिश्र जी जब स्कूलो के डिप्टी हुए तव द्विवेदी जी ने उनको प्रेरित कर शिक्षा-विभाग की उस वर्प की रिपोर्ट भेज कर, उनसे लेख लिखाया और द्विवेदी जी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही वे 'सरस्वती' में लिखने लगे।

उनकी पैनी नजर देश के हिंदी जगत् से वहुत दूर विदेशो के भी हिंदी-ज्ञाताओ में अपने लिए लेखक खोजती रहती थी। अमेरिका, जर्मनी, फ्रास, इग्लैंड आदि देशो में भी उन्होंने हिंदी लेखको को खोजा और जो लोग वहाँ रह कर हिंदी को भूले हुए थे, कदाचित् हिंदी लेखन का भी जिन्हें विशेप अभ्यास नही था, उनसे भी हिंदी मे लेख लिखवा-लिखवाकर 'सरस्वती' में प्रकाशित किए। साथ ही उक्त लेखो की भापा अपने साँचे में ढालकर उन लेखको को उन्होने इतना प्रोत्साहित किया कि उनमें से कितने लेखक हिंदी जगत में चमक उठे। नये लेखको को खूव अध्ययन करने के लिये वहुत उत्साहित करते थे और अपने पुस्त-कालय से अध्ययन सामग्री भी दिया करते थे । वे उन्हें यह परामर्श भी देते रहते थे कि जो कुछ अध्ययन करो, उस पर अपने विचार व्यक्त करो। यदि ऐसा न कर सको तो पुस्तक का सार ही लिख डालो। ऐसा करने से वह पुस्तक लेखक को आत्मसात हो जाती है।

सामग्री पहुँचते ही वे तुरत प्राप्ति एव स्वीकृति-अस्वीकृति की सूचना देते थे। पत्रोत्तर देने वाले ऐसे विरले ही पत्रकार होगे। कोई पत्र होता चाहे लेख या कविता होती, वे प्राप्त होते ही तत्काल उसे पढते थे और हजार काम छोडकर अपनें सपादकीय कर्तव्य का पालन करते थे। उनके पत्र अत्यत सक्षिप्त, ओज-पूर्ण, वहुधा व्यग्य पूर्ण और प्राप्तकर्ता को हर्षित करने वाले होते थे। लेखको के प्रति शालीनता एव नम्रता की तो वे हद कर देते थे। स्थानाभाव से लेखको तथा कवियो को लिखे गए उनके कुछ चुने हुए पत्रो को उद्धृत करने का हम लोभ सवरण कर रहे हैं।

सपादकाचार्य प० अविकाप्रसाद वाजपेयी जी का यह कथन वहुत मारके का है कि द्विवेदी जी और 'सरस्वती' का अभिन्न सवध था। आज इस प्रश्न का उत्तर कोई नही दे सकता कि यदि द्विवेदी जी को 'सरस्वती' न मिलती और द्विवेदी जी 'सरस्वती' को न मिलते तो आज उनकी जो प्रशसा और पूजा हो रही है, वह होती या न होती अथवा हिंदी की जो उन्नति उर्दू-प्रधान लोगो मे आज देखी जाती है, वह दिखाई देती या नही। जिस समय उन्होने 'सरस्वती' का सपादन भार लिया था, उस समय भी हिंदी के अच्छे लेखक थे, पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती थी। परतु दो वातो का अभाव था। एक तो द्विवेदी जी जितनी भाषाएँ जानते थे और अपने कार्य के लिए उनका उपयोग कर सकते थे, उतनी भापाएँ शायद उनमें कोई नही जानता था और दूसरे जिस लगन से वे कार्य करते थे, उस लगन से शायद कोई नही करता था। जहाँ तक पता है, उस समय अधिक-से-अधिक चार भाषाएँ जानने वाले सपादक थे। परन्तु द्विवेदी जी आठ भाषाएँ जानते थे। उनके कार्य में इस ज्ञान से वडी सहायता मिलती थी। सपादन कार्य में वे जितना परिश्रम करते थे, उतना कोई संपादक न करता था और न करता है । तभी तो आचार्य हजारीप्रसाद जी ने उनको 'आश्चर्यजनक अवतारी पुरुष' कहकर सवोधित किया है। उन्होने उनको नख से शिख तक 'ईमानदार' भी कहा है। आगे वे कहते हैं कि द्विवेदी-युग के अन्यान्य साहित्यिक महारथियो की महिमा को सपूर्ण स्वीकार करते हुए भी नि सकोच कहा जा सकता है कि भापा को युगोचित, उच्छ्वासहीन, स्पष्टवादी और वक्तव्य अर्थ के प्रति ईमानदार वनाकर जो काम वे कर गए हैं, वही उन्हे हिंदी साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी वनाता है। साधारणत साहित्य क्षेत्र में भाषा के प्रजापतिगण केवल शैली और भाषा के वल पर इस महत्वपूर्ण आसन पर अधिकार नही करते, परतु द्विवेदी जी एक ऐसे अद्भुत मुहूर्त मे आए थे और एक ऐसी प्रकृति और ऐसा सस्कार लेकर आविर्भूत हुए थे कि वे उस आसन पर निर्विवाद भाव से अधिकार कर सके। वदे महापुरुष ते चरणारविंदम्। •• • • • •

युगप्रवर्तक आचार्य

सोमदेव शर्मा

हिंदी भाषा एव साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी जी की ख्याति एव यश तव तक निरतर चलता रहेगा जव तक आकाश मे सूर्य एव चद्र विद्यमान है। अपने गभीर व्यक्तित्व, अथक काव्य-सेवा एव चरित्र-वल से उन्होंने हिंदी-जगत् को नवचेतना प्रदान की। जीवन-भर उन्होंने हिंदी भाषा को दोप-दौर्वल्य से सर्वथा मुक्त करने का प्रयास किया।

साहित्यिक क्षेत्र में द्विवेदी जी के आने से पूर्व हिंदी-भाषा में भारतेंदु वावू काव्य के प्राय सभी अगो की रचना प्रारभ कर चुके थे। भारतेंदु-युग में गद्य-भाषा के स्वरूप का निर्णय हो चुका था। कविता, नाटक, उपन्यास, निवध और आलोचना आदि में उसका प्रयोग यथाशक्ति किया गया था। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रगति पर था। हिंदी में लेखको और प्रकाशको की कमी न थी। काशी में नागरी प्रचारिणी सभा भी कार्य में सलग्न थी। किंतु फिर भी हिंदी-भाषा मराठी, वँगाली आदि अन्य भारतीय भापाओ के समक्ष दुर्वल-सी लगती थी। ऐसे समय में हिंदी को एक कर्मठ एव कुशल नेता की मार्गप्रदर्शन के लिए आवश्यकता थी।

आचार्य द्विवेदी जी ने ऐसे समय में ही सरकारी नौकरी छोडते ही साहित्य-सेवा का व्रत लिया। 1902 में आपने 'सरस्वती' पत्रिका का सपादन आरभ किया। हिंदी साहित्य के लिए निरतर 'सरस्वती' में ज्ञान-विज्ञान, व्यावहारिक विषयो पर सरल भाषा में टिप्पणी लिखते थे। किंतु साथ ही द्विवेदी जी ने भाषा-सुधार की ओर भी ध्यान दिया। पडित कामताप्रसाद गुरु से आपने प्रामाणिक व्याकरण लिखवाया। 'सरस्वती' में अनेक छोटे वडे लेख हिंदी-भाषा के सुधार पर लिखे। इन लेखो मे तत्कालीन लेखको की अशुद्धियो (लिंग, वचन, सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया प्रयोगो की अशुद्धियो) को शुद्ध करके द्विवेदी जी लेखको का मार्ग निर्देशन किया करते थे। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी खडी वोली को व्याकरण सम्मत वनाने में सलग्न रहे। आचार्य जी के प्रयासो से हिंदी गद्य की भाषा व्यवस्थित हुई। उन्होंने स्वय कहानी, यात्रा-सस्मरण, जीवन-चरित, आत्मकथा, आलोचना आदि गद्य रूपो की ओर अपने युग के पाठको का ध्यान आकर्षित किया। न केवल अपने लेखो मे, अपितु व्यग्य-चित्र के माध्यम से भी लेखको को प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप विभिन्न स्वरूप विकसित हुए।

गद्य-शैली के सवध में द्विवेदी जी की राय थी कि शैली एक ओर विषय के अनुरूप हो तो दूसरी ओर जनता के अनुकूल। जनसाधारण को भाषा समझने में कोई कठिनाई न हो, यह उन का सवसे वडा लक्ष्य था। वे हिंदी के दृढभक्त होते हुए भी उर्दू के सहज एव सरल रूप को स्वीकार करते थे। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—"उर्दू भिन्न भाषा नही, अरवी-फारसी के जो शब्द प्रचलित हो, उन्हे मैं हिंदी के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस वात के प्रमाण है।" विदेशी भापाओ के प्रति उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। वे अँग्रेज़ी, फ्रासीसी आदि भाषाओ के शब्दो को—जो कि हिंदी में प्रचलित हो गए है, स्वीकार करते थे। वे कभी यह नही मानते थे कि रेल, स्टेशन, रेडियो, मोटर आदि शब्दो के स्थान पर सस्कृत के पर्यायवाची शब्द प्रचलित किए जाएँ।

हिंदी भाषा की अभिव्यजना शक्ति की अभिवृद्धि के लिए द्विवेदी जी सदैव प्रयत्नशील थे। किसी भी भाषा के शब्द-कोश और उसकी लोकोक्तियो के भडार में ही उस की सवसे वडी शक्ति होती है। अतएव वे सदैव अन्य भाषाओ के ऐसे शब्दो का, जो हिंदी में समा सकते है, स्वागत करने को तत्पर रहते

थे। उनका विचार था '—

"जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए वाह्य खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पडती है, वैसे ही सजीव भाषाओ की वाढ के लिए विदेशी शब्द और भावो के सग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नही करती या जिस मे ऐसा होना वद हो जाता है तो वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नही तो निर्जीव अवश्य हो जाती है।"

द्विवेदी जी ने हिंदी के शब्द भडार में पर्याप्त अभिवृद्धि की। आवश्यकतानुसार एक ओर तो सरल तत्सम सस्कृत-शब्दो का प्रयोग प्रचलित किया, दूसरी ओर बँगला, मराठी, उर्दू और अँग्रेज़ी के सरल शब्दो को स्थान दिया। द्विवेदी जी हिंदी के अतिरिक्त ये भाषाएँ भी जानते थे, अतएव वे ऐसा कर सके।

पद्य-रचना की प्रणाली भी आचार्य जी ने स्थिर की। ववई में रहने के कारण आचार्य जी को मराठी भाषा का सम्यक् अध्ययन करने का अवसर मिला था। मराठी में अधिकतर सस्कृत के वृत्तो का व्यवहार होता है। पदविन्यास प्राय गद्य का-सा रहता है। इसी नमूने पर द्विवेदी जी ने हिंदी मे पद्य-रचना प्रारभ की। धीरे-धीरे उन्होने पद्य में भी खडी वोली का प्रयोग प्रचलित कर दिया। आप का आग्रह था कि कविता वोलचाल की अर्थात् गद्य की व्यावहारिक भाषा में होनी चाहिए। प्रतिभा और योग्यता के अनुरूप अनेक वाल कवियो को उन्होने काव्य-रचना की स्फूर्ति प्रदान की और उनकी साहित्यिक विकास-वृद्धि में गुरुवत् सरक्षण देते रहे। अभी तक कविता विषय के क्षेत्र में पुरानी परिपाटी पर ही चल रही थी। प्रेम व शृगार के वहते स्रोत को रोक, कविता के लिए नए-नए विषय-स्वदेश-प्रेम, समाज सुधार आदि वताए। राष्ट्रीय-जागरण के अनुष्ठान में द्विवेदी-युगीन हिंदी कविता ने महत्वपूर्ण योग दिया। आचार्य जी के परम-भक्त एव अनुयायी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रणीत 'भारत-भारती' भी इसी प्रकार का उद्वोधक काव्य है, जिसकी मूल प्रतिज्ञा ही वास्तविक समस्या का उद्घाटन करती है—

"हम कौन थे, क्या होगए और क्या होगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

गुप्त जी ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को कई प्रकार से सजग किया। तरुणो में देश सेवा और आत्मोत्सर्ग की भावना उनके 'अनघ' नामक गीति नाट्य ने जगाई, जिस का मुख्य सूत्र यही था—

न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन-सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा॥

आचार्य द्विवेदी जी ने भी कर्मठ होकर इस ढग की न जाने कितनी कविताएँ लिखी। उस काल की उनकी सुदर कृतियो का सुदर रूप 'कविता कलाप', 'कुमार संभव-सार', इत्यादि में दिखाई पडता है। द्विवेदी जी ने भूगोल, ईतिहास, विज्ञान, व्याकरण जैसे विषयो पर तत्कालीन लेखको को लेखनी उठाने के लिए उत्साहित किया। 'कवियो की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि लेख लिखकर 'साकेत' जैसे महाकाव्य की रचना की प्रेरणा दी। "जिस भाषा का अपना साहित्य नही, वह रूपवती भिखारिणी के समान है।" आदि वाक्यो द्वारा उन्होने अनेक अन्य भाषा-भाषी लेखको को हिंदी-साहित्य की ओर लाने का प्रयत्न किया।

आचार्य द्विवेदी जी भाषा के महान् सुधारक थे। यदि द्विवेदी जी हिंदी-गद्य को व्यवस्थित एव विकसित न करते तो नि सदेह ही उसमे वह प्रौढता नही आ पाती जो हम छायावाद युग में देखते है। द्विवेदी जी ने यह सारा कार्य न केवल स्वय किया अपितु उन्होने एक ऐसा आदोलन चला दिया जिससे कि उस युग के सभी प्रमुख लेखको का ध्यान भाषा की शुद्धता के प्रति इतना सचेत रहता था। उस युग के प्रमुख कृतिकार लोचनप्रसाद पाडेय, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति है, जिनकी काव्य-रचना शैली का वृद्धि क्रम ही स्वर्गीय द्विवेदी जी की सफलता का इतिहास है।

नि सदेह आचार्य द्विवेदी जी अथक परिश्रमी, कर्मठ, सच्चे सपादक, हिंदी के अनन्य सेवी, भाषा-सुधारक और हिंदी साहित्य के महारथी थे। हिंदी-ससार इन की सेवाओ का आजन्म ऋणी रहेगा। ●

लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा'

युग-निर्माता

ते वन्द्यास्ते महात्मानस्तेपा लोकेईस्थर यश—
यैर्निवद्यानि काव्यानिये वा काव्येपु कीतिता—

प्रत्येक मनुष्य परिस्थिति का दास नही रहा करता। कई मनुष्य ऐसे भी होते है, जो अपने कर्तव्य से धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थिति में पर्याप्त परिवर्तन कर दिखाते है। आचार्य प्रवर स्वर्गीय पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी भी इसी कोटि के साहित्यकारो में से थे। आप सपादक, समालोचक, सुकवि और लेखक भी थे। आपने अपना सारा जीवन साहित्य सेवा ही में उत्सर्ग किया। हिंदी-ससार को उनका विशेष परिचय देने का प्रयास करना धृष्टता है। "सरस्वती" के सपादन-काल में द्विवेदी जी ने हिंदी के माथे पर पूर्ण चद्र का मुकुट चढा दिया। उस समय के जिन हिंदी शिल्पियो ने हिंदी को आधुनिक रूप प्रदान किया था उसमे द्विवेदी जी का आसन वहुत ऊँचा था। वे भापा सौष्ठव तथा साहित्यिक सौंदर्य की ओर ही अधिक ध्यान देते थे। वह प्राप्त लेखो पर वडा परिश्रम करते थे। कदाचित ही कोई लेख उन के सशोधन से बच पाता था। किसी लेख को विना पढे और विना उसकी भापा शुद्ध किए वह प्रेस में न जाने देते थे। वे कोरे सपादक ही नही थे किंतु एक जवरदस्त निर्माता थे। साहित्य-क्षेत्र में विभिन्न उपयोगी विषयो के ग्रथो का प्रणयन कर उन्होंने साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया था और 'सरस्वती' को उच्च कोटि की पत्रिका वनाकर सपादन कला का भी एक नूतन आदर्श उपस्थित किया था। उन्ही से प्रेरणा पाकर हिंदी के साहित्य-विभाग की आशातीत उन्नति हुई है। उन्होने 'सरस्वती' के सपादक वनते ही व्याकरण के अनुकूल गद्य-रचना करने की विशेष उत्तेजना दी, कवियो को खडी वोली का व्यवहार करने पर ज़ोर दिया। उस समय और भी वहुत से सपादक और लेखक हिंदी भापा को सजाने में लगे हुए थे परतु उनमें एक भी ऐसा न था जो उनके समान सव काम छोड कर इसी में लग जाता। उन्होंने भापा की शुद्धता पर ज़ोर दिया और उसके लिए लेख तैयार किए। वे हिंदी में मासिक-पत्रकार कला के प्रथम सफल उदाहरण थे। उनकी 'सरस्वती' उन्नत पत्रकार कला का नमूना कही जा सकती है। गद्य और पद्य दोनो को नूतन रूप देने का प्रयत्न उन्होने किया था। आधुनिक हिंदी जगत मे कवि-लेखक-सपादक-समालोचक और ग्रथकार के रूप में जो अनेक उज्ज्वल नक्षत्र अपना आलोक प्रदर्शित कर रहे है वे सव द्विवेदी जी का ही स्नेह और प्रसाद पाकर इस गौरवमय स्थिति पर पहुँचे है। यह उन्ही के अथक परिश्रम का परिणाम है।

हिंदी जगत में जितना उन्होने काम किया, उनके समकालीन संपादक व लेखक अथवा उनके पहले के किसी हिंदी हितैषी विद्वान सपादक से नही वन पडा। उन्होने हिंदी भापा और साहित्य की जो सेवा की

है वह साहित्य के इतिहास मे अजर और अमर है। आधुनिक हिंदी निर्माण का पहला युग भारतेंदु युग कहलाता है और दूसरा द्विवेदी युग—भारतेंदु युग की हिंदी सयम रहित और वनावटी पन से भरी हुई भाषा थी। आचार्य दविवेदी जो ने उसे अपने आसन पर पहुँचने के लिए परिष्कृत मार्ग दिखलाया है। उन्होने गद्य और पद्य दोनो को नूतन रूप देने का अच्छा प्रयत्न किया। गद्य में उन्हें जो सफलता मिली वह पद्य में न मिल सकी, फिर भी पद्य की भाषा के परिवर्तन में उन्होने प्रशसनीय कार्य किया है। वे इने-गिने उन लोगो में से थे जो साहित्य ही नही साहित्यिको की सृष्टि करने की भी क्षमता रखते थे। उनकी लेखनी मे अद्भुत शक्ति थी। वे कठिन से कठिन विषय को अत्यत सरल रूप में लिख देने में सिद्धहस्त थे। सन् 1900 ईस्वी के वाद के प्राय. सभी वर्तमान लेखको व कवियो ने उनसे कुछ न कुछ सीखा है।

स्वर्गीय द्विवेदी जी के लिखे महाभारत या 'सरस्वती' की टिप्पणियो को आप किसी के भी सामने रख दें हर एक सरलता से समझ लेगा। उन्होने अन्य भाषाओ के शब्दो से भी परहेज नही किया, भारत में प्रचलित कई भाषाओ के शब्द वडी खूवी के साथ अपनी भाषा में ऐसे फिट बैठा लिए कि वह समझ नही पडते और वोल-चाल की भाषा मे व्यवहृत होने लगे हैं। उन्होने जिस शैली के गद्य को अपनाया, उसमे प्रसाद, ओज, सामजस्यता, व्यग के साथ-साथ सजीवता अथवा विशदता भी रहती थी। यही कारण है कि हिंदी गद्य-पद्य को अपना सीमित क्षेत्र त्याग कर उन्नत और प्रकाश के मैदान मे आने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनकी आलोचनाएँ अपना एक विशेष आदर्श रखती है। उनकी आलोचना कला की परिपाटी को पडित पदम सिंह शर्मा ने भी अपनाया और उसी ढग पर बिहारी सतसई का भूमिका भाग तथा सत्सई सहार लिखा, आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से हम द्विवेदी जी की "नैषध चरितचर्चा" तथा कालिदास की निरकुशता इत्यादि को महत्त्वपूर्ण स्थान दे सकते है। यह ध्यान देने की बात है कि साहित्यिक या हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में उन का प्रवेश मुख्यत आलोचक के रूप में ही हुआ है। आलोचना का नियम उनका वड़ा कड़ा था। खरी आलोचना करते हुए कभी सकुचाते नही थे। तीव्र आलोचना करने के कारण उन्हो को न जाने कितनो का रोष-पात्र होना पडा। मगर उन्होने इसकी कोई परवाह नही की।

हिंदी साहित्य के निर्माण में जितना शारीरिक और मानसिक परिश्रम द्विवेदी जी ने किया है, उतना शायद किसी एक व्यक्ति ने लगातार किया हो। उन्होने अपने शरीर और मस्तिष्क का एक-एक कण हिंदी-साहित्य के यज्ञ-कुण्ड में होम दिया। अपना तन-मन व धन-सर्वस्व हिंदी को सौप दिया। और अपनी आँखो की ज्योति देकर राष्ट्रभाषा के मदिर को आलोकित किया है। वे एक व्यक्ति नही सस्था थे। उन्होंने योग्यता प्राप्त की थी। यह सब उन्ही के परिश्रम का फल है। एक पुरुष अपने ही उद्योग से कहाँ तक विद्वता प्राप्त कर साहित्य-सेवा कर सकता है, इसके आप आदर्श थे। अपने जीवन के अतिम वर्षों मे भी राष्ट्र भाषा की सेवा ही में व्यस्त रहे हैं। उन्होने जिस सच्ची लगन और निष्ठा से हिंदी भाषा की सेवा की है उसके स्मृति-स्वरूप काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने उन्हें वृहद् अभिनदन ग्रथ प्रदान किया है। आचार्य द्विवेदी जी यशप्रार्थी नही थे। कई विश्वविद्यालयो ने उन्हें समानित करना चाहा था परतु उन्होने उसे स्वीकार नही किया। साहित्य समेलन के कार्य में वे सदा सहयोग देते रहे। परतु सभापति के आसन ग्रहण करने को कभी राजी नही हुए।

उन्होने जो हिंदी साहित्य की निश्छल तथा नि.स्वार्थ सेवा की है वह सतत अनुकरणीय है। उसके लिए साहित्य ससार सदा आपका आभारी रहेगा। मै तो अत में उनके ज्ञान-गाभीर्य पर विचार करते हुए यही कहूँगा :—

तन में जव लौ रही शक्ति 'रमा', लिखते वे रहे-दृग-दृष्टि भी दे दी।
वर भाँतिन-भाँति के ग्रथ रचे, भर दी शुचि हिंदी सु-मातु की वेदी।।
वरनो कह लौ शुभ कीरति मै, वह सारी साहित्य-कला के थे भेदी।
समता में न आन दिखात कोई, अपने सम आप थे एक द्विवेदी।।

पत्रकारिता के क्षेत्र में

देवप्रकाश गुप्त

'पत्रकार राष्ट्र की निधि है। उनमे राष्ट्र की आत्मा बोलती है। वे साहित्य-समाज और कला के आंगन की धुध अपनी पवित्र भावनाओ के उज्ज्वल दीप रखकर कम करते हैं, मिटाते हैं। सचमुच सच्चे पत्रकार तो बहुत ही कम हैं।'

—बेकन

बेकन का यह बीज वाक्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन मे यथावत् सग्रथित दीखता है—इसमें कोई शक नही। हिंदी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की प्राय समस्त विधाओं पर लेखनी चलाकर उनमे मौलिकता के पुट भरे, यह तथ्य तो साहित्य जगत् के लिए सुविदित ही है। आचार्य द्विवेदी का ऊर्जस्वी व्यक्तित्व बाहर से कठोर होता हुआ भी भीतर से बहुत कोमल था। उनका समस्त जीवन पूजा की वेदी पर अर्पित उस श्रद्धायुक्त दीप के सदृश था जिसका सारा अस्तित्व पवित्रता और विराटता के सेतुबध में समन्वित होता है।

बीसवी शताब्दी के पूर्व जब आचार्य जी झाँसी (उ० प्र०) मे रेलवे की नौकरी कर रहे थे तभी से तत्कालीन प्रकाशित हिंदी पत्र-पत्रिकाओ में लेखादि भेजना प्रारभ कर दिया था। उनके भेजे गए वे सारे निबध जब तब पत्र-पत्रिकाओ में यथावत् स्थान पाने लगे थे। उस समय साहित्यिक वातावरण इतना ज्यादा नही पनप पाया था कि आज की तरह लेखक को इस क्षेत्र में आने के लिए अनथक सघर्ष और अविराम परिश्रम-वृत्ति को निमत्रण देना पडे। समय के साथ-साथ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कीर्ति-वल्लरी फलती-फूलती गई। उन्ही दिनो एक प्रतिभा सपन्न आयु प्राप्त लेखक लाला सीताराम ने महाकवि कालिदास की शकुतला की आलोचना और तत्सबधी साहित्य पर एक वृहत् पुस्तक प्रकाशित करवाई थी। सयोगवश वह पुस्तक आचार्य द्विवेदी की आँखो से गुजरी जो उन्हे महाकवि कालिदास की अभिव्यक्ति की मौलिकता (Originality of Expression) के अनुपात मे बहुत फीकी लगी और उसकी कटु आलोचना उन्होंने उन्ही दिनो 'सरस्वती' मे प्रकाशनार्थ प्रेषित कर दी। 'सरस्वती' उन दिनो की अति समानित पत्रिका मानी जाती थी और लोगो को इसके अक की प्रतीक्षा बडी उत्सुकता से करनी पडती थी। पर जब द्विवेदी जी के नाम उक्त आलोचना 'सरस्वती' में छपी तो कुछ लोगो ने उनके पास सहमति और असहमति भरे पत्र भेजे। आलोचना इतनी जोरदार की गई थी कि विरोधी दल के कुछ लेखको के पत्र उनके पास जब-तब आते ही रहे और वे नि सकोच ऐसे सभी पत्रो के उत्तर देते रहे। यह द्विवेदी जी की हृदयगत विशेषता कही जाएगी कि अपने न्याय में वे किसी से भी सकोचवश कुछ नही छिपाते थे। जो रचनाएँ उनके अतर को छूती वे उनको सिर माथे लेते और इतना ही नही उनके लेखको को प्रोत्साहन देने के निमित्त बधाई और धन्यवाद सूचक पत्र भी भेज देते थे। अततोगत्वा आचार्य द्विवेदी की ऐसी समीक्षोचित निर्भीकता ने उस वक्त 'सरस्वती' के प्रकाशको को झकझोरा और वे इसी के परिणामस्वरूप सन् 1903 ई० मे सरस्वती के मुख्य सपादक के रूप मे नियुक्त कर लिए गए। रेलवे की नौकरी छोडकर 'सरस्वती 'का सपादन-दायित्व सभालने के बाद उन्हे साहित्य सेवा का पर्याप्त अवसर मिला और यहाँ से ही उनके पत्रकार जीवन का श्रीगणेश माना गया। सन् 1903 से लेकर 1920 तक का उनका सरस्वती-सपादन कार्य न केवल जीविकोपार्जन का निमित्त बना प्रत्युत साहित्य के हर पहलू पर जमकर लिखने-पढने और गढने की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्रमाणित हो पाया। सपादन-काल मे उन्होंने साहित्य की हर सभव सेवा की। क्योकि वे स्वय यह मानते थे कि वे कोई बहुत बडे कवि-लेखक नही है, फिर भी उन्होंने अनेक काव्य-पुस्तिकाओ का प्रणयन किया। यद्यपि उनकी कविता बहुत हद तक मूल्याकित नही हो पाई पर हिंदी गद्य मे उस समय से लेकर प्रसाद युग और आज तक के जीवित आलोचक एव साहित्यकार आचार्य द्विवेदी की उन समस्त कृतियो को मणि-मेखला की भाँति सँजोते-सँवारते रहे हैं।

संपादन-काल मे आचार्य द्विवेदी ने न केवल प्रामाणिक विद्वानो के लेख ही आमन्त्रित किए अपितु नाटक, कहानी, काव्य और आलोचना के अगो को पूर्णतया विकसित करने में भरपूर योग दिया । पत्रकार जीवन में उन्हें जो भी कमजोर रचनाएँ प्राप्त हुई उन्हें अपनी लाल पेंसिल से उन्होने चिन्नित कर दिया । कभी ऐसी कुछ रचनाएँ लेखको को वापिस कर दी जाती थी तो कभी उन्हें सशोधित रूप में प्रकाशनार्थ भेजने का अनुरोध करने में आचार्य द्विवेदी नही हिचकिचाते थे। और कभी-कभी ऐसी परिस्थिति हो जाती थी कि लेखक की आर्थिक परेशानियो में यत्किंचित् सहयोग देने की भावना से नई रचना तैयार कर वे स्वय प्रेस को भेज देते थे। इससे कुछ ऐसी लेखको की शिकायत भी रही कि उनकी भाषा, काव्य-शैली, शाब्दिक-सगठन आदि की प्रस्तुति भी पूरी की पूरी द्विवेदी जी की हो जाती थी पर, दूसरी ओर ऐसी स्थिति में भी लेख का विषय, लेखक का नाम, और उसका समुचित पारिश्रमिक 'सरस्वती' कार्यालय में सुरक्षित रहता था। कभी-कभी उन्हें प्रकाशनीय सामग्रियो की काट-छाट में वडी असमर्थता होती थी तव अपने प्रियजनो के पास अन्य लेखको की रचनाएँ इस रूप मे में वे सनिवेदन भिजवा देते थे कि उन्हें शुद्ध कर 'सरस्वती' के स्तरानुकूल वना दिया जाए। इन्ही दिनो महाकवि सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' की भी कविता लौटाई गई थी। उन्हें सपादक की कुर्सी पर बैठने के वावजूद भी इसका पूरा-पूरा अहसास था कि उनकी कलम से किसी भावुक लेखक की रचना न लौट जाए और न ही अकारण किसी के हृदय पर आघात पहुँचे। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके अपने आदर्श थे। उनका यह सिद्धांत था कि पत्रिका का प्रकाशन नियत तिथि पर होना चाहिए। वे यह मानते थे कि पत्रिका नियमित समय पर प्रकाशित करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती है—कभी लेखक का सहयोग नही मिलता तो कभी प्रेस का, कभी व्यवस्थापको से अनवन हो उठती है तो कभी प्रकाशनार्थ आई हुई रचन.एँ स्तरीय नही होती । परतु उनका कथन था कि यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्रिका को पाठक-जगत् में प्रचलित एव प्रतिष्ठित करना चाहता है तो उसे इन सारी कठिनाइयो को किसी भी प्रकार से हल करते हुए अक का प्रकाशन नियत तिथि पर करना ही होगा । यहाँ पर यह स्मरणीय है कि श्री द्विवेदी ने जव तक 'सरस्वती' का सपादन किया तव तक पत्रिका का प्रकाशन न केवल नियमित रूप से होता रहा वल्कि नियत तिथि पर भी होता रहा।

जहाँ तक 'सरस्वती' की भाषा का सवंध है, वे सस्कृत मिश्रित हिंदी को अपनाने के पक्ष में नही थे। उनके विचार में हिंदी के अभ्युदय के लिए भारतवर्ष की समस्त आँचलिक भाषाओ का सहयोग स्वीकार कर चलने का था—उर्दू, अरवी, फारसी, अँग्रेजी, सस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, गुजराती, मराठी, वगाली इत्यादि अनेक भाषाओ के सार ग्रहण कर उन्होने हिंदी को उत्तरोत्तर उन्नत वनाने में नैष्ठिक सहयोग दिया। अपने एक मित्र के पत्र में उन्होंने एक वार लिखा था 'उत्तर प्रदेश सरकार की यह नीति है कि स्कूल और कालिज़ो में हिंदी के स्थान पर हिंदुस्तानी का प्रयोग किया जाना चाहिए' इस शीर्ष तथ्य को ध्यान मे रखते हुए पत्रिका में उन्होने ठेठ हिंदुस्तानी भाषा में कुछ लेखको के लेख छापे। इनका परिणाम यह हुआ कि प्रात के सारे विद्यालय और विश्व-विद्यालयों में 'सरस्वती' नियमित आने लगी और विक्री पर भी इसका अच्छा प्रभाव पडा। यदि वे इस नीति को उस समय न अपनाते और सस्कृत मिश्रित हिंदी की रचनाएँ 'सरस्वती' में छापते रहते तो सभवत. पत्रिका के स्थगन की संभावना हो जाती। सूझ-बूझ के धनी आचार्य द्विवेदी ने अपने अपूर्व सपादन-कौशल से 'सरस्वती' का कलेवर सँभाला, और उस समय जव कि सस्कृत-निष्ठ व्यक्तियो की सख्या अगुलियो पर गिनने जैसी थी।

सपादन काल मे विदेशी लेखकों से भी आचार्य द्विवेदी भाषा के विकास पर जव-तव पत्राचार किया करते थे। एनी वेसट और एन्ड्रूज ने इस दिशा में आचार्य द्विवेदी को काफी सहयोग दिया। सन् 1900 यानी 'सरस्वती' के प्रथम प्रकाशन वर्ष में क्रमश. पाँच संपादको ने इस पत्रिका में कार्य किया, पर 'सरस्वती' को उतनी लोक-प्रियता नही प्राप्त हो पाई जितनी द्विवेदी जी ने अपनी असाधारण प्रतिभा से दी। सन् 1903 से 1920 तक अर्थात् सतरह वर्षों तक आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' को अनवरत सेवा दी।

'सरस्वती' सचमुच धन्य-धन्य हो उठी। आचार्य द्विवेदी का सरस्वती सपादन काल निश्चयेण पत्रकारिता जगत् के लिए एक महत्तम उपलब्धि माना जाएगा।

श्रीप्रकाश जी के सरस्वती भाग 17, खंड 2 (नवम्बर 1916) में प्रकाशित लेख की मूल पाडुलिपि

प्रेमचंद जी की सुप्रसिद्ध कहानी 'पंच-परमेश्वर' की मूल पांडुलिपि (सरस्वती, 1916)

पत्र-साहित्य

प्रधानमंत्रीजी,

आपका पत्र आज मिला है। यद्यपि आचार्य श्री महावीरप्रसादजी से मेरा सीधा परिचय नहीं, तथापि उनकी भाषा सेवाओं से मैं अपरिचित नहीं हूं। उनके ७० वर्ष पूरे होने के अवसर पर उनका सम्मान हिंदी प्रेमीयों द्वारा होना सर्वथा उचित समझता हूं।

आपका
मोहनदास गांधी

३/३२
यरवडा मंदिर

द्विवेदी जी के कुछ पत्र

रघुवीर सिंह

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के सपादन से अवकाश ग्रहण करने के छह-सात वर्ष वाद ही मै 'सरस्वती' के लिए लेख लिखने लगा था, अत सपादक के रूप में उनके साथ सपर्क में आने का मुझे व्यक्तिगत सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। परतु उनके सपादन मे प्रकाशित 'सरस्वती' के प्राय सव ही पुराने खडो को मैने ध्यानपूर्वक पढ़ा था और सपादक तथा समीक्षक के रूप में उनके महत्त्व तथा प्रतिष्ठा से पूर्णतया परिचित था, अत सन् 1932 ई० के प्रारंभ में जव मेरा प्रथम ग्रथ 'पूर्व-मध्यकालीन भारत' प्रकाशित हुआ, तव अपनी कृति को उन्हें भेंट-स्वरूप भेजने का लोभ मै सवरण नही कर पाया और यो उनके साथ जो सपर्क स्थापित हुआ वह अत तक वना रहा।

द्विवेदी जी के साथ प्रत्यक्ष भेट का मुझे कभी सौभाग्य प्राप्त नही हुआ। द्विवेदी अभिनदन-ग्रथ भेंट करने के शुभअवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने मुझे भी आमत्रित किया था, परतु अपनी अन्य व्यस्तताओ के कारण दुर्भाग्यवश तव मै वहाँ जा न सका। तदनतर कोई सुअवसर फिर कभी नही मिला और उनके दर्शन की इच्छा मन की मन में ही रह गई।

कुल मिलाकर द्विवेदी जी के चौदह पत्र मुझे मिले थे। उनका अतिम पत्र उनकी मृत्यु से कोई ढाई माह पहिले ही लिखा गया था। मेरे विशेष आग्रह पर द्विवेदी जी ने अपनी कृति 'समालोचना समुच्चय' तथा अपने फोटो-चित्र भी भेजे थे। इन दोनो पर ही द्विवेदी जी ने स्वरचित श्लोक लिखकर अपने हस्ताक्षर भी किए थे। ये सब ही मेरे सग्रह की विशेष निधि है।

द्विवेदी जी के पत्र मुख्यतया व्यक्तिगत ही है, परतु उनसे द्विवेदी जी के इन पिछले वर्षो के जीवन पर कुछ प्रकाश अवश्य ही पडता है। सपादन कार्य से अवकाश ग्रहण कर लेने पर भी सपादक-वृत्ति उनमें अत तक वरावर बनी रही। भापा की अशुद्धियाँ उन्हें वहुत खटकती थी, अतः वारवार उनको इगित कर उनको दूर करने के लिए संस्कृत भापा के विशेप अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देते रहते थे। नए लेखको को प्रोत्साहित करने के साथ ही किस प्रकार उन्हें अपने अध्ययन को विस्तृत और गहरा वनाने के लिए निरतर प्रयत्नशील रहना चाहिए इसका निर्देश भी द्विवेदी जी वरावर करते रहते थे, यह इन पत्रो से स्पष्ट हो जाता है।

सन् 1927 ई० मे 'सरस्वती' मे 'सुकवि-किंकर' का एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें तव वहुमान्य रहस्यवादी और छायावादी कविता की वहुत कडी आलोचना की गई थी। इस लेख से तव हिंदी साहित्य-ससार में वडी हलचल मच गई थी। माना यही जाता रहा है कि यह लेख द्विवेदी जी ने ही लिखा था। उन्ही विचारो की एक झलक द्विवेदी जी के फरवरी 7, 1934 ई० के पत्र में भी देखने को मिलती है। उस पत्र पर द्विवेदी जी ने तव स्पष्टतया लिख दिया था।

'Private—Not for publication' (व्यक्तिगत-प्रकाशन के लिए नही)। परतु पूरे तीस वर्ष वाद अव उसको प्रकाशित करवाने में कोई आपत्ति नही देख पडती है, प्रत्युत तद्विपयक द्विवेदी जी के दृष्टिकोण को समझने में यह पत्र सहायक ही होगा। अत इस पत्र को तो यथावत् पूरा का पूरा दिया जा रहा है।

विस्तार के भय से सब ही पत्रो को यहाँ प्रकाशित करना सभव नही । कुछ के ही विशिष्ट अश दिए जा रहे है । परतु यदि कोई महानुभाव चाहेंगे तो उन्हें सब ही पत्रो की प्रतिलिपियाँ सुलभ कर दी जाएँगी ।

पत्र सं० 1

दौलतपुर, (रायबरेली)
10 फरवरी, 32

श्रीमान् कुँवर रघुवीर सिंह जी साहब,

शुभाशिषो विलसतु—4 फरवरी का पत्र मिला । [1]इतिहास की कापी मिली । कृतार्थ हुआ । धन्यवाद ।

आपकी पुस्तक की मैंने खूब सैर की । कुछ अश खुद पढा, कुछ सुना । आपकी इस कृति को देख कर मुझे परमानद हुआ । आपने बडा परिश्रम किया है और बडी खोज से पुस्तक लिखी है । सटपट की पुस्तकें लिखने वाले तो अब बहुत लोग मैदान मे आ गए हैं, पर इतिहास जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर, सो भी अपनी भाषा हिंदी में लिखने वाले इने गिने अब तक दो ही एक सत्पुरुष थे । आपने अपनी पुस्तक से इस साहित्य शाखा को बहुत कुछ पल्लवित कर दिया । पुस्तक बडे मोल की है और परिमार्जित भाषा मे यथेष्ट विवेचनापूर्वक लिखी है । आपने जिस उद्देश्य को दृष्टिपथ में रख कर पुस्तक लिखी है उसमे आप सर्वत्र सफल हुए हैं ।

आपने खूब याद दिलाई । वायु विज्ञान[2] मेरे पास आया था । योग्य पिता के आप योग्य पुत्र हैं । राजा साहब के विद्या-व्यसन की प्रशसा में कई दफे सुन चुका हूँ ।

आप मेरी पुस्तक चाहते हैं । मुझे खेद ही नही लज्जा भी है, आपको देने लायक मेरे पास कोई पुस्तक नही । पर आपकी आज्ञा टाल भी नही सकता ।

दीनने हीनविभवेण मया कुमार
देय किस्ति भवते विबुधोत्तमाय ।
एकलु मद्विरिचित लघु पुस्तक यत्
स्म्प्रेष्यते बुधवराहत तद्गृहाण ।।

आप तो मुझ से आशीर्वाद भी चाहते हैं, भाई मेरे, मेरा शाप और आशीर्वाद दोनों ही निष्फल हैं । यह तो सभी—आप भी—जानते हैं । तथापि—

"इहानुरध मितया नु किं गिरा"
वृहस्पतिसमो विद्वान् भूयास्त्व भूमिमण्डले
विज्ञाता सर्व शास्त्राणां दाता कर्ण समस्त था ।
मैं बहुत शिथिल हूँ । दृष्टि भी मद है । अधिक नही लिख सकता । क्षमा कीजिए ।

कृपा पात्र
महावीरप्रसाद द्विवेदी

पत्र सं० 2

दौलतपुर (रायबरेली) ।

शुभाशिष सतु

10 नवबर की चिट्ठी मिली । अत्यानद हुआ ।

---

[1]पूर्व-मध्यकालीन भारत (1206–1526 ई०) इडियन प्रेस लि०, प्रयाग, 1932 (अब यह ग्रंथ अप्राप्य है)

[2]'वायु-विज्ञान'—महाराजा रामसिंह (सीतामऊ-नरेश) कृत, 1908 । इसका यह संस्करण अब अप्राप्य-प्राय है ।

वहुत अच्छी वात है, आप प्राचीन स्थानो पर लेख लिखकर, फिर उन्हे पुस्तक रूप में प्रकाशित करके भूली हुई वातो का स्मरण करा दीजिए।

एक काम और कीजिए, किसी तरह थोडी-सी सस्कृत सीख लीजिए। इससे आपको शव्द-शुद्धि का ज्ञान हो जाएगा। फिर आप अनुगृहीत को अनुग्रहीत और रघुवीर को रघुवीर न लिखेंगे।

चिन्त लीजिए।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 3

दौलतपुर, रायवरेली
7–2–34

Private
Not for Publication

श्रीमान् कुँवर साहव–चिरजीव।

चिट्ठी मिली। पुस्तक[3] भी। लिखने की शक्ति मुझ में नही। आपका प्रेम जवरन लिखा रहा है।

राजो, महाराजो, रईसो मे से अधिकाश की जो दशा है उसे देखते हुए यदि आप कोई रद्दी पुस्तक भी लिख डालते तो प्रशसा के पात्र थे। पर आपकी पुस्तक तो वहुत अच्छी है। विचार हृदयहारी हैं। लिखने की शैली मनोरजक है। आपके निर्दिष्ट पहले तीन लेख पढने पर मेरी यही राय हुई है। अव प्रेम-प्रेरित मेरी कुछ सूचनाएँ भी सुन लीजिए—

आप जो कुछ लिखा कीजिए ऐसा लिखा कीजिए जो तत्काल ही पाठको की समझ में आ जाए। वही लेख सफल-श्रम समझा जा सकता है जिसे अधिकाश पाठक समझ लें। तुलसीदास का यह वाक्य याद रखिए—

सरल कवित्त कीरति विमल सुइ आदरहि सुजान।
सहज वैर विसराय रिपु सादर करहि वखान ॥

पृष्ठ 1 प्रसाद की कविता-हृदय नवनीत था। वह तो जला नही। यह स्नेह और कहाँ से टपक पड़ा जो दीपक-सा जल उठा ? फिर उसमें दियासलाई किसने लगाई ? स्नेह क्या आप ही आप जल उठता है ? अवेरा या धूम-रेखा अव किसे चित्रित कर रही है ? प्रसाद ही इन वातो की व्याख्या करे तो समझ मे आवें।

पृष्ठ 2, पारा दूसरा। अशाँति की जो लपटें सुखो को भस्म कर रही थी वे यदि नयनाभिराम हो सकती हैं तो जल-जल कर मरना भी नयनाभिराम हो सकता है। मेरी तो यदि अँगुली भी आग से छू जायँ तो घटो तडपा करूँ।

पृष्ठ 4—तीसरा या दूसरा पारा—हृदय लगातार आदि। जहाँ आग लगती है वहाँ उसी जगह से पानी या खून नही वहता। वह वही जल जाता हैं। हृदय में भीषण दावानल कहाँ से आगया ? अगर वासना-रूपी दावानल है तो कही खुल कर कहना भी तो था।

	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ट 4	स्मशान	श्मशान
”	उद्देश्यो	उद्देशो
पृष्ठ 5 लाईन 2	उससें	उनसे
पृष्ठ 6 आखिरी लाईन	तो	तव

[3]‘विखरे फूल’—सरस्वती प्रेस, काशी, 1933। अव अप्राप्य है। इसी ग्रथ का सशोधित और परिवर्धित सस्करण’ ‘जीवन-धूलि’ नाम से राजकमल प्रकाशन प्रायवेट लि०, फैज़ वाजार, दिल्ली ने 1950 ई० मे छापा था। इसकी प्रतियाँ अव भी वहाँ से प्राप्य हैं।

यह इतना इसलिए लिखना पडा क्योंकि आपकी चिट्ठी से प्रेम, कृपा और औदार्य्य प्रकट हो रहा है। इसी भाव को ग्रहण करके मेरी धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कीजिए।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 4

दौलतपुर, (रायबरेली)
2–3–34

शुभाशिष सतु,

25 फरवरी का पत्र मिला। पढकर अत्यानद की प्राप्ति हुई। आपका विद्या-व्यासग सर्वथा प्रशसनीय है। यदि हमारे राजे-महाराजे आपका अनुकरण करते तो कम से कम भारत का रियासती अश स्वर्ण युग मे परिणत हो जाता।

अभिनदन-ग्रथ मे मैंने आपका लेख पढा है। बडा सुदर है। गवेषणा और सद्विचार पूर्ण है। उनसे आपके विस्तृत अध्ययन का पता भी लग जाता है। आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, एशियाटिक सोसाइटियो के जर्नल और प्राचीन ताम्रपत्रो तथा शिलालेखो का भी परिशीलन, न किया हो तो, कर डालिए। उसमे आपके ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि होगी। एक बात और। आप अपने सस्कृत भाषा-ज्ञान की भी उत्तरोत्तर वृद्धि करते जाइए। उससे अनेक लाभ होगे।

राजपूताना, मालवा और बुदेलखड आदि ही मे भारत की सच्ची इतिहास सामग्री भरी हुई है। उसका उद्धार आप कीजिए। सस्कृत व्याकरण में जब मैं यह उदाहरण देखता हूँ—"अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्"—तब यह जानने को जी चाहता है कि यह माध्यमिका कहाँ थी, कब थी, किस की राजधानी थी, उसकी क्या दशा हुई? आदि। इन बातो को खोज निकालना महत्त्व का काम है।

मैं अपने स्वास्थ्य का क्या हाल लिखूँ? किसी तरह जीता हूँ पर जीता ही मुर्दा समझिए। भला हो इडियन प्रेस का जिसकी बदौलत यहाँ इस दशा में भी पडा हूँ।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 5

दौलतपुर,
जिला रायबरेली,
12 मार्च, 1935

श्रीमान् कुँवर साहब,

शतायुर्भव। 3 मार्च की चिट्ठी मिली। नटनागर[4] की कापी भी मिली। सरसरी तौर पर पुस्तक को देख मैंने कर ली। अच्छा सपादन हुआ है। बडी सुदर छपी है।

भूमिका से मुझे आपके पूर्व-पुरुषो का भी हाल मालूम हो गया। कविता, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा वंशपरम्परा से आपके यहाँ चली आती है।

जिस जमाने में इस पुस्तक की रचना हुई थी वह जमाना ही और था। आजकल से उसकी तुलना नहीं हो सकती। शृगारिक उक्तियो पर आजकल की दृष्टि से जो लोग आक्षेप करते हैं वे विवेक से काम नहीं लेते। नटनागर

---

[4]'नटनागर–विनोद' सीतामऊ के स्वर्गीय महाराज कुमार-रतनसिंह 'नटनागर' कृत, सम्पादक [illegible] कृष्ण विहारी मिश्र द्वारा सपादित, 1935। यह संस्करण भी अब समाप्त-प्राय है।

की कविता की चाशनी मैंने कई जगह से उठा-उठा कर चखी। मुझे तो इस पुस्तक के कितने ही अश बहुत पसद आए। मुझे बडा आनद मिला। इसके इस कवित्त या घनाक्षरी ने—

कान्ह तिहारे तै हमारो कुछ काम नाही,
कान्ह हमारो तो हमारो प्रान पास है।

मुझे तो मोह लिया। बस मेरे इतने ही अक्षरो को आप बहुत समझें। अधिक लिखने की शक्ति मुझ में नही। मैं 72 वर्ष का हुआ। शरीर शिथिल है। हाथ पैर बहुत कम काम देते है। आँखो पर मोतिया बिंद ने चढ़ाई शुरू कर दी है। किसी तरह यातनाएँ भोगता हुआ जी रहा हूँ। आप लोग पुस्तकें भेजते है। रोज ही दो एक आती है। सब आपकी तरह सम्मति चाहते है। सैंकडो राजे, महाराजे, धनाधीश हिंदी प्रेमी हो रहे है। पर कोई समति माँगने वाले यह कभी नही पूछते कि तू कैसा है, किस तरह रहता है, क्या खाता-पिता है, कैसे जीता है ?

आशा है आप मेरे इस उलहने से बुरा न मानेंगे। सनक में आकर लिख मारा।

कृपैषी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 6

दौलतपुर (रायबरेली)
26 जून, 1938

शुभाशिषो विलसंतु भवत्सु,

21 जून का पत्र मिला। आपके स्नेह सूचक और सौहार्ददर्शक वचनो ने मुझे अत्यत ही प्रभावित किया। 'मालवे'[5] की कापी भी मिली। मैं सच कहता हूँ, मुझे कभी यह आशा न थी कि मुझे जीते जी ऐसे ग्रथ रत्न देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। मध्यकालीन भारत ही को मैं हिंदी साहित्य की एक निधि समझता था, मालवा तो उससे भी बढा चढा निकला। आपने न मालूम कितने ग्रथो का मथन करके यह नवनीत हिंदी को प्रदान किया है। भगवान् आपका कल्याण करे और ऐसे-ऐसे अनेक उपादेय ग्रथो की सृष्टि करने का प्रेरक अपना वरद हस्त आप पर रक्खे।

मैं बहुत वृद्ध हूँ। दृष्टि विशेष मद हो रही है। अधिक नही लिख सकता। क्षम्यताम्।

कृपाभिलाषी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 7

दौलतपुर, रायबरेली
24 सितंबर, 1938

शुभाशिषो विलसतु

19 सितंबर का कृपा पत्र कल शाम को मिला।······कल्याणमस्तु।

तीन महीने बाद आपने मेरे उस पत्र का जवाब दिया। ··· आपके वात्सल्य-भाव से भरे हुए शब्दो ने मेरे हृदय पर बडा असर किया। मैं आपका अत्यत कृतज्ञ हूँ। परमात्मा आपको चिरायुरारोग्यं प्रदान करे।

---

[5]"मालवा मेंयुगातर पूर्वकाल (1698–1766)" मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इदौर, 1938। अब अप्राप्य है।

भैय्या, मेरी दशा दयनीय है। अवस्था मेरी आतुरो की जैसी हो रही है। चल फिर कम सकता हूँ। दिन मे कई बार गश आ जाता है। दस-पाँच मिनट भी ध्यान पूर्वक पढने या किसी बात का मनन करने से शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते है और क्षणिक बेहोशी आ जाती है। इस दिशा में मै आपकी सप्तदीप[6] पुस्तक पढने में असमर्थ हूँ। और बिना पढे कुछ लिखना अन्याय होगा। अतएव आशा है कि आप मुझे क्षमा करेगे।

परमात्मा से प्रार्थना है कि वह आपको चिरायु करे, आप के सुयश की वृद्धि करे और अपनी प्रेरणा से आप ऐसे ग्रथो की रचना करावे जिनसे देश तथा समाज सबको यथेष्ट लाभ पहुँचे। बहुनाकिम्। अधिक लिखने की शक्ति नहीं।

शुभाकांक्षी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र सं० 8

दौलतपुर (रायबरेली)
3-10-38

शुभाशिष सतु

28 सितबर का कृपा पत्र मिला।

आपने यो ही प्राचीन इतिहास का असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया है, फारसी के पुराने ग्रथो के आकलन से उसकी और भी वृद्धि हो जाएगी। आपकी ज्ञान-पिपासा प्रशसनीय है। मैने स्कूल मे फारसी पढी थी मगर अब तो वह भूल-सी गई है। गुलिस्ता कुछ-कुछ याद है।

वैदिक, प्राकृत और सस्कृत-भाषा के प्राचीन ग्रथो, दान पत्रों और शिला लेखो मे पुराने इतिहास की सामग्री भरी पडी है। कुछ सस्कृत का अभ्यास कीजिए तो महावीर न लिखकर आप महावीर लिखने लगेगे।

शुभानुध्यायी
म० प्र० द्विवेदी

[6]सप्तदीप—(विविध लेख-सग्रह)—हिंदी ग्रथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई 4, 1938। यह प्रकाशन अब अप्राप्य है।

श्रीमान् माननीय द्विवेदीजी महा-
राज की सेवा में :—

कदाचित् आपको स्मरण होगा
कि जब मैं उदयपुर में था और
मेरी प्राचीन लिपिमाला" का प्रथम
संस्करण बिक चुका था तब आपने
उसकी एक प्रति या प्रूफ तक
भेजने की आज्ञा दी थी. मेरे पास
कोई और प्रति न रहने से एक
खंडित प्रति जिसमें, मुझे स्मरण
है, अंत के कई लिपिपत्र घटते थे
आपकी सेवा में अर्पित की गई थी.
अब आप के आशीर्वाद से उसका
दूसरा परिवर्द्धित संस्करण छप चुका
है. उसकी एक प्रति आज की
डाक से आपकी सेवा में विनय-
पूर्वक भेट करता हूं उसे आप
कृपाकर स्वीकार कीजियेगा.

विनत
गौरीशंकर हीराचंद ओझा

'साहित्यवाचस्पति' का पत्र-साहित्य

परमात्माशरण बंसल

अपनी कथा कहते मुझे सकोच भी वहुत होता है, उसमे कुछ तत्व भी तो नही। उससे कोई कुछ सीख भी तो नही सकता।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

पत्र लेखन साहित्य की एक कला है। यद्यपि साहित्यकार पत्र द्वारा अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और विचारो को किसी विशेष व्यक्ति तक ही प्रदर्शित करता है परतु जब पत्र प्रकाशित हो जाते है, तो वे साहित्य बनकर समष्टि का कल्याण करते है। साहित्यवाचस्पति आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का पत्र साहित्य इसी कोटि का है।

वास्तव मे द्विवेदी जी अपने व्यक्तिगत सबध मे कुछ लिखना पसद नही करते थे। अपनी संक्षिप्त आत्मकथा लिखते हुए प० महावीरप्रसाद द्विवेदी कितना सकोच अनुभव करते थे, उन्ही के शब्दों मे देखिए —

"मै क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है, परतु मै क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और हमारे हितैषियो को वहुत ही कम है। उन्होने मुझे अनेक पत्र लिखे है, अनेक उलाहने दिए है। अनेक प्रत्यानुरोध किए है, वे चाहते है कि मै अपनी जीवन कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्णरूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझ मे नही। अपनी कथा कहते मुझे सकोच भी वहुत होता है। उसमे कुछ तत्त्व भी तो नही। उससे कोई कुछ सीख भी तो नही सकता। तथापि जिन सज्जनो ने मुझे अपना कृपा पात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लघन भी धृष्टता होगी।"

इसलिए आपके पत्रो का मूल्य और अधिक हो जाता है और आपके इन पत्रो मे जीवन के अनेक पक्ष सामने आ जाते है, जो अन्यथा शायद स्पष्ट न हो पाते। आपके पत्र साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है (1) 1903 ई० से पूर्व, (2) 1903 ई० से 1920 ई० तक (सरस्वती सम्पादन काल) और (3) 1920 ई० के पश्चात। इन तीनो भाग में से 'सरस्वती' सपादन का समय विशेष उल्लेखनीय है।

स्थान के अभाव में यहाँ पर केवल उन ही पत्रो का संकलन किया गया है जो अधिक लंबे नही है, । उनका विशेष महत्त्व वाला स्थल ही दिया गया है। द्विवेदी जी सदैव मातृभाषा के प्रचार और प्रसार में लगे रहे, परंतु कभी-कभी उन्होने अँग्रेज़ी मे भी पत्र-व्यवहार किया है। यहाँ पर दोनो भाषाओ के पत्र एकत्र किए है। प्राय. ये सभी पत्र समय-समय पर 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित भी हो चुके है।

पडित जी ने प० श्रीधर पाठक जी को एक पत्र निम्न रूप में लिखा था .—

झाँसी,
15 फरवरी, 1896

प्रिय महोदय,

वहुत दिन से आपकी कौशलशालिनी लेखनी ने कोई नूतन ग्रथ हिंदी साहित्य के कोश में नही स्थापन किया। आपका 'ऊजड़ ग्राम' और 'योगी' तो इतना ललित और स्वाभाविक है कि अनेक वार पढने पर भी फिर-फिर पढने को जी चाहा करता है। कहा भी है, 'क्षण क्षण यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया. ।" कथानक अच्छा न होने से 'ऊजड ग्राम' उतना हृदयगम नही जान पडता जितना 'एकातवासी योगी' जान पडता है। फिर चाहे हमारी क्षुद्र वुद्धि ही का यह भ्रम हो। 'पथिक' की वक्रता ऐसी स्वाभाविक रीति से प्रतिविंवित की गई है कि मूल से भी हमारी समझ में कही वढके है। हम तो इसे वहुधा पढते है और अपने मित्रो से भी (जिनमें कई एक केनिंग कालिज के छात्र है) उसे पढाकर सुनते है। इलियट का पैराडाइज़ लास्ट, इत्यादि और भी मनोहर काव्य अँग्रेजी मे है। आप चाहेंगे तो उन्हें भी किसी विचित्र मीटर में अनुवाद करके अपूर्व रस का अस्वादन हम सवको सुलभ कर देंगे।

ईश्वर आपको स्वस्थ रखे और, और भी ऐसे काव्य लिखने की शक्ति देवे, यही उससे प्रार्थना है।

आपका
महावीरप्रसाद द्विवेदी

(2)

वावू राधाकृष्णदास जी को एक पत्र लिखा था —

झाँसी,
12 अगस्त, 1898

महोदय,

कार्ड आपका आया-उस कागज को कृपापूर्वक वापस कर दीजिए—आपको स्मरण होगा, हमने लिखा था कि इन पद्यो को देखिए और ठीक हो, तो सभा को सुनाइए—कर्त्ताधर्त्ता तो आप ही है यदि छपने के योग्य न थी तो कहिए तो सही कि फिर आपने सभा मे उसे ले जाने और सुनाने का परिश्रम क्यो किया—क्या गलहस्त दिलाना ही आपको इष्ट था—ऐसा तो कदापि न होगा—आप स्वय लौटा देते तो हमें वहुत संतोष होता—आप अपनी सभा के नियमो से वखूवी वाकिफ है, फिर क्यो आपने ऐसा किया।

श्रीमदीय
महावीर

(3)

लाला सीताराम जी के कुछ सस्कृत ग्रथो की आलोचना पर द्विवेदी जी ने तीव्र आलोचना की, इस पर लाला जी के आदमी ने द्विवेदी जी को अँग्रेजी में पत्र लिखा। उसका उत्तर द्विवेदी जी ने भी अँग्रेजी मे ही दिया था। द्विवेदी जी 8-1-1900 को अपने पत्र में लिखते है

I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose I have certainly made no attacks on him, you are no doubt, mistaken in this respect XX XX XX What I shall do is this. I have, in good faith and for the public, criticised his versions of Kalidass And do you think it is sinful to criticise Lala Sita Ram's work ? XXX XXX XXXX I am glad your friend furnished you with my address and thus enabled you to unburden your heart to me If you, however, ever forget my address, address me by name only and the postman will find me

(4)

पं॰ सत्यनारायण कविरत्न को निम्न रूप मे एक पत्र लिखा था —

Jhansi
30th October, 1903

Dear Pt. Satya Narayan,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you kindly to come to see me at G I P Rly, Agra City Booking Office in Rawatpara Your description of Hemant will appear in Saraswati either in December or January.

Yours sincerely,
Mahabir Prasad.

(5)

पं॰ श्रीधर पाठक जी को एक पत्र :—

कानपुर
29-4-06

प्रिय मित्र,

कृपा पत्र आया। उससे जान पडता है आप उर्दू मिश्रित हिंदी के विरोधी है। सरस्वती मे कुछ लेख जानबूझ कर उर्दू मिश्रित भाषा मे लिखे जाते है। कारण यही है कि गवर्नमेंट इन प्रांतों की भाषा एक करना चाहती है। इसी से हिंदी और उर्दू रीडरो की भाषा एक रखी गई है। सरस्वती का प्रचार मदरसो में बहुत है। अतएव कोई-कोई लेख मदरसो के लडको और मुदर्रिसो ही के लाभ के लिए लिखे जाते हैं। ठेठ हिंदी या सस्कृत मिश्रित हिंदी का आदर करने वाले बहुत कम हैं। यदि सरस्वती के चलने का भार उन पर ही छोड दिया जाए तो उसका निकलना ही वद हो जाए।

विनयावनत
महावीर प्रसाद

(6)

पं॰ पद्मसिंह शर्मा जी को दो पत्र :—

कानपुर
17-6-1906

प्रिय पंडित जी,

प्रणाम,

कृपा पत्र मिला————————

वाह, क्या आप भी बहानेबाजी करने लगे ? साफ इकार लिखा कीजिए।
दो चार दिन में एक महीने के लिए अपने गाँव जाने का इरादा है। आम की फसल आ गई।

भवदीय
महावीर प्रसाद

(7)

कानपुर
- 21-8-06

प्रणाम,
आपकी कला की मृत्युवार्ता सुनकर रज हुआ। बच्चो के इस तरह के चिर वियोग से तो शायद न होना ही अच्छा है पर क्या किया जाए। शोक चाहे कितना ही क्यो न हो धैर्य ही धरना पड़ता है।
आज्ञानुसार योगदर्शन की आलोचना करेंगे।

विनयावनत
महावीर

(8)

लोगो को लज्जित करने के लिए श्री आर० पी० ड्यूहर्स्ट को 6-3-1907 को पत्र लिखा :
"——————————हमारे देशबधु अँग्रेज़ी जैसी क्लिष्ट भाषा लिखकर उसके साहित्य को तो गंदला करते हैं पर अपनी मातृभाषा में लिखने की चेष्टा नही करते। यह दुर्भाग्य की बात है। क्या ही अच्छा हो यदि आप मातृभाषा विषयक मनुष्य का कर्त्तव्य या इसी तरह के किसी और विषय पर हिंदी में एक लेख लिख कर इन लोगो को लज्जित करें। डाक्टर ग्रियर्सन से हमने प्रार्थना की थी, उन्होने शालीनता-सूचक यह उत्तर दिया कि हिंदी में उनकी यथेष्ट गति नही। आशा है 'सरस्वती' में आपको जो त्रुटियाँ मिलें, उनकी सूचना देकर आप हमें अपना कृतज्ञताभाजन बनावेंगे। हम एक बहुत ही अल्पज्ञ जन है।

विनयावनत
महावीर प्रसाद द्विवेदी

(9)

अपनी पत्नी के वियोग में पं० पद्मसिंह शर्मा जी को पत्र लिखा.

दौलतपुर
13-7-1912

प्रणाम,
कार्ड मिला। क्या लिखूं ? यहाँ भी बुरा हाल है। पत्नी मेरी इस संसार से कूच कर गई। मैं चाहता हूँ कि मेरी भी जल्दी बारी आवे।

भवदीय
महावीर प्रसाद

(10)

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त जी को लिखा था

जूही, कानपुर।
17-2-1914

आशीष,

दक्षिण अफरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में भारतीय प्रवासियो और निवासियो की जो दुर्दशा हो रही है, आप जानते ही है। उस विषय पर दो एक कविताएँ लिखिए। समय सूचकता बडा भारी गुण है। समयानुकूल कविता का बडा असर होता है।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(11)

श्री बदरीनाथ गीता-वाचस्पति को 21-11-1914 को एक पत्र लिखा

'मेरी लोग निंदा करते है या स्तुति, इस पर मै कभी हर्ष विषाद नही करता। आप भी न किया कीजिए। मार्ग भ्रष्ट कभी न कभी मार्ग पर आ ही जाते है। मेरा किसी से द्वेष नही, न लखनऊ के ही किसी सज्जन से न और ही किसी से। उम्र थोडी है। वह द्वेष और शत्रुभाव प्रदर्शन के लिए नही। मै सिर्फ इतना करता हूँ कि जो हृदयगत भावो को नही समझते, उनसे दूर रहता हूँ।

(12)

बाबू कालीदास कपूर, एम० ए०, एल० टी० को एक पत्र लिखा था

डाकखाना दौलतपुर (रायबरेली)
15-3-1918

महाशय,

पत्र मिला, धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मै तदनुसार बर्ताव भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नही, अरबी-फारसी के जो शब्द प्रचलित है, उन्हे मै हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण है। पहले लोग लिखा करते थे, कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड रहा है। पर अब नही बोलते और लोग भी सरस्वती का अनुकरण करने लगे है।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(13)

प० लल्लीप्रसाद पाडेय जी को पत्र लिखा था

दौलतपुर
5-6-1920

श्रीयुत पाडेजी को प्रणाम,

मै जुलाई से बख्शी जी को मुस्तकिल कराना चाहता हूँ। अभी तक उन्होने आपकी मदद से काम किया है। अब मै उनकी स्वतत्र कारगुजारी देखना चाहता हूँ। आप कृपा करके वहाँ से दद [illegible]

संपादक का सारा काम कराइए । जो कुछ पूछें वह बतला अवश्य दीजिए। देखूँ तो ये अकेले काम करा सकेंगे या नही। मेरे शरीर की बुरी दशा है। मै अलग होना चाहता हूँ । अगर बडे बाबूजी आज्ञा देंगे तो नाम अपना दिसम्बर तक, सरस्वती पर रहने दूँगा। पर काम अब मै इन्ही से कराना चाहता हूँ। कापी मै देखूँगा, प्रूफ भी।
पुनश्च: बड़े बाबू को सुना दीजिएगा ।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी

(14)

हिंदी साहित्य समेलन के सभापतित्व को स्वीकार न करते हुए 10–2–1921 को वे लिखते हैं

"····मेरे सिवा किसी अन्य व्यक्ति के आसीन होने से सभापति के आसन का यथेष्ट गौरव न होगा–इत्यादि आपकी उक्तियाँ भ्रमजाल नही तो कौतूहलवर्द्धक अवश्य हैं। यदि मै भूलता नही तो कलकत्ते में पहले भी समेलन हो चुका है और उस समेलन का अधिपति कोई और ही था पर न तो कलकत्ते में हिंदी प्रेमी निराश ही हुए, न हिंदी साहित्य की लाज ही गई और न बगला के विद्वानो की दृष्टि से समेलन के सभापति के पद का गौरव कम हुआ । अपनी इस धारणा के प्रतिकूल मुझे तो किसी का कोई लेख या किसी का कोई वक्तव्य, पढने या सुनने को नही मिला । मुझे तो सब तरफ से सफलता ही सफलता के समाचार मिले । अतएव आप का भय निर्मूल जान पड़ता है। ········· स्वागतकारिणी सभा खुशी से किसी अन्य व्यक्ति को सभापति वरण करे।

(15)

श्री रायकृष्णदास जी को एक पत्र लिखा था :

दौलतपुर, रायबरेली
21–1–1930

शुभाशिष: संतु

बहुत दिनो के बाद आज आपका 18 जनवरी का पोस्टकार्ड मिला । आपने अपने एक पत्र मे दिवाली तक मुझे रुपया भेजने को लिखा था। पर मैंने मना कर दिया था। मै आपको लिखने वाला ही था। इतने में आपका कार्ड आ गया है। नए साल का आरभ है। कुछ गैर मामूली खर्च आ रहे हैं। मेरे भानजे की बहू अपने मायके प्रयाग गई हुई है। उसको भी कुछ रुपया भेजना है। अतएव विशेष कष्ट न हो तो जो कुछ आप पुस्तको के हिसाब में मुझे देना चाहते हो, उसका अद्र्धांश मुझे अभी भेज दीजिए। अवशिष्ट अद्र्धांश पुस्तकें छप जाने या मुझे उसकी जरूरत होने पर भेजिएगा।———

शुभाकांक्षी
म० प्र० द्विवेदी

(16)

पं० किशोरीदास वाजपेयी जी को 12–8–1933 को पत्र लिखा था, जिसका एक अनुच्छेद–इस प्रकार था।

'आपकी कौटुबिक व्यवस्था से मिलता जुलता ही मेरा हाल है । अपना निज का कोई नही है। दूर-दूर की चिड़ियाँ जमा हुई है। खूब चुगती है। पुरस्कार स्वरूप दिन रात पीडित किए रहती है।'

(17)

प० देवीदत्त शुक्ल को एक पत्र लिखा था

दौलतपुर
21–10–1938

नमस्कार,

वहुत समय हुआ, मैंने सरस्वती में स्तुति कुसुमाजलि पर एक या दो लेख लिखे थे। उन्हें देखकर गागों के प्रेमवल्लभ शास्त्री मुग्ध हो गए। उन्होंने समस्त पुस्तक का हिंदी भावार्थ लिखा—सान्वय। वह इंडियन प्रेस काशी में मूल समेत छप रहा है। अद्भुत पुस्तक है। शास्त्री जी अल्पवयस्क पर वडे अच्छे कवि और पंडित है, गरीव हैं। माँग जाँच कर किसी तरह छपाई का खर्च दे रहे हैं। अभी देना वाकी है। पुस्तक की छपाई समाप्त प्राय है। जरा एक कापी मँगा कर देखिए, इंडियन प्रेस कापीराइट लेना चाहें तो थोडे ही खर्च में मिल सकता है। जरा पूछिए, उत्तर दीजिए। मेरे पास के छपे हुए फार्म प० मातादीन ले गए हैं।

आपका
म० प्र० द्विवेदी

(18)

प० किशोरीदास वाजपेयी जी को 2–11–1938 को एक पत्र लिखा .

शुभाशिष सतु

मैं कोई दो महीने से नरक यातनाएँ भोग रहा हूँ। पडा रहता हूँ। चल फिर कम सकता हूँ। दूर की चीज भी नही देख पडती। लिखना पढना प्राय वद है। जरा सी दलिया और शाक खा लेता था। अब कुछ हजम नही होता। तीन पाव के करीव दूध पीकर रहता हूँ——तीन दफे मे। सूखी खुजली अलग तग कर रही है। बहुत दवाएँ की नही जाती।

शुभैषी
म० प्र० द्विवेदी

21 दिसवर 1938 को प्रात काल पौने पाँच वजे इस अमर आत्मा ने नश्वर शरीर त्याग कर सदैव के लिए पत्र लिखने समाप्त कर दिए।
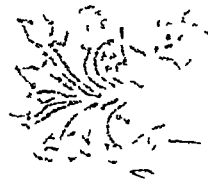
"मतवाला" कार्यालय।

बालकृष्ण प्रेस,
२३, शंकरघोष लेन

कलकत्ता,

आचार्य के ऐतिहासिक पत्र

-लक्ष्मीशंकर व्या

आचार्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के अनन्य उन्नायक थे। खड़ी बोली मे कविता के प्रवल समर्थक और प्रवर्तक आप ही थे। हिंदी भाषा मे जो अराजकता और अनस्थिरता फैली हुई थी उसे व्यवस्थित एव शुद्ध स्वरूप में प्रचलित करने के लिए 'सरस्वती' के माध्यम से आपने जो योगदान किया है, उसका ऐतिहासिक महत्व है। आचार्य द्विवेदी जी न केवल तत्कालीन विद्वानो तथा हिंदी लेखन के दोषो की तीव्र आलोचना किया करते थे अपितु जिन पत्रो में लेखको की उत्कृष्ट रचनाएँ प्रकाशित होती थी उनकी मुक्तकठ से प्रशसा भी किया करते थे। हिंदी पत्रकारिता के नए मानदड स्थिर करने का ऐतिहासिक कार्य भी आपने किया है, आपका व्यक्तित्व एव कृतित्व इतना महान है कि हिंदी साहित्य का एक अध्याय ही द्विवेदी-युग के नाम से विख्यात है। आचार्य द्विवेदी ने अपने जिन महान कार्यो से एक नवीन युग का प्रतिष्ठापन किया, उनमे बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक की घटनाएँ चिरस्मरणीय हैं।

इनमे नववर 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'भाषा और व्याकरण' ने हिंदी जगत् में भारी आदोलन खड़ा कर दिया। इसमें आचार्य द्विवेदी जी ने हिंदी के प्रख्यात लेखको की रचनाओ से व्याकरण सबधी अनेक दोषो के उद्धरण देकर उनकी आलोचना की थी। तत्कालीन 'भारतमित्र' सपादक श्री बालमुकद गुप्त की रचना का भी उनमें एक अवतरण था। इस लेख का बडी तीव्र भाषा में प्रतिवाद किया गया। 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख के लेखक थे 'आत्माराम'। ये आत्माराम और कोई नही स्वय श्री बालमुकद गुप्त थे। इन लेखो का बहुत ही कडी भाषा में उत्तर दिया आचार्य पडित गोविंदनारायण मिश्र ने। 'हिंदी बगवासी' मे प्रकाशित मिश्र जी के इन लेखो ने समस्त हिंदी जगत का ध्यान आकृष्ट किया था। इन लेखो का परिणाम यह हुआ कि 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर साहित्यिक विवाद छिड़ गया। यह शब्द द्विवेदी जी ने अपने लेख में प्रयुक्त किया था। श्री बालमुकद गुप्त ने 'आत्माराम' के कल्पित नाम से 'अनस्थिरता' शब्द को सस्कृत की दृष्टि से अशुद्ध मान कर उसके शुद्ध रूप 'अस्थिरता' पर बल दिया। उधर पडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'हिंदी बगवासी' में अस्थिरता की शुद्धता स्थिर की। इस वाद-विवाद मे देश भर के प्रायः सभी पत्रो मे पक्ष-विपक्ष में लेख प्रकाशित हुए। हिंदी भाषा तथा साहित्य के अनेक विद्वान भी उस समय श्री बालमुकद गुप्त का ही समर्थन कर रहे थे। ऐसे समय मे पडित गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख माला से आचार्य द्विवेदी जी के पक्ष का समर्थन किया। इस प्रत्यालोचना से गुप्त जी को अत में चुप रहना पड़ा।

इस साहित्यिक वाद-विवाद के बाद भी श्री बालमुकद गुप्त, आचार्य द्विवेदी जी के दर्शन करना चाहते थे, पर उनके पास जाने का साहस न करते थे। जीवन के अतिम दिनो मे कानपुर के प्रसिद्ध उर्दू पाक्षिक 'जमाना' के सपादक मुशी दयनारायण निगम के साथ वे आचार्य द्विवेदी जी के यहाँ जुही गए। निगम साहब ने द्विवेदी जी का जैसे ही परिचय कराया श्री बालमुकद गुप्त न झट द्विवेदी जी के चरणो पर अपना मस्तक रख दिया। द्विवेदी जी उनसे परिचित न थे। झट उन्हें उठा कर हृदय से लगा लिया। तब श्री निगम ने बताया कि आप 'भारत मित्र' के सपादक श्री बालमुकद गुप्त जी हैं। गुप्त जी ने अश्रुधारा बहाते हुए कहा—"मैं अपराधी हूँ और आपके सामने अपने उन अभद्रतापूर्ण [illegible] के लिए क्षमा माँगने और प्रायश्चित करने आया हूँ। आप विद्या में गुरू बृहस्पति, स्नेह मे ज्येष्ठ भ्राता तथा [illegible] वृद्ध के सदृश हैं। अखबारनवीसी एक ऐसा कार्य जिसमे अपने कर्तव्यो का पालन करने में बहुधा [illegible] है। मैंने न्यायसगत बातो का अनुचित रूप से उत्तर दिया है, जिसके लिए मैं हृदय से क्षमा चाहता हूँ।" [illegible] द्विवेदी जी गुप्त जी को हृदय से लगा चुके थे और उनकी वाणी सुन कर उनकी उदारता, सात्विकता और हृदय की शुद्धता पर मुग्ध हो गए।

हिंदी जगत के इसी आदोलन के सबध में आचार्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो पत्र [illegible]

नारायण मिश्र को लिखे थे उनसे तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि पर भी प्रकाश पडता है। दो पत्र इस प्रकार है :—

जुही, कानपुर
4 मार्च, 1906

मधुपाधार सहकार-शिरोमणे,

[1]आपके प्रेमामृत-सिंचित पत्र को पाकर परमानद हुआ। आपने अपने सौजन्य गुणग्राहकत्व, न्याय शीलत्व, भाषा प्रेम और विद्वत्व से हम को ही नही, जहाँ तक हम जानते है, सभी हिंदी के पाठको को मोह लिया है। आपकी एक-एक युक्तियो को पढ कर तर्क-प्रणाली रूप आपके खरतर खड्ग की धारा को देख कर परोत्कर्षा सहिष्णु अज्ञ अहमानी जनो पर आपकी चँदी गदा के प्रहारो का प्रहार वार-वार स्मरण करके हमारी वह हालत हो रही है कि हमारा मन ही जानता है। वह स्वयवेद्य है। कही नही जा सकती। हमें अफसोस इस वात का है कि आप जैसे महानुभाव महात्माओ से हम अभी तक अपरिचित रहे। हमने समझ लिया था कि हिंदी जानने वालो और हिंदी लिख सकने वालों में न्याय का नाश हो गया, पाडित्य डूब मरा, गुण ग्राहकता अस्त हो गई, लेखन शक्ति का उच्छेद हो गया, पर अत में आपने हमारे इस नैराश्यपूर्ण भ्रम को दूर कर दिया—धन्योभवान्!

विनयावनत
महावीर

दूसरे पत्र में 'आत्माराम' के लेखो की चर्चा है और 'वगवासी' के उन लेखो के प्रभाव का वर्णन है जिसे पडित गोविंद नारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' के शीर्षक से लिखा—

दौलतपुर (रायवरेली)
13-3-06

• •• आत्माराम के प्रभावो से हम खिन्न नही। हमारी खिन्नता का कारण लेखको का मौनावलवन है। हमने फरवरी की 'सरस्वती' में जो किया उसका कारण केवल यही है कि और लोग कुछ का कुछ न समझ जाएँ। 'हितवार्ता' में किसी समझदार महात्मा ने यह स्पष्ट कह दिया कि हमारे मौन का कारण, यही अनुमान किया जा सकता है कि हमारे पास कोई उत्तर नही। आपके लेख ने वडा काम किया। देहात तक में उसकी धूम है। यहाँ कई जगह 'वगवासी' आता है। उसे वडे चाव से पढते है और आपके लेख की प्रशसा करते है। जव नीरस और मूर्खप्राय ग्रामीणो की यह दशा है तो और की क्या कहना? आपके लेख ने आपका उद्देश्य पूर्ण कर दिया। और हम क्या विनय करे—कृपा वनाए रखिए। अपने आशीर्वाद का पात्र हमें समझते रहिए—यही प्रार्थना है।

विनयावनत
महावीर

सन् 1907 में जव महामना पडित मदनमोहन मालवीय ने 'अभ्युदय' निकाला तो हिंदी के सभी विद्वानो का सहयोग लिया। आचार्य द्विवेदी जी से उन्होंने लेखो का तो सहयोग माँगा ही, पत्र-पत्रिकाओ के लेखो के लिए पारिश्रमिक की व्यवस्था तथा स्वरूप पर भी विचार-विनिमय किया। यह पत्र आचार्य द्विवेदी के उन पत्रो के वंडलो से प्राप्त हुआ है जिसके विषय में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी को एक वार आदोलन चलाना पडा था। महामना द्वारा आचार्य द्विवेदी को लिखे गए इस पत्र का पत्रकारिता के मानदड तथा उच्च स्तर को वनाए रखने में ऐतिहासिक महत्व है। 26 फरवरी, 1907 को जो पत्र आचार्य द्विवेदी जी को महामना ने लिखा था, उसमें 'अभ्युदय' के प्रकाशन के उद्देश्य और आवश्यकता पर तो प्रकाश डाला ही गया है, तत्कालीन लेखको को पारिश्रमिक देने तथा उसके आधार की भी चर्चा की गई। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में इस पत्र का ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट है।

---

[1] गोविंद निवधावली, भूमिका।

श्री

प्रयाग।
२८-२-०७.

प्रिय महावीर प्रसाद जी

प्रणाम। आपके दोनों कृपा पत्र और दो लेख एक आपका दूसरा बा[बू] गिरिजालाल गुप्त का पहुंचा। मैं अब तक स्वीकार पत्र नहीं लिख सका इस को क्षमा कीजियेगा। मैंने पहिला पत्र अपने हाथ से नहीं लिखा इसको भी क्षमा कीजिये। कार्य बाहुल्य और क्रम-पूर्वक काम न करने के अभ्यास के कारण मुझ को प्रायः अपने अति सम्मानित मित्रों को भी दूसरे के हाथ से लिखा कर पत्र भेजना पड़ता है किन्तु जैसा आग्रह आप तथा और सम्मानित मित्र करते रहे हैं और मेरे हार्दिक भाव को जानकर मुझ को क्षमा कर देते हैं उन से मैं इस प्रकार से काम चलाने को पत्र लिखवा कर भेज देता हूं। मैं आशा करता हूं कि आप भी इस से अवगत रह कभी न ख्याल करेंगे कि मैं ऐसा करने पर अनुचित उद्यत हूं कि आपके गुणों का उचित आदर नहीं करता। आपने मेरे ऐसे पत्र पर भी कृपाकर कुछ आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया इसके लिये मैं हृदय से धन्यवाद करता हूं। मेरी प्रार्थना है कि जहां तक सम्भव हो आप प्रति सप्ताह एक लेख अभ्युदय के लिये भेजिये। मैं आशा करता हूं कि आप इसको स्वीकार करेंगे।

हिन्दी भाषा में इस प्रान्त में एक ऐसा प्रतिष्ठित साप्ताहिक पत्र स्थापन करने की चिरकाल से आवश्यकता चली आती है जिसमें विद्वान विचारवान अनुभवसम्पन्न देशहितैषी सज्जनों के लेख छपें और जिससे लिखने वाले ऐसे सज्जनों को उत्साह हो। ऐसे पत्र का बनाना आपको भी उतना ही इष्ट और प्रिय होगा जितना मुझको है। किन्तु इस कार्य में वस्तुतः जितनी सहायता आप कर सकते हैं उतनी मैं नहीं कर सकता। मैंने बहुत से और कामों की चिन्ता और बोझ होने पर भी साहस करके पत्र को जारी कर दिया है। इस को देशहित के लिये काम में लाना और जारी रहने के योग्य करना आप तथा अन्य देशहितैषी मित्रों का काम है। और यह आप ही लोगों की सहायता पर निर्भर है।

यद्यपि अभी यह साहस और अनावश्यक साहस मालूम होगा तथापि मेरी यह इच्छा है कि मैं 'अभ्युदय' में लेखकों की कुछ भेंट करने का क्रम जारी करूँ। ऐसे लेखक अभी बहुत कम हैं जिनके लेखों के लिये कुछ भेंट करना मुनासिब होगा। और पत्र की वर्तमान अवस्था में कुछ देने के योग्य भेंट करना कठिन भी होगा। किन्तु 'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' इस न्याय से मैं चाहता हूँ कि उन लेखों के लिये जो आपके 'वैदिक काल की स्त्रियाँ' के समान आदर सहित पत्र में छापे जाएँ, कुछ पत्र पुष्प अर्पण किया जाय। कृपा कर इस विषय में अपनी सम्मति लिखिये। मेरा विचार है कि अभी २) सवा रुपया कालम से प्रारम्भ किया जाय और ज्यों २ पत्र की अर्थसम्बन्धी अवस्था अच्छी होती जाय त्यों २ भेंट की रकम बढ़ाई जाय। इससे किसी योग्य मित्र को कुछ व्यापार करने के लायक आमदनी तो होगी नहीं किन्तु इससे एक ऐसा क्रम आरम्भ हो जायगा कि जिससे जो मित्र पत्र के बनाने और बढ़ाने में सहायक होंगे, वे आगे चलकर देशहित और मातृभाषा के हित साधन के संतोष के अतिरिक्त, पत्र के लाभ से कुछ आर्थिक लाभ उठाने का भी संतोष-अनुभव करेंगे। मुझे आशा और विश्वास है कि यदि आप तथा दो तीन और मित्र जिनको मैं लिख रहा हूँ, पत्र को पूरी सहायता देंगे तो अचिर काल में इसके आठ दस हजार ग्राहक हो जावेंगे।

विशेष आपको लिखना आवश्यक नहीं। मैं आशा और विश्वास करता हूँ कि जिस भाव से मैं इस पत्र को लिख रहा हूँ उसी भाव से आप इसको विचार देंगे। और प्रति सप्ताह एक या दो लेख से सहायता करेंगे।

मैंने विधवा विवाह का भाग इसलिये निकाल दिया था कि उसमें आपका मत नहीं प्रकाशित था और उससे लेख सर्वजन प्रिय न रहता। मैं आशा करता हूँ आप इससे अप्रसन्न न हुए होंगे।

बा० भिखीलाल के लेख के विषय में कल लिखूँगा।

भवदीय

मदन मोहन मालवीयः

आचार्य द्विवेदी द्वारा सपादित 'सरस्वती' का प्रत्येक अक एक सर्वागपूर्ण चित्र होता था [illegible]
त्व की घोषणा करता था। 'सरस्वती' के सपादन के सिलसिले में उन्होने हिंदी के होनहार [illegible]
और उनको उत्साह-प्रदान किया। आज हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारो मे अधिक ऐसे है जिन्हें [illegible]
का प्रोत्साहन तथा पथ-प्रदर्शन मिला था। आचार्य द्विवेदी जी हिंदी सपादको तथा साहित्यकारो [illegible]
नही, उनके गुणो तथा विशेषताओ का भी समादर करते थे। हिंदी में सहज, सरल और बोधगम्य [illegible]
वे समर्थक थे। समय-समय पर सपादको तथा लेखको को पत्र लिख कर वे सदा उत्साहित किया करते थे। [illegible]
के लेख आपको पसद आते तो उसके लेखक अथवा सपादक को तत्काल पत्र भेज कर उनकी प्रशसा करते थे। [illegible]
अनेक पत्र 'आज' के प्रधान-सपादक सपादकाचार्य पडित बाबूराम विष्णु पराडकर को आपने लिखे थे। [illegible]
एक पत्र आपने दौलतपुर (रायबरेली) से 18 दिसबर, सन् 1927 को लिखा था[1]।

नमस्कार,

विनय या विनती विशेष यह है कि आज मैंने 'एक रथ के दो चक्र' नामक लेख पढ़ा कर सुना। [illegible]
भी इस तरह के कई लेख मैंने सुने। आपकी सहृदयता, न्यायशीलता और तर्कपद्धति पर मै मुग्ध हो गया। [illegible]
हो। जिन बातो ने 'आज' कोई 30–35 वर्षो से मेरे हृदय में घर कर रखा था, उनको ही मानो आपने [illegible]
कर स्वय प्रकट कर दिया। आपने अनुभव-सिद्ध सी बातें लिख दी है। आपके विचार मुझे तो बिल्कुल ही [illegible]
हुए। दीर्घयुर्भूया –सुख सौभाग्यवृद्धिस्ते भूपादीका प्रसादत

अनुगत

म० प्र० द्विवेदी

न केवल 'सरस्वती' के सपादन काल में अपितु जीवन भर आचार्य द्विवेदी जी हिंदी भाषा और साहित्य की
उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे और अपने अमूल्य सुझावो, सत्परामर्शो तथा निर्देशो से राष्ट्रभाषा हिंदी की समृद्धि
में ऐतिहासिक योगदान करते रहे। उपर्युक्त कतिपय पत्र इस सत्य की साक्षी है।●

---

[1] पराडकर और पत्रकारिता : पत्रकारिता खड।

पत्रोत्तर का कष्ट न उठाइये।

प्रताप - कार्यालय
कानपुर
३१ १२ २४

2/1/25

पूज्य द्विवेदीजी,

सादर प्रणाम।

आप की कृपाओं के लिये कृतज्ञ हूं। आप के दर्शन करने के पश्चात, अब मैंने सदा के लिये अपनी उस आदत को छोड़ दिया है जिसके कारण मैं दूसरे के विषय में, बिना उन्हें जाने, अपने विचार स्थिर कर लिया करता था। First impressions कितने धोखेबाज होते है इसका प्रमाण मुझे अपने जीवन की २२वीं वर्ष में मिला है।

आपके सत्संग से जो शिक्षायें मैंने ग्रहण की हैं उन्हें मैं अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करूंगा।

मारीशस से लौटने पर पुनः आपके दर्शनार्थ उपस्थित होऊँगा और १५ दिवस आपकी सेवा में रह कर आपके जीवन के अनुभव लिखूंगा। आप जुही में उस समय होंगे तो वहाँ आऊँगा अन्यथा दौलतपुर में ही आकर रहूंगा। उसकी प्रतीक्षा उत्कंठा से करूंगा

आपके उदारतापूर्ण स्वभाव के कारण मुझे अपनी क्षुद्रता पर लज्जित होना पड़ा है। आपकी सहृदयता पर मुग्ध हूं।

कृपाकांक्षी
बनारसीदास चतुर्वेदी

विविध विषय

साहित्याकाश का ध्रुवतारा :

रमेश सावद्रा 'भारती'

आचार्य श्री एक कुशल सयोजक, मागदर्शक नेता, कर्मठ साहित्य सेवी के रूप में हमारे समुख आते है। '... तत्र दुर्लभ' की उक्ति आप जैसे व्यक्तियो पर सर्वतोभावेन चरितार्थ होती है। हिंदी भापा के परिष्कृत स्वरूप के ... प्रचारक, एव प्रेरक के रूप मे आपके कार्य का स्वरूप देख पडता है। और यही कारण है कि उनको साहित्य सेवा ... काल—1907 ईसवी से 1921 ईसवी तक—'द्विवेदी युग' नाम से हिंदी साहित्य के इतिहास में ... । राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डा० गोपालशरण सिंह, प० अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक ..., पूर्ण, शकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि कतिपय कवि तथा गद्यकारो ने विपय, छद प्रयोग और भापा की शुद्धता एव सफाई आदि की दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण की और युगानुकूल रचना की। इस तरह हम आचार्य श्री को ... और युग को मोड देने में अत्यत सक्षम सयोजक नेता कह सकते हैं।

आपने नि वार्थ भाव से 1903 ईसवी में 'सरस्वती' का सपादन कार्य सँभाला, जिसे सतत जागरुक रहकर ... वर्प तक 1920 ईसवी तक सुचारुरूपेण निभाया और वाद मे अवकाश ग्रहण किया। 'सरस्वती' का सपादन आप... लिए जीविका का साधन नही था। वल्कि आपका हेतु पाठको और लेखको को समान रूप से लाभान्वित करने की भावना से ओत-प्रोत था और इसीलिए द्विवेदी जी को वडे से वडे लेखक की भापागत गलतियो का सुधार करने मे किसी ... प्रकार की हिचकिचाहट नही होती थी। क्योकि यही तो आपको वाछनीय था। फिर भी आपका हेतु शुद्ध और प्रामा-णिक होने से कटुता की भावना नही फैल पाती थी। आपका ध्येय ही परिष्कृप्त, मर्यादा सपन्न, सुसस्कृत, सुगठित ... हिंदी का प्रचार एव प्रसार था। इस प्रकार आपने हिंदी सेवियो के समुख एक उच्च आदर्श की स्थापना की। उच्च अभिरुचि सपन्न साहित्यिक आपका लोहा मानते थे। क्योकि आपने किसी की भी परवाह न करते हुए ... हिंदी गद्य की दुरावस्था को दृढता और धैर्य, परिश्रम और लगन, निदिध्यास और आदेश, निर्देश और उपदेश द्वारा मिटाने का कठिन कार्य किया। भारतेंदुकालीन हिंदी को एक व्यवस्था दी, मर्यादा दी, 'विधि विडवना' में द्विवेदी जी लिखते हैं .—

'शुद्धा शुद्ध शब्द तक का है जिनको नही विचार,
लिखवाता है उनके कर से नए-नए अखवार।
—द्विवेदी काव्य माला, पृ० 291

विधाता के प्रति उपर्युक्त निर्देश हिंदी-हितैपिता एव—
एक· शब्द. सम्यग् ज्ञात· सुप्रयुक्त स्वर्गे, लोकेच,
काम धुग् भवति
उच्चतम वैयाकरणीय आदर्शका सम्यक् द्योतक है।

द्विवेदी जी सपादित 'सरस्वती' इस वात की साक्षी है कि द्विवेदी जी में काव्य-संशोधन वृत्ति मात्र पर-छिद्रा न्वेषी ही नही है वल्कि वे स्वय सरसता के पक्ष पाती थे। गोपालशरण सिंह की—

'मधुप पक्ति नित पुष्पधारा में वहती
या वह अति अनुरक्त वौर पर भी है रहती।'

इन मूल पक्तियो का सुधार आपने यो किया—

मधुप पक्ति यो पुष्प रस मे नित बहती,
आम्र मजरी पर क्या वह अनुरक्त न रहती ?

('माता की महिमा', 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, 1914 ईसवी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित)

'आम्र मजरी, 'पुष्प रस' शब्दो में अवश्य ही मूल की अपेक्षा अधिक सरसता का बोधन होता है।

द्विवेदी जी की प्रेरणा और उनके प्रोत्साहन से ही कतिपय कवि प्रकाश में आए। उनकी 'सरस्वती' के माध्यम से ही 'सरस्वती' के ये वरद पुत्र अपनी प्रतिभा का विकास विलसित करने में समर्थ हुए। द्विवेदी जी ने ही वाणी और विचार के दो माध्यमो—'गद्य' और 'पद्य' की रूपगत-भाषागत विषमता को मिटा कर दोनो के लिए राष्ट्रभाषा खड़ी बोली को सिंहासनाधिष्ठित करना उचित समझा। यह उन्ही के जैसे कर्मठ हिंदी सेवी के वस की वात थी। उन्होंने कविता को परपरागत ब्रज के कुजो से मुक्त कर खड़ी बोली के नए उद्यान में साँस लेने के लिए प्रेरित किया। यही नही उन्होंने घोषणा की—

'गद्य और पद्य दोनो ही में कविता हो सकती है।'

—'कवि कर्तव्य,' 'सरस्वती' 1901 ईसवी, पृ॰ 232.

निश्चित ही हिंदी साहित्य के इतिहास मे यह सर्वप्रथम क्रातिकारी घोषणा थी। द्विवेदी जी ने नाट्य साहित्य को भी व्यवस्था प्रदान करने के हेतु सुधी पाठको, दर्शको, समालोचको एव नाट्य-रचनाकारो को 'नाट्यशास्त्र' ग्रथ का प्रणयन कर आलोक दिया। सपत्ति शास्त्र, शिक्षा, स्वाधीनता जैसे साहित्येतर विषयो पर भी अपनी लेखनी चलाकर हिंदी-भाषा के साहित्येतर स्वरूपो की भी पूर्ति की। उनकी भाषा का स्वरूप सीधा-सादा एव विषयानुकूल, सहज बोधगम्य होता था। अन्य भाषाओ के प्रचलित शब्दो का वडी ही सहजता से वे अपनी भाषा में खपाकर प्रयोग किया करते थे। भाषा सप्रेषणीय रहे इसका वड़ा ध्यान आप रखते थे। मातृभाषा के प्रति प्यार यह तो उनका स्थायी भाव था। मातृभाषा द्रोहियो के प्रति आपकी भावना यो व्यक्त हुई है —

'विधे! मनोज्ञ मातृभाषा के द्रोही पुरुष वनाना छोड।

—द्विवेदी काव्य माला—पृ॰ 291.

आचार्य श्री के कमरे में अनेक शस्त्रो के साथ एक फरसा टँगा रहता था। उसे देखकर सभवत. प॰ वेंकटेश नारायण तिवारी ने उन्हें 'वाक्यशूर परशुराम' कहा था।

—'सरस्वती', भाग 40, स॰ 2, पृ॰ 215.

सही माने में वे भाषा के अनाडी क्षत्रियो के परशुराम ही थे। अपनी लेखनी के फरसे से आजीवन वे भाषागत अव्यवस्था का सफाया करते रहे। यह उन्ही के फरसे का महदुपकार है कि हमें आज राष्ट्रभाषा के रूप में स्वच्छ, निर्मल हिंदी देखने को मिल रही है। जव तक भाषा की शुद्धता की आवश्यकता रहेगी तव तक आचार्य श्री का नाम अवश्य ही याद किया जाएगा।

कतिपय प्रसिद्ध लेखको की लेखनी पर अकुश रखते हुए वे कभी निरकुश नही हुए! वे वडे सत्यप्रिय एव न्याय-निष्ठ थे। खुद की आलोचना पढकर भी आपकी सत्यप्रियता में कमी न आई और न ही न्याय बुद्धि विचलित हुई। उनका आचरण सदैव 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत' को चरितार्थ करता रहा। जव वैयाकरण, कामता प्रसाद गुरू ने उनके, 'राजे', 'योद्धे', 'जुदा जुदा नियम', 'हजारहा' आदि चित्य प्रयोगो की चर्चा की तव उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—

'आप मेरे जिन प्रयोगो को अशुद्ध समझते है उनकी स्वतत्रता से समालोचना कर सकते है।

'सरस्वती', भाग 40, स॰ 2, पृ 134-35।

द्विवेदी जी का आत्मविश्वास भी देखने लायक चीज़ है। जव श्री सूर्यनारायण जी ने उनकी जीवनी लिखकर संशोधन के लिए आपके पास भेजी तो आपने कतिपय सुधार किए। निम्न सुधार मे आपके आत्मविश्वास का पता चलता है।

'विद्याविपयक वाद-विवाद में भी द्विवेदी जी की वरावरी शायद ही कोई और हिंदी [illegible] पत्रो के पाठक इस वात को भली भाँति जानते हैं।'

—द्विवेदी जी के पत्र, वडल उच, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्यालय।

द्विवेदी जी अकर्मण्यता के कट्टर शत्रु थे। यही कारण था कि :—

'अजगर-करे न चाकरी, पछी करे न काम,
दास मलूका कह गए सवके दाता राम।'

इस आलसियो के मूलमत्र के अनुसार शिथिल आचरण वाले को उनसे कडी फटकार सुननी पडती थी।

आचार्य द्विवेदी जी जीवन की भाँति मानस-सृष्टि साहित्य मे भी 'आदर्श' और 'सत्य' के उपासक [illegible] स्खलन उन्हें कतई अच्छा नही लगता था। द्विवेदी जी की सत्यप्रियता एव असत्य के प्रति [illegible] है —

'नित्य असत्य वोलने में जो तनिक नही सकुचाते हैं
सीग क्यो नही उनके सिर पर वडे-वडे उग आते है।'

—द्विवेदी काव्य माला—पृ० 290

द्विवेदी जैसे उदात्तचेता मनुष्य का 'सत्' के प्रति आकर्षण सर्वथैव स्वाभाविक था। वे साहित्य में [illegible] विशाल, कल्याणदायी मगल भावो और विचारो का प्रावल्य देखना चाहते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से [illegible] की—

'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से वहुदर्शिता वढे, वुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय मे [illegible] की सजीवनी शक्ति की धारा वहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाएं और आत्म गौरव की उद्भावना हो।'

—हिंदी साहित्य समेलन के 13वें अधिवेशन के अवसर पर स्वगताध्यक्ष पद से द्विवेदी जी [illegible] गए भाषण के पृ० 32 के आधार पर।

द्विवेदी जी के कारण ही उस काल के कवियो का आदर्श राष्ट्रीयता से ओतप्रोत रहा। [illegible] राजपथ पर चलने के लिए हिंदी उठ खडी हुई और समाज को राष्ट्रभवन की नीव समझ कर समाज [illegible] चिकित्सक की निर्मम दृष्टि डालने में समर्थ हुई। सुधार की इसी भावना ने अनेक कवियो को [illegible] लिए प्रेरणा प्रदान की। आचार्य श्री ने कवियो को अपना क्षेत्र और वटाने की प्रेरणा दी—

'चीटी से लेकर हाथी पर्यंत, पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत, मनुष्य, विंदु से लेकर समुद्र पर्यंत [illegible] आकाश, अनत पृथ्वी, सभी पर कविता हो सकती है।'

—[illegible]

इस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के अनेक रूप हिंदी भाषा की नाना प्रकार से सेवा [illegible] मन-धन और लगन के साथ जुटे हुए दीख पडते हैं। लेखक, भाषा शिक्षक, सपादक, हिंदी-भाषा-प्रचारक, [illegible] पद्य की भाषा के परिष्कारक, निवधकार, आलोचक, कवि, शिक्षक आदि अनेक स्वरूपो मे हम [illegible] पखुडियो से युक्त महापुरुष के सौरभ को राष्ट्रभाषा के विशाल उद्यान मे आज भी महकता हुआ [illegible] शक्ति के रूप में अनुभव कर सकते हैं। आचार्य श्री को हम इतस्तत अव्यवस्थित हिंदी के उद्यान [illegible] लगाने वाला कुशल माली भी कह सकते हैं। जगली उपवन का मनचाहा विस्तार कितना ही क्यो न हो [illegible] रमणीय उद्यान का प्रभाव सुसस्कृत सभ्य नागरजनो पर कुछ और ही जमता है। और यही कार्य आचार्य [illegible] ने नागरजनो के लिए हिंदी का परिष्कार करके किया।

आचार्य श्री को हम हिंदी साहित्याकाश के नक्षत्र मडल का पथ प्रदर्शक ध्रुवतारा [illegible] भूले-भटके पथिको को निश्चित दिशाएँ प्रदान की। जो सेवा अकेले द्विवेदी जी ने [illegible] शुभ परिणाम है कि हिंदी आज वहुत ही साफ-सुथरे एव स्वच्छ स्वरूप मे राष्ट्रभाषा के [illegible] कर इतर भाषा वहनो का मार्गदर्शन करने में सक्षम सिद्ध हुई है। ●

आचार्य द्विवेदी तथा हिंदी नाटक

—कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह

भारतेंदु के वाद हिंदी भाषा और साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ उसके प्रमुख प्रेरणा-केंद्र पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। इसीलिए साधारणतया यह युग 'द्विवेदी-युग' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दूसरे उत्थान में काव्य,उपन्यास, कहानी,निवध तथा समालोचना आदि साहित्यागो की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही, पर नाटक की प्रगति अवरुद्ध होती हुई दिखाई पडी। भारतेंदु-युग के लेखको का जो अभूतपूर्व उत्साह वहुसख्यक नाटको के प्रणयन का कारण वना था, वह इस युग में आकर मद पड गया। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि भारतेंदु के पीछे नाटक की ओर प्रवृत्ति कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक वहुत दिनो तक न दिखाई पडे। अनुवादो की परपरा अलवत्ता चलती रही।[1] वस्तुत भारतेंदु जी का समय हिंदी नाटको का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, और उनके वाद ही नाटको के क्षेत्र में जो ह्रासोन्मुखता दिखाई पडी थी, उससे उस समय के विद्वानो और लेखको को मार्मिक कष्ट हुआ था। 'चौपट चपेट' नामक प्रहसन में उपलब्ध किशोरीलाल गोस्वामी का कथन इसका प्रमाण है:—

"हिंदी के अभाग्यवश जव से भारतेंदु वावू हरिश्चद्र जी परलोक सिधारे हैं, तव से साहित्य की वडी दुर्दशा हो रही है। गद्य की तो जो हुई है सो हुई है, पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर काँप उठता है। वहुत से मूर्खाधिराज कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं, अस्तु। और नाटक- विद्या को तो कदाचित् वावू साहव अपने सग ही ले गए हो, उनके पीछे दो-एक रूपक कि जिनसे घटा भर जी लगे छोडके और आज तक कोई नाटक नही वना जिससे हिंदी भाषा की पुष्टि होय, यह अभाग्य नही तो क्या ?"

इसी प्रकार रामकृष्ण वर्मा ने भी अपने 'कृष्णकुमारी नाटक' में भारतेंदु के पीछे नाटको की हीनावस्था पर खेद-प्रकाश किया है :—

"· ···· जव से श्रीयुत भारतभूषण भारतेंदु वावू हरिश्चद्र ने और विद्याशिरोमणि लाला श्रीनिवासदास जी ने इस भारतवर्ष को छोड कर स्वर्ग को भूषित किया तव से अभागिनी हिंदी में कोई भी नाटक, उपन्यास अथवा कोई अपूर्व मनोहर ग्रथ देखने में न आया। नाटको की जैसी कुछ दुर्दशा इन दिनो है, वह केवल वे ही लोग जान सकते ह जो नाटक के गुण-दोष और लक्षणो से अभिज्ञ है। इन दिनो यह परिपाटी पड गई है कि दो-तीन पुरषो की वातचीत अथवा रंगभूमि पर व्यर्थ ही हाथ-पैर हिलाने को लोग नाटक कह देते हैं। स्वर्गवासी वावू हरिश्चद्र जी ने इन दोषो को दूर करने और लोगो को नाटक के लक्षण तथा लाभ समझाने के लिए "नाटक" नामक एक उत्तम ग्रथ लिखा था परतु आलसी लोग उसे कव देखते है "

[1]—आचार्य रामचद्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 493।

भारतेंदु-युग की तुलना में द्विवेदी-युग के आरंभ में नाटको के प्रति ...
उसी का यह परिणाम है कि हिंदी-नाटक-साहित्य के इतिहास अथवा विकास पर ...
उसको निर्महत्त्व समझकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही स्वीकार की है। बाबू ब्रजरत्नदास ने ...
जी तथा उनके मडल के अस्त होने पर हिंदी साहित्य प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी ...
के लिए वद कर ली।"[2] इसीलिए सभवत उन्होने अपने हिंदी-नाट्य-साहित्य में भारतेंदु ...
रूप से विवरण देने के वाद वर्तमान काल का विवेचन प्रारभ कर दिया है, और नाटकों की दृष्टि से ...
स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व स्वीकार नही किया है। इसी प्रकार डा० सोमनाथ गुप्त ने भी "...
का इतिहास" नामक ग्रथ में 1904 ई० से 1915 ई० तक के समय को जो पूर्णरूप से द्विवेदी ...
काल की सज्ञा प्रदान की है। आश्चर्य है कि गुलावराय जी ने भी इसी प्रकार सधिकाल ...
की है।[3] अन्य लेखको में भी नाटको के उत्कर्ष की दृष्टि से द्विवेदी युग के सबध में ऐसी ही धारणा ...
है। पर हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग के प्रति इस प्रकार ...
समीचीन नही है।

इसमें कोई सदेह नही कि भारतेंदु-युग में जितने नाटक लिखे गए सभवत उनके आधे भी ...
लिखे गए। यह भी सत्य है कि यग-धर्म और अपने युग की सभी समस्याओ को नाटकीरना प्रदान ...
उत्साह भारतेंदु युग के लेखको में दिखाई पडा था उसके दर्शन हमें द्विवेदी युग के लेखकों में नही ...
और रगमच के उत्थान और निर्माण के लिए भारतेंदु जी ने ऐतिहासिक महत्त्व का जैसा कार्य किया ...
नही कर सके। फिर भी द्विवेदी जी ने नाटक की नितात उपेक्षा की, ऐसा नहीं कहा जा सकता ...
शास्त्र" नामक पुस्तिका इस विषय के सस्कृत, अँग्रेजी, मराठी और हिंदी के उस समय के ...
है। इस पुस्तिका को पढकर यह प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी जी को अपने समय के नाटकों ...
दुःख हुआ था[4] और वे अभीष्ट दिशा में उनका अधिक से अधिक उत्कर्ष-साधन करना चाहते थे। ...
सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान से विहीन जो अनधिकारी लेखक अपनी लेखनी की ...
पर पोतने लगे थे, उनकी अवश्य उन्होने वडे कडे शब्दो में भर्त्सना की है —

"नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें अत्यल्प भी ज्ञान नही उन्होने भी हिंदी में नाटक लिखने ...
ऐसे लोगो को समझना चाहिए कि इस प्रकार ऊटपटाग लिख कर उसे प्रकाशित करने से हिंदी ...
भी हानि है। नाटक लिखना सवका काम नही, उसके लिए उपयुक्त विद्या-बुद्धि के अतिरिक्त ...
मनुष्य-प्रकृति का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।"[5]

इसी प्रकार उन्होने उन लेखको को भी वडी फटकार वताई है, जो पारसी कपनियों के लिए ...
श्रेणी के ऐसे नाटक लिख रहे थे, जिनमे सदाचार की मर्यादा का हनन हो रहा था—

"नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरजन भी होता है। चाहे जैसा नाटक ...
उसे जिसने वनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटक ...

---

2. ब्रजरत्नदास कृत "हिंदी नाट्य साहित्य", पृष्ठ 123, द्वितीय सस्करण।
3. गुलावराय कृत "काव्य के रूप", पृष्ठ 83।
4. देखिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत "नाट्यशास्त्र का उपसहार" — "... को छोडकर कोई अच्छे रूपक ही नही। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है।
5. देखिए—वही, पृष्ठ 57।

व्यर्थ है, अभिनेता का परिश्रम व्यर्थ है। दर्शको का नेत्र व्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग 'इद्रसभा' तथा 'गुलवकावली' आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्राय खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हे अपना हानि-लाभ सोचकर वहाँ पधारना चाहिए।"[6]

इन अवतरणो से यह सिद्ध है कि आचार्य द्विवेदी हिंदी नाटक की गति-स्रति को वहुत ध्यान से देखते रहते थे, कम से कम वे उस ओर से असावधान तो कदापि नही थे। उनके द्वारा हिंदी-भाषी जनता के प्राय दो दशको के अनवरत साहित्यिक अनुशासन के परिणामस्वरूप जिस साहित्यिक आदर्शवाद का जन्म हुआ था, उसने नाटक-साहित्य की प्रगति पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। अवश्य इस साहित्यिक आदर्शवाद से अनुप्राणित ऐसा कोई महान् व्यक्तित्व नाटक के क्षेत्र में नही दिखाई पडा जैसा आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचद्र शुक्ल का, कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त का और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचद जी का था। द्विवेदी जी का रोषपूर्ण भृकुटि-भग देखकर अनधिकारी और व्यवसायी दोनो ही प्रकार के नाटक-लेखको के दिल दहल गए थे तथा उनके आतक के कारण उनके समय के नाटको की वेगवती धारा मद पड गई थी और क्षीण भी। किंतु मद और क्षीण होकर इस धारा में जो निर्मलता आई वह हिंदी नाटक के इतिहास की निर्महत्व घटना नही है। अतएव भारतेंदु युग की परिसमाप्ति के वाद हिंदी नाटक की विकास दिशा मे जो परिवर्तन लक्षित होता है उसका सम्यक् श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। द्विवेदी जी का प्रभाव हिंदी नाटक साहित्य पर कई रूपो में प्रतिफलित प्रतीत होता है। एक तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आचार्य जी के आतक के कारण अनधिकारी लेखक हिम्मत हार वैठे जिसके परिणामस्वरूप उस कूडे-कचरे की वाढ रुक गई जो नाटक साहित्य के नाम पर हिंदी के कलेवर को मलीन वना रहा था। दूसरी वात यह हुई कि अपनी उल्लिखित "नाट्य-शास्त्र" नामक पुस्तिका मे आचार्य द्विवेदी ने जो निर्देश दिए[7] उनके प्रकाश में लेखको ने अपनी प्रतिभा और योग्यता को ठीक-ठीक पहचाना। इसका परिणाम यह हुआ कि मौलिक नाटक-रचना की सहज क्षमता रखने वाले कुछ इने-गिने व्यक्ति ही पूरी तैयारो के साथ इस क्षेत्र मे टिके रह पाए। अन्य लोग जिनको हिंदी नाटक साहित्य को समृद्ध करने की सच्ची लगन थी सस्कृत, वँगला, अँग्रेजी आदि भाषाओ की श्रेष्ठ नाटकीय कृतियो के सफल अनुवाद करने में दत्तचित हुए। इसीलिए इस काल में उत्तम अनूदित नाटको की वहुत अच्छी सख्या हमें उपलब्ध होती है। तीसरी महत्त्वपूर्ण वात यह हुई कि पारसी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध रगमच पर हिंदी तथा हिंदूपन दोनो का थोडा वहुत प्रवेश हुआ। द्विवेदी जी ने अपने युग के लेखक और प्रेक्षक को पारसी थियेटर वाले अभिनयो के सवध में जो चेतावनी दी थी[8], उसका अभीष्ट प्रभाव हुआ। इसी समय पारसी रगमच पर राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखको को स्थान मिला, जिनकी रचनाओ में हिंदीपन के साथ-साथ भारतीय आचार की मर्यादा का निर्वाह भी दिखाई पडता है। इसी प्रकार हम आचार्य द्विवेदी जी के साहित्यिक आदर्शवाद और नीतिवाद से व्यवसायी रगमच को थोडा-वहुत प्रभावित तो पाते ही है। चौथी उल्लेखनीय वात यह है कि द्विवेदी जी के समकालीनो के अधिकाश मौलिक नाटक उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की मुद्रा धारण करते है। इन सव नाटको मे हमें द्विवेदी जी द्वारा अनुष्टित "नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक वुद्धिवाद" का ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष व्याख्यान सुनाई पडता है। परतु नाटक मनुष्य की मूलत विविध शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओ का अनुकरण है[9] इसलिए इतने कठोर प्रतिवधो के वीच उसके सहज विकास का रुक जाना भी स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि द्विवेदी युग के मौलिक नाटक सजीवता, सरसता तथा कलात्मक परिपाक की दृष्टि से भारतेंदु-युग के नाटको से आगे नही आते। अवश्य, उनकी भाषा कुछ अधिक

6· देखिए—वही, पृष्ठ 57।
7. देखिए—आचार्य द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र का उपसहार।
8. देखिए—वही।
9· "अवस्थानुकृतिनाटकम्"—दशरूपक।

भाष

परिष्कृत और परिमार्जित है, जो द्विवेदीकाल की सर्वप्रथम विशेषता है। सभवत इसी कारण वे अनेक अव्यवसायी नाटक-मडलियाँ जो भारतेंदु-युग के उन्मुक्त वातावरण में प्रादुर्भूत होने वाली थी, द्विवेदी युग के घोर नीतिवादी तथा शुद्धिवादी वातावरण में साँस न ले सकी और कुछ समय वाद काल-कवलित हो गईं। प० माधवप्रसाद शुक्ल जैसे उत्साही नाटक-लेखको और श्रेष्ठ अभिनेताओ ने भी लखनऊ, जौनपुर तथा कलकत्ता आदि में जाकर नाटक-मडलियो की स्थापना के जो प्रयत्न किए वे भी असफल हो गए। इन सब वातो को दृष्टि में रखते हुए कुछ लोगो को आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव को हिंदी नाटक के लिए आकाशधर्मी मानने में आपत्ति हो सकती है। कारण समष्टि रूप से उनके व्यक्तित्व की सीमाओ से हम उसको चारो ओर से मर्यादित पाते है। पर, आचार्य के आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व की सीमाओ से मर्यादित होकर हिंदी नाटक की हानि ही हुई, ऐसा समझना वहुत भारी भ्रम होगा। अपने कठोर साहित्यिक अनुशासन मे आचार्य ने हिंदी नाटक को सयम का जो पाठ पढाया, उसी से वह प्रसादकालीन नव्योत्थान के उपयुक्त शक्ति सकलित कर सका। तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी के प्रभाव को हम हिंदी नाटक के लिए परिणाम में शुभावह ही पाते हैं और इसलिए इस आलोच्य अवधि को यदि कोई द्विवेदी युग कहे तो उसे हम अनुपयुक्त नही समझते।

परतु आधुनिक हिंदी साहित्य के इस द्विवेदी उत्थानकाल में, जिसे काव्य रचना आदि के क्षेत्र मे 'द्विवेदी-युग' कहा जाता है, मौलिक नाटको की रचना की अपेक्षा अनुवाद का कार्य वहुत अधिक हुआ। इसीलिए कतिपय विद्वान् इसे अनुवाद काल कहना अधिक सगत समझते हैं। भारतेंदु के जीवनकाल में हमें जैसा उत्साह मौलिक नाटको के प्रणयन में दिखाई पडता है, वैसा ही उत्साह अव नाटको के अनुवाद-कार्य में लक्षित होता है। ये अनुवाद भी विभिन्न भाषाओ से किए गए पर इनमे वगला के अनूदित नाटकों की सख्या सभवत सवसे अधिक है और सस्कृत, अँग्रेज़ी, मराठी, गुजराती आदि का स्थान क्रमश उसके वाद आता है। द्विवेदी जी ने स्वय विभिन्न भाषाओ से अनेक ग्रथो का हिंदी अनुवाद किया था, और इस कार्य को वे निरतर प्रोत्साहित भी करते रहते थे, अतएव उस युग के लेखको में अनुवाद कार्य के प्रति विशेष उत्साह होना स्वाभाविक ही था।

इस युग के मौलिक नाटक पूर्ववर्ती पीढी के नाटको की अपेक्षा सख्या में वहुत कम तो हैं ही, भाषा-परिष्कार को छोडकर अभिनेयता आदि नाटक के अन्य अंतर्वर्ती व्यावर्तक गुणो में भी हीन हैं। भारतेंदु-युग के नाटको में जीवन के यथार्थ अभिव्यजन और अनुकरण का जो अदम्य उत्साह परिलक्षित होता है वह भी इनमें नहीं है। भारतेंदु और उनके सहयोगियो के नाटकों में व्यग्य और परिहास की जो सहज वेगवती कल्लोलिनी प्रवहमान है, उसका उत्स भी अव कुछ सूखता-सा प्रतीत होता है। इन सव दृष्टियो से हम इसे भारतेंदु युग के नाटक का ह्रास काल कह सकते हैं।

किंतु इस युग में मौलिक नाटको की सर्जना का प्रयास भले ही मंद पड गया हो, पर हिंदी रगमच की स्थापना और हिंदी नाटकों के अभिनय की कलापूर्ण परपरा के प्रवर्तन का जैसा सगठित प्रयास प० माधव शुक्ल जैसे साधको के द्वारा इस युग में हुआ, वैसा आज तक नही हो पाया है। भारतेंदु के आदर्श से अनुप्राणित अनेक साहित्यकारो तथा साहित्य प्रेमियो ने स्थान-स्थान पर नाटक मडलियो की स्थापना कर हिंदी नाटक और रगमच के अभ्युत्थान का जो सगठित प्रयत्न किया, वह हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास का सुवर्णाक्षरो में लिखने योग्य अत्यत गौरवशाली अध्याय है। खेद है, वह अव तक विस्मृत है। जिस समय यह प्रयत्न किया गया उस समय व्यवसायिक पारसी रगमच का एकच्छत्र साम्राज्य था, उसकी होड में विना किसी सहयोग, सहायता या समर्थन के यह महाप्राण आदोलन असफल अवश्य हो गया, पर आगे आने वाली पीढियो के लिए एक महान् आदर्श छोड गया। मुझे इस वात पर आश्चर्य है कि आचार्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद इन प्रयत्नो को नही प्राप्त हुआ। कम से कम उसका कोई उल्लेख या प्रमाण नही मिलता।

● ● ●

द्विवेदी जी की अप्रकाशित पुस्तकें

उदयभानु सिंह

अव से वीस वर्ष पहले की वात है। मै आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर अनुसधान कर रहा था। अपने विषय से सवद्ध प्रकाशित सामग्री का अध्ययन कर लेने के वाद अप्रकाशित सामग्री का अनुशीलन आरभ किया। नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) के कलाभवन में उनके ग्रथो की पाडुलिपियाँ देख रहा था। एक अश्रुतपूर्व पुस्तक पर दृष्टि पडते ही चौंक पडा। उसका नाम है—कौटिल्य-कुठार। मन में सोचा कि 'वाक्शूर परशुराम कहे जाने वाले द्विवेदी जी की कलम से 'कौटिल्य कुठार' का प्रणयन सर्वथा स्वाभाविक है। पुस्तक को आद्योपात पढ गया। शरीर झनझना उठा।

उपर्युक्त पुस्तक तीन खडो में विभक्त है—सभा की सभ्यता, वक्तव्य और परिशिष्ट। द्विवेदी जी के स्वभाव और भाषा-शैली के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है। स्थान-स्थान पर उनके क्रोध और उग्रता की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उनकी वक्तृतात्मक और व्यग्यात्मक शैलियाँ ओजस्विता की पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। इस कृति मे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा और वावू श्यामसुदर दास की तीव्र आलोचना की गई है।

'कौटिल्य-कुठार' रचना का एक इतिहास है। 'सरस्वती' पत्रिका नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से सस्थित थी। इस पत्रिका के संपादक-पद से उन्होने सभा की खोज-रिपोर्ट की आलोचना की (अक्टूवर, 1904)। स्वभावत, यह वात सभा को वुरी लगी। उसने इडियन प्रेस को हिदायती पत्र लिखा। द्विवेदी जी ने पत्र को प्रकाशित करते हुए उसकी कटु आलोचना की (दिसम्वर, 1904)।

इस विवाद के क्रम में एक रोचक घटना भी घटी। प० केदारनाथ पाठक सभा की ओर से द्विवेदी जी के यहाँ गए। पहुँचते ही गरज कर पूछा—सभा के कार्यो की इतनी कडी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा? क्या 'विषस्य विषमौधम्' की नीति का अवलवन करना पडेगा? द्विवेदी जी मिठाई, जल और एक मोटी लाठी ले आए। मुस्कराते हुए कहा—थके-माँदे आ रहे हो, हाथ-मुँह धोकर जलपान कर के सवल हो जाओ, तव यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।

विवाद यही पर समाप्त नही हुआ। सभा ने एक पत्र लिखकर (जनवरी, 1905) आदेश किया कि उसकी अनुमति के विना उसके सबध में 'सरस्वती' कुछ न छापे, अन्यथा उससे सभा का नाम हटा दिया जाए। इसके फलस्वरूप 'सरस्वनी' से सभा का नाम निकाल दिया गया।

अगस्त, 1906 में सभा ने द्विवेदी जी से चदा माँगा। वे अत्यत उत्तेजित हो गए, और 57 फुलस्केप पृष्ठो का वक्तव्य लिख कर सभा को भेजा। उसमे अपने को निर्दोष और सभा को दोषी ठहराया। 'भारतमित्र' और 'हिंदी वगवासी' में कुछ समय तक यह विवाद चलता रहा। द्विवेदी जी ने उक्त वक्तव्य का परिवर्तन करके एक ग्रथ ही लिख डाला—'कौटिल्य-कुटार'। लिख तो डाला, परतु उसे प्रकाशित करना उचित नही समझा।

समय ने मनोमालिन्य दूर कर दिया। सभा ने 1931 में द्विवेदी जी को अभिनदन-पत्र दिया और 'द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ' का प्रकाशन किया। द्विवेदी जी ने अपना ग्रथ-सग्रह तथा अन्य वहुमूल्य सामग्री सभा को दान कर दी

अन्योन्यदानाश्रयणाद् वभूव
साधारणो भूषणभूष्यभाव।

इस प्रकार गौरवशाली साहित्य-महारथियो का विवाद महिमामय ढग से समाप्त हुआ।

द्विवेदी जी में भी कभी जवानी की उमग थी। मित्रो ने समझाया-आदर्शवादी ग्रथो के द्वारा मुद्राराक्षसी पर विजय नही प्राप्त की जा सकती, कुछ दिल फडकाने वाली चीजे लिखो, 'मदन-मजरी' लिखो, 'अनग-रग' लिखो, 'रति

रहस्य' लिखो। रग में आकर द्विवेदी जी ने दो पुस्तकें लिख डाली। उनके नाम है—'तरुणोपदेश' और 'सोहागरात'।

सभा द्वारा आयोजित अभिनदनोत्सव के अवसर पर उन्होने अपनी इन 'रसीली' पुस्तको का उल्लेख किया। 'सोहागरात' के विषय मे उन्होने निवेदन किया—ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद से रस की नदी नही तो वरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। . आजकल तो वह नाम वाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनो को धनी और धनियो को धनाधीश वना रहा है। अपने बूढे मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से आपके सामने उस नाम का उल्लेख करते हुए मुझे वडी लज्जा मालूम होगी पर पापो का प्रायश्चित करने के लिए आप पचसमाजरूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही पडेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—"सोहागरात"। उन्होने आगे कहा—मेरी पत्नी ने मुझे साहित्य के उस पकपयोधि में डूबने से वचा लिया, आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो वडी कृपा हो।

सयोग की वात है कि प० कृष्णकात मालवीय ने एक पुस्तक लिखी थी—'सोहागरात या वहूरानी को सीख।' लोगो के सुझाने से मालवीय जी ने समझा कि यह मर्मवेधी आक्षेप उन्ही पर है। इस अपमान का प्रतिशोध आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्होने 'भारत' (11 जून, 1933) में एक लेख लिखकर सेक्स के साहित्य को पाप और पकपयोधि समझने वाले प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की कूपमडूकता की व्यग्यपूर्ण आलोचना की। द्विवेदी जी ने ईंट का जवाव पत्थर से दिया। उन्होने 'भारत' (24-25 जून, 1933) में ही 'क्षमाप्रार्थना' प्रकाशित कराई। जो आद्योपात वक्रताओ और व्यक्तिगत आक्षेपो से व्याप्त थी। प्रत्युत्तर में 'क्षमाप्रार्थना का वितडावाद' (भारत, 2 जुलाई, 1933) निकला। मालवीय जी ने स्वय इस विवाद का उपसहार कर दिया।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का अनुसधायक होने के नाते मैंने यह सारी चखचख अवधानपूर्वक अक्षरश पढी। मेरे मन मे इन रसीली पुस्तको के विषय में अदम्य जिज्ञासा जागृत हुई। सभा-भवन में इनके पहुँचने का प्रश्न ही नही था। सोचा कि शायद दौलतपुर में मेरा मनोरथ सफल हो जाए। वहाँ पर और भी सामग्री मिलने की संभावना थी।

वहाँ के खट्ठे-मीठे अनुभव अविस्मरणीय है। जव मै दौलतपुर की सीमा पर पहुँचा तव एक ब्राह्मण कुलभूषण से साक्षात्कार हुआ। वे फावडा लेकर खेत में जुटे हुए थे, डाँड फेंक रहे थे। शरीर पर लगभग एक अगुल मोटा यज्ञोपवीत शोभित हो रहा था। मैंने पैलगी कर के दौलतपुर का रास्ता पूछा। उनके प्रश्न के उत्तर में वताया कि स्वर्गीय प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के घर जा रहा हूँ। वे प्रेताविष्ट-से होकर द्विवेदी जी को गालियाँ देते हुए अपनी वौखलाहट प्रकट करने लगे। मै विचार करने लगा—एक वह महान पुरुष है जिस पर अनुसधान किया जा रहा है, एक मैं हूँ जो उस पर शोधप्रवध लिख कर गौरव प्राप्त करना चाहता हूँ। एक यह विचित्र जीव है जो उन्हें गालियाँ देकर आत्मतुष्टि-लाभ कर रहा है। उनसे शास्त्रार्थ करना घातक होता। मै नमस्कार करके आगे वढ गया।

दौलतपुर पहुँचा। द्विवेदी जी के भानजे प० कमलाकिशोर त्रिपाठी वडे स्नेह से मिले। उपर्युक्त घटना (वस्तुत दुर्घटना) का ताप शात हो गया। त्रिपाठी जी ने वहुत-सी सामग्री दी। मैंने ऐसे भी वहुत से कागज-पत्र देखे जिनको द्विवेदी जी प्रकाश में नही लाना चाहते थे। परतु, मुझे 'सोहागरात' नही मिली। मैंने त्रिपाठी जी से प्रार्थना की—मै विशेष रूप से 'सोहागरात' और 'तरुणोपदेश' को देखने के लिए यहाँ आया हूँ, कृपया वे पुस्तकें दिखलाइए। उनके सधे हुए उत्तर का तात्पर्य यह था कि द्विवेदी जी की धर्मपत्नी ने उन पुस्तको को अश्लील समझ कर छपने नही दिया, ताले में वद रखा, और उनके स्वर्गवास के उपरात द्विवेदी जी ने उन्हें ससार की दृष्टि से वचाने के लिए नष्ट कर दिया। मैने वडी दयनीयता के साथ अपनी यात्रा की असफलता पर खेद प्रकट किया। त्रिपाठी जी से विदा लेकर चल पटा।

कुछ ही दूर चला था कि अपने नाम की पुकार सुनकर रुक गया। देखा कि त्रिपाठी जी आ रहे हैं। उन्होंने सूचित किया—जव मैं आप से वाते करने के वाद अदर गया तव मेरी धर्मपत्नी ने मुझे वतलाया कि वे दोनो पुस्तकें मिल गई हैं। मुझे अपार हर्ष हुआ। अगले दिन सवेरे आने के लिए कह कर मैं अपने मित्र की ससुराल चला गया जहाँ पर कई दिनो से ठहरा हुआ था।

मैने सारी स्थिति पर विचार किया। जिन पुस्तको को स्वय द्विवेदी जी और उनकी धर्मपत्नी ने छिपा कर रखा उन्हें उनके स्वर्गवास के उपरात लोगो को दिखाना उनकी दिवगत आत्माओ के प्रति अन्याय था। अतएव त्रिपाठी जी का आचरण सर्वथा न्यायोचित था। मेरा अनुमान है कि जव मैं उनसे इन दो अप्रकाशित रचनाओ के विपय में वातें कर रहा था तव उनकी धर्मपत्नी ओट से सव वातें सुन रही थी। मेरी निराशा और खिन्नता ने उनके नारी सहज कोमल हृदय को पिघला दिया। इधर त्रिपाठी जी भी करुणार्द्र थे। मेरे प्रस्थान करते ही दोनो ने राय की और तत्काल निर्णय किया कि द्विवेदी जी के भक्त इस अमायिक अनुसधाता को पुस्तके दिखा देने में कोई अनौचित्य नही है। मैं इनका चिरकृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे वे पुस्तकें पढने को दी, और मुझे इस वात का सतोष है कि मैने उनकी उदारता तथा कृपा का दुरुपयोग नही किया।

मैने दो दिन रुक कर उन कृतियो का पारायण किया। मै अधिकार के साथ कह सकता हूँ कि यदि 'सोहागरात' प्रकाशित हो जाती तो द्विवेदी जी सचमुच पक-पयोधि मे डूव जाते। प० कृष्णकात मालवीय ने उस पुस्तक को देखे विना ही द्विवेदी जी की सगत उक्ति को अज्ञानवश अपने ऊपर आरोपित कर लिया था। यह पुस्तक इतनी अश्लील है कि इसके उद्धरण नही दिए जा सकते। यह तो सच्चरित्र, सयमशील और आदर्शवादी द्विवेदी जी की कृति ही नही प्रतीत होती। यदि वे स्वय इसकी चर्चा न कर देते तो मै उनका अनुसंधाता होकर भी इसे उनकी रचना मानने का दुस्साहस न करता।

सोहागरात—एक अनूदित रचना है। स्वय लेखक के अनुसार यह अँग्रेज़ कवि वायरन की 'व्राइडल नाइट' का छायानुवाद है। "पहले ही पहल पति के घर आई हुई एक वाला स्त्री का उसकी मैत्रिणी को पत्र है।" इसके पचास पद्यो में नवविवाहिता शशी ने अपनी अविवाहित सखी कलावत्ती के प्रति सोहागरात मे की गई छह वार की रति का प्रस्तावनासहित विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उपसहार में द्विवेदी जी ने चार्वाक-दर्शन का निचोड-सा प्रस्तुत किया है :

देखो दो वेदो का पढने वाला भी यह कहता है—
सुख भोगो, दुनिया में आकर कौन वहुत दिन रहता है ?

तीसरी अप्रकाशित पुस्तक 'तरुणोपदेश' है। इसे हम सेक्स-विपयक उपयोगी साहित्य की कोटि में रख सकते है। अपनी अति-आदर्शवादिता के कारण द्विवेदी जी ने इसे भी अप्रकाशित रहने दिया। 210 पृष्ठो की इस पुस्तक में चार अधिकरण है। पहला 'सामान्याधिकरण' है—उसमें सात परिच्छेद है। तारुण्य, पुरुपो में क्या-क्या स्त्रियो को प्रिय होता है, विवाहकाल, दापत्यसगम, इच्छानुकूल पुत्र अथवा कन्योत्पादन, अपत्यप्रतिवध, और संतान न होने के कारण। दूसरा 'वीर्याधिकरण' है। उसमें तीन परिच्छेद है—वीर्य-वर्णन, व्रह्मचर्य की हानियाँ, और अतिप्रसग की हानियाँ। तीसरा 'अनिष्टाविदाधिकरण' है। उसमें चार परिच्छेद है—निपिद्ध मैथुन, हस्तमैथुन, वेश्यागमन-निपेध, और मद्यप्राशन। अत मे 'रोगाधिकरण' के चार परिच्छेदो में अनिन्छित वीर्यपात, मूत्राघात, उपदश और नपुंसकता का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस पुस्तक में तरुणो के लिए ज्ञातव्य विपयो का वोधगम्य भाषा में प्रतिपादन हुआ है। यह पुस्तक द्विवेदी जी ने तीस वर्ष की आयु में लिखी थी। अत इसकी भापाशैली में प्रौढता नही है। परंतु, सपूर्ण ग्रथ मे अश्लीलता कही भी नही पाई जाती। प्रस्तुत रचना की एक अवेक्षणीय विशेषता यह भी है कि इसमें पुरुपो की वय.-सधि का भी विशद वर्णन है। लेखक ने उदाहरण-रूप में संस्कृत काव्यो से पर्याप्त उद्धरण दिए हैं। विवेचन के क्रम में भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो के मतो का भी यथास्थान उल्लेख किया है। अपने प्रतिपाद्य विपय को यथाशक्ति व्यापक, उपयोगी तथा आप्त वनाने की चेष्टा की है। इस वात का ध्यान रखा है कि यह पुस्तक तरुणो को स्वास्थ्य, संयम और ब्रह्मचर्यपालन का मार्ग दिखा कर उन्हें अनिष्ट कृत्यो से वचा सके।

चित्र में बैठे हुए —— जगन्नादास 'रत्नाकर', कामताप्रसाद गुरू, महावीरप्रसाद द्विवेदी, लज्जाशंकर झा, चंद्रधर शर्मा गुलेरी ।
खड़े हुए :— श्यामसुन्दर दास, रामनारायण मिश्र, रामचंद्र शुक्ल ।

द्विवेदी युगीन राजनैतिक परिवेश

कृष्णबिहारी मिश्र

द्विवेदी युग भारतीय जीवन में हो रहे व्यापक परिवर्तनो का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय था। 20वीं सदी का आरभ होते-होते काग्रेस मे उग्र-दलीय नेताग्रो तिलक, लाजपतराय और विपिनचद्र पाल का प्रभाव बढने लगा था। अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के नए मोड ने भी राष्ट्रीय महत्त्वाकाक्षाओ को प्रोत्साहित किया। सन् 1896 मे अवीसीनिया के द्वारा इटली की पराजय और सन् 1905 मे जापान की रूस पर विजय ने एशिया वासियो के हृदय में हर्ष की लहर दौडा दी और यूरोपीय जातियो की अजेयता और श्रेष्ठता का भ्रम दूर हो गया।[1]

भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियाँ राष्ट्रीय असतोष की अग्नि में ईंधन का कार्य कर रही थीं। सन् 1904 मे लार्ड कर्जन ने अपने एक व्याख्यान में इडियन सिविल सर्विस के भारतीय-करण का विरोध करते हुए अँग्रेजो को ही सिविल पद देने का कारण उनकी पैतृक विशेपता, शिक्षा, चरित्र वल, और शासन सिद्धात के ज्ञान को वताया, जिससे भारतीय क्रुद्ध हुए[2]। 16 अक्तूबर, सन् 1905 को वग-भग की घोपणा

---

[1] भारत का वैधानिक एव राष्ट्रीय विकास (1900–1919) लेखक : गुरमुख निहाल निह, अन० सुरेन्द्र शर्मा, पृष्ठ 153–154।

[2] वही, पृष्ठ ।

ने भारतीयो की सहन-शक्ति को समाप्त कर दिया। उस समय के वगाल के सूवे में विहार, उडीसा भी समिलित थे, अत उसका विभाजन तो आवश्यक था, परतु जिस मनमाने रूप में वह किया गया था, उसका उद्देश्य रेनाल्डशे के शव्दो मे 'वगला राष्ट्रीयता की वढती हुई दृढ़ता पर आक्रमण करना[3] और हिंदू-मुस्लिम-द्वेष को वढ़ावा देना था। 1908 में क्रातिकारी आदोलन को दवाने के लिए विस्फोटक पदार्थ एक्ट और वैधानिक आदोलन का दमन करने के लिए समाचार पत्न (अपराध उत्तेजक) ऐक्ट वनाए गए। वग-भग के विरुद्ध प्रवल आदोलन भी इस काल में अत्यत सक्रिय रहा।

भारत-दोहन की अँग्रेजी आर्थिक नीति इस युग में पूरी तत्परता से अपना कार्य कर रही थी। कृपको की दशा सोचनीय थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार कही-कही तो जमीदार और वास्तविक भू-श्रमिक के वीच 50 या उससे भी अधिक मध्यस्थ उपजीवी स्वार्थ वर्तमान थे।[4] निकलसन के आधार पर सर एडवर्ड मैकलेगन ने 1911 में भारत का ग्राम्य ऋण तीन अरव रुपए अनुमानित किया था।[5]

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शाह और सभाता के अनुसार 1924 मे भारतीय औसत आय जनसख्या के तीन में से दो व्यक्तियो के खाने भर को थी।[6] 1917–18 मे भी परिस्थिति वहुत भिन्न न रही होगी। भारत में व्रिटिश पूँजी अपनी जड़ें मजवूत कर चुकी थी। 1914 में रेल, चाय, वीमा और वैक आदि मे लगी हुई व्रिटिश पूँजी 45 करोड पौड तक पहुँच चुकी थी। स्वदेशी आदोलन से विदेशी तैयार माल के आयात को गहरा धक्का लगा। 1917 के अनुमान आयात में 16 प्रतिशत की कमी हुई। दूसरी ओर वुनकर उद्योग और दूसरे देशी धधो को वल मिला। भारत केवल व्रिटिश तैयार माल की सवसे वडी मडी ही नही था, खाद्यान्न और कच्चा माल देने वाली कामधेनु भी था। 1914 मे भारत से अन्न और कच्चा माल के निर्यात का मूल्य दो करोड वीस लाख पौड था। अकेले अन्न का ही निर्यात मूल्य 193 लाख पौंड था, जव कि 1900 तक भारत में अँग्रेजो के शासन काल मे 24 भयकर दुर्भिक्ष पड चुके थे।[7] इस दुर्दशा में भी 1903 में लार्ड कर्जन ने एक ऐश्वर्यपूर्ण दरवार में सैनिक व्यय के अतिरिक्त एक लाख अस्सी हज़ार पौंड स्वाहा किए थे। भारतीय पूंजी के साथ व्रिटिश शासन की विभेदपूर्ण नीति इस युग से निरतर विद्यमान थी।

नए सामाजिक परिवेश में हिंदुओ की जाति-व्यवस्था के नियम शिथिल हो रहे थे। पाश्चात्य प्रणाली के द्वारा प्रोत्साहित व्यक्तिवाद ने न्याय-व्यवस्था के व्रिटिश सिविल कानून की ओर झुकाव से वल पाकर समिलित कुटुव-प्रणाली की रीढ तोड दी थी। आर्थिक सघर्ष के दवाव और नगरो में शिक्षा तथा व्यवसाय के नवीन अवसरो की सुविधा के लिए ग्रामो से नगरो की ओर सक्रमण और रूढि-ग्रस्त सामाजिक नियन्त्रण से असतोष होने के कारण भी इस प्रणाली का अनुशासन समाप्त होने लगा था। शिक्षा के प्रसार ने अनुचित सामाजिक प्रथाओ के प्रति विरोध उत्पन्न किया और व्रह्म-समाज जैसी सुधारवादी सस्थाओ के द्वारा सामाजिक पुनर्जागरण को सघटित शक्ति प्राप्त हुई। सन् 1857 ई० की क्राति के वाद मुस्लिम समाज के प्रति अँग्रेजो की नीति शत्रुतापूर्ण थी, परतु सर सैयद के प्रयत्नो से इस नीति मे परिवर्तन हुआ। 1906 में अँग्रेजो के प्रोत्साहन से मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य मुसलमानो में साप्रदायिकता को वढावा देकर राष्ट्रीय आदोलन में दरार डालना था। 1909 के सुधारो मे पृथक्-निर्वाचन का उद्देश्य इसी साप्रदायिकता के विष-वृक्ष का अभिसिचन करना था, परतु राष्ट्रीय नेताओ के प्रयत्नो से सन् 1916 तक यह नीति सफल न हो सकी थी।

---

[3] लाइफ् ऑफ् लार्ड कर्जन रोनाल्डेश, भाग 1, पृष्ठ 332।

[4] साइमन रिपोर्ट, भाग 1, पृष्ठ 340।

[5] इंडियन इक्नोमिक्स, जयार एण्ड वेरी, चौथा सशोधित सस्करण, 1933, भाग 1, पृष्ठ 269।

[6] दि वेल्थ एंड टैकसेविल कैपेसिटी ऑफ इडिया—शाह एड सभाता, पृष्ठ 253, सस्करण 1924।

[7] इन आँकडो के लिए लेखक रजनी पामदत्त की 'दि इडिया टु डे' पुस्तक का आभारी है।

साहित्यिक और कलात्मक नव-जागरण भी राजनैतिक चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान के आदोलन का सहयोगी था। जिसके सूत्रधार हिंदी मे इसके पिछले युग मे भारतेंदु, महाराष्ट्र में चिपलूणकर, बगाल मे वकिमचद्र, गुजरात में नर्मदाशकर और उर्दू मे हाली थे। सगीत मे दिगवर पलुस्कर ने शास्त्रीय परपराओ को पुनर्जीवित किया और अवनींद्रनाथ ठाकुर तो आधुनिक भारतीय चित्रकला के पिता माने जाते है। राजा रवि वर्मा के चित्र कलात्मक दृष्टि और मौलिक शिल्प के विचार से उत्कृष्ट नही थे, परतु अपने काल में उनकी काफी प्रशसा हुई थी। विशेपकर उनका विपय-चयन प्राचीन और परपरागत होने के कारण उनको लोकप्रियता मिली। हिंदी पत्रकारिता इस युग तक आते-आते एक अर्द्ध-शताब्दी व्यतीत कर प्रौढत्व प्राप्त कर चुकी थी। हिंदी के पत्रकारो ने शिक्षित वर्ग को राजनैतिक जागरूकता और साम्कृतिक अतर्दृष्टि का दान दिया और भारतीय जातीयता को अपने उत्तरदायित्वो का वोध हो, इसके लिए अथक परिश्रम किया।

इसी वातावरण मे द्विवेदी युग के साहित्यकारो ने अपनी लेखनी से साहित्य को समृद्ध और श्रीसपन्न वनाया था। निश्चय ही भाषा के सुधार, अनुशासन और परिमार्जन में इस युग के लेखको ने और विशेप कर आचार्य द्विवेदी ने जो महान योग दिया, वह अविस्मरणीय है, परतु भय है कि कही इस विशेप पक्ष पर वल देकर उनके कृतित्व के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षो की उपेक्षा न हो जाए। यह एक प्रवाद मात्र है कि द्विवेदी युग के रचयिताओ की कृतियाँ साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट नही थी। इसी प्रकार आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा कि इन लेखको का सामाजिक दृष्टिकोण अपने युग की परिस्थितियो से सामजस्य रखने वाला और उनके सुधार, विकास और उन्नति में योग देने वाला था।

अपने युग के राजनीतिज्ञो और नेताओ की अपेक्षा उस युग के साहित्यकार की दृष्टि अधिक दूर-दर्शिनी और क्रातिकारिणी थी, इसका ज्ञान पडित माधवप्रसाद मिश्र की उस 'खुली चिट्ठी' से होता है, जो उन्होने पडित मदनमोहन मालवीय को उनके विद्यार्थियो को राजनीति मे भाग न लेने की सलाह के उत्तर में लिखी थी। इस पत्र मे मिश्र जी ने अपने पक्ष मे जो सवल तर्क प्रस्तुत किए है, उनका आधार प्राचीन भारतीय इतिहास और परपरा है —

"भारतवर्प के ब्रह्मचारी, विद्यार्थी और युवक गण इसी समय नही, पहले भी विपदकाल मे इस देश के अवलव रहे है। हमारे वामन भगवान लडकपन से ही यदि राजनैतिक ब्रह्मचारी न होते, तो दैत्यराज वलि के ग्रास से उनकी देव जाति का उस समय उद्धार होना वहुत कठिन था। पर कुशल यही थी कि उस समय की महर्षि-मडली मे कोई उनका उत्साह भग करने वाला नही था। वे उस समय के नेताओ से प्रोत्साहित और पुरस्कृत हुए थे, तिरस्कृत नही। हम हिंदुओ के परमोपास्य भगवान कृष्ण वलदेव ने लडकपन में ही उन राजनैतिक वातो का अनुष्ठान आरभ कर दिया था, जिस पर इस देश का अभ्युदय होना निर्भर था   आप ज़रा सोचिए तो सही यह विषय आपके सच्चे पक्षपातियो के निकट कितना मर्मस्पर्शी है कि 'ऊन पेडश वर्ष' के रामचद्र जी लक्ष्मण सहित महर्पि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के लिए एकाकी वन मे चले जाएँ और 'स्वदेशहिताए च' मायाविनी ताडका का प्राण सहार कर डालें और आप अपने विद्यार्थियो को दुर्नीति को दवाने के लिए काग्रेस में भी न जाने दे। एक वार विचारिए तो, पूर्वजो की प्रतिष्ठा के लिए कुमार अभिमन्यु और लक्ष्मण चक्रव्यूह में लडकर प्राण दे दें। भीप्म और पशुराम रक्त की नदियाँ वहा दें। रुकमागद-सा नन्हा वालक हँसता-हँसता सिर कटा ले, महर्पि कुमार ऊर्व वडे-वडे शस्त्रधारियों को परास्त कर दे, वालक राजपूत फत्ता चितौड के द्वार पर सहर्प प्राण गँवा दे, राणा लक्ष्मण सिंह अपने 11 पुत्रो को भारतद्रोही वादशाही फौज के विरुद्ध लडकर मरने को भेज दे। और आप प्रयाग के हट्टे-कट्टे विद्यार्थियो को राजनीति की चर्चा भी न करने दे यह कहाँ का न्याय है।"[8] वावू वालमुकुद गुप्त के 'शिव शभू के चिट्ठे', श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती', प० श्रीधर पाठक की कविताएँ, प० रामनरेश

8. श्री माधव मिश्र निवन्ध माला, राजनैतिक, पृष्ठ 29–30।

त्रिपाठी के खड काव्य, लाला भगवान दीन की 'वीर पञ्चरत्न' पुस्तक तथा ऐसी ही अन्य वहुसंख्य रचनाओं में उस युग की राष्ट्रीयता, देशभक्ति के लिए किए जाने वाले सघर्षों का सजीव और सशक्त चित्र वर्तमान है। माधव शुक्ल की 'अभिलाषा' शीर्षक कविता में उस युग के भारतीय देशभक्तो की आकाक्षाओ का कितना आकर्षक प्रतिविंव है —

मेरी जाँ न रहे मेरा सर न रहे; सामाँ न रहे न ये साज रहे।
फक्त हिंद मेरा आज़ाद रहे, मेरी माता के सर पर ताज रहे।।
पेशानी में जिसकी सोहे तिलक, और गोद में गाधी विराज रहे।
न ये दाग वदन मे सुफेद रहे, न तो कोढ रहे न ये खाज रहे।।
मेरी टूटी मडँइया मे राज रहे, कोई गैर न दस्तदाज रहे।
मेरी वीन के तार मिले हो सभी, एक भीनी मधुर आवाज़ रहे।।[9]

इन राष्ट्रीय आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय ऐक्य और हिंदू मुस्लिम-एकता की नितात और अनिवार्य आवश्यकता थी, इस महत्त्वपूर्ण सत्य से भी इस युग के हिंदी साहित्यकार ने आँखे नही मूद रक्खी थी और अनेक कविताओ, निवधो मे उन्होने इस मूलभूत एकता को सुरक्षित रखने और पुष्ट करने का सदेश हिंदी पाठको को दिया था। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' हिंदू-मुस्लिम विरोध पर दु ख प्रकट करते हुए कहते हैं :

हाय हिंद ! अफसोस ज़माना कैसा आया।
जिसने करके सितम भाइयो को लडवाया।।
मुसलमान-हिंदुओ ! यही है कौमी दुश्मन।
जुदा-जुदा जो करें फाड कर चोली-दामन।।[10]

व्यापक रूप से स्वदेशी आदोलन का प्रारभ तो 1905 मे वग-भग के वाद हुआ, जव राष्ट्रीय रोष, विदेशी माल के वहिष्कार और विदेशी वस्त्रो की होली लगाने के रूप में, सर्वत्र-सुलभ दृश्य वन कर सामने आया, परतु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका में सन् 1903 में ही अपनी एक कविता में स्वदेशी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा था —

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै, विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो, न जाओ पास, उससे दूर भागो।।[11]

यह पक्तियाँ प्रमाणित करती है कि हिंदी के साहित्यकार राजनैतिक आदोलनो के अनुसरण-कर्ता नही, मार्ग-दर्शक रहे है। 'भारत-भारती' की इन पक्तियो में विदेशी वस्तुओ के वहुत आयात और देशी उद्योग धधो की अवनति की शोचनीय दशा पर कवि कितना क्षुब्ध दिखलाई पडता है

माचिस विदेशी हम न लें, तो फिर अँधेरे में रहे।
हैं क्षुद्र छडियाँ तक विदेशी, और आगे क्या कहें?
हम काँच लेकर दूसरो से, दे रहे हीरे खरे।
निज रक्त के वदले मदोदक ले रहे हैं, हे हरे।।

नाथूराम शकर शर्मा 'शकर' ने भी विदेशी वस्तुप्रियता की मूर्खता पर अपनी रचनाओ में अनेक स्थलो पर भारतीयो को व्यग का लक्ष्य वनाया है

---

9. राष्ट्रीय सिंहनाद (कविता सग्रह)—पृष्ठ 19।
10. स्वदेशी कुडल—राय देवी प्रसाद 'पूर्ण'।
11. सरस्वती—जुलाई, 1903।

रुई नाज़ देशी दिया कीजिए। विदेशी खिलौने लिया कीजिए ।।
हवेली-घरो को सजाया करो। पडे मस्त वाजे वजाया करो।।[12]

भारत में कृषि की अवनति और उसके परिणाम स्वरूप कृपक वर्ग की दरिद्रता के लिए विदेशी शासन ही अधिकाशत उत्तरदायी है। इस कटु सत्य को निर्भीक भाव से प्रकट करने में आचार्य द्विवेदी या इस युग के अन्य साहित्यकारो ने किसी प्रकार का सकोच अनुभव नही किया। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में अमेरिका में कृषि कार्य विषय पर निवध लिखते हुए स्पष्ट रूप से लिखा यहाँ की गवर्नमेंट ने देश के कुछ अशो को छोड कर अन्यत्र सभी कही कृषि को अपने अधिकार में कर रक्खा है। अतएव उसने भूमि के लगान और मालगुजारी के सवध में जो कानून वनाए है, वे वहुत कडे है।[13]

कृषको की दुर्दशा इस सीमा तक निरतर लेखको की दृष्टि में रहती थी कि जव प० श्रीधर पाठक ने 'हेमत' शीर्षक कविता लिखी तो मिश्र जी ने उस कविता की आलोचना करते हुए उसमें भारतीय कृपकों की दीन दशा का उल्लेख न होने की ओर सकेत किया। जव पाठक जी ने उत्तर देते हुए लिखा, "कि हेमत में अकाल-पीडित प्रजा का विपय डाल देने से गुण के स्थान दूषण आ जाता, वर्णन का प्राकृतिक माधुर्य फीका पड जाता, इष्ट रस नष्ट हो जाता, सारा पद्य भ्रष्ट हो जाता।" तो मिश्रजी ने जो अभिनिवेश-पूर्ण प्रत्युत्तर दिया, उससे उनकी साहित्यिक प्रतिभा की गति-शीलता और चितन के नवीन मान दडो का पता लगता है। मिश्र जी लिखते है, "धन्य है आपको, जिस समय भारतवर्ष में 'शुष्कम्' के अतिरिक्त सरस हरित पत्र भी नही दिखलाई देता था, आपको उस समय भी दिव्य दृष्टि से सव सरस हरे-भरे खेत दिखाई दिए। यही नही, श्रीमान की दिव्य दृष्टि ने और भी कमाल किया है, सडको और वाज़ारो में फिरते हुए दुर्भिक्ष-दलित पुरुष तो दृष्टि-गोचर नही हुए, पर अतरग रहस्यमय 'सुरति सुख' देखने में दूरवीन को भी मात कर गए वस्तुगत्या यह हमारी भूल थी कि हम श्रीधर जी अलौकिक कविता में इस प्रकार निकृष्ट लौकिक भाव को देखने की आशा करते थे, कहाँ भला भाग्यहीन, अकाल पीडित भारतीय प्रजा, और कहाँ सुरति-सुख-निरति सौभाग्यशाली श्रीमान प० श्रीधर महाराज।"[14]

भारतीय जनता की गाढे परिश्रम की कमाई को लूटकर आनद मनाने वाले वर्गो के प्रति द्विवेदी-युग के साहित्यकारो का रोष, उनकी वस्तु-स्थिति को हृदयगम करने की शक्ति, सहज सवेदन-शीलता और सबल नैतिक चेतना के परिणाम स्वरूप था। प्रसिद्ध कवि शकर की निम्नलिखित पक्तियो में उस युग के यथार्थ का जीवत चित्रण देखा जा सकता है

क्रूर कुशासन की धुजधारी, कट्टर कूट कूनीति प्रसारी,
हा न लोक मत से डरती है। भारत का भुरता करती है।
अकड अडाती है चित चाही। अटकी कुटिला नौकर शाही।
मौज उडाते रिश्वत खव्वा। उमगे लीडर माल कमव्वा।
ऊले पुलिसमैन पटवारी। विचरै चरुवा चक्र सुखारी।
डेढ टका प्रति वासर पाते। पर कर, चदा, टैक्स चुकाते।
चूसे रुधिर कचेहरी चडी। रगडे रेल उडाकर झडी।[15]

इस युग के लेखको ने शिक्षा प्रसार के लिए प्रवल जनमत तैयार करके सरकार को शिक्षा पर अधिक

---

[12]शकर सर्वस्व—अविद्यानद का व्याख्यान, पृष्ठ 159।
[13]लेखाजलि (निवध-संग्रह), आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 116।
[14]माधव-मिश्र-निवध माला (काव्यालोकन), पृष्ठ 28-29
[15]शकर सर्वस्व।

धन व्यय करने के लिए वाध्य किया। शिक्षा के गलत रूप और उसके दुष्परिणामो की भी कम आलोचना नही हुई। इस प्रश्न पर भी गभीरता से विचार किया जाने लगा कि प्राचीन भारत के शिक्षादर्शों से नवीन शिक्षा पद्धति के निर्माण में कहाँ तक सहायता मिल सकती है। हिंदी का प्रचार और प्रसार तो इस युग के लेखको का व्रत ही था। हिंदी के लेखक के लिए हिंदी प्रचार राष्ट्रीयता के विकास का ही एक अग था। सुकवि 'शकर' ने इसीलिए यह घोषणा कर दी थी कि :

'हिंदी नही जाने, उसे हिंदी नही जानिए।'

धार्मिक क्षेत्र में विद्‌यमान साधु वेपधारी लपटो और पाखडियो को साहित्यिकों ने अपने व्यंग का निशाना वनाया। उन्होने सडी-गली सामाजिक प्रथाओ और गए-वीते रीति-रिवाजो की भी अच्छी खवर ली। श्राद्ध खाने वाले पुरोहित, वर्ण श्रेष्ठता का दम भरने वाले निरक्षरभट्ट व्राह्मण, भोग-लोलुप कपटाचारी साधु, भूत-चुडैल झाडनेवाले ओझा, कोई भी तो इनके वाग्-वाणो से नही वचा। छूत-छात, दहेज-प्रथा, वाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-प्रथा और पर्दा आदि का इन लेखको ने जहाँ डट कर विरोध किया, वहाँ पाश्चात्य सभ्यता के अधानुकरण और फैशन-प्रियता आदि की आलोचना करने में भी पीछे न रहे। इतना अवश्य कहना पडेगा कि सभी लेखको का दृष्टिकोण सर्वथा रुढि मुक्त नही था। कुछ विधवा-विवाह का समर्थन करना उचित नही समझते थे, तो किसी की दृष्टि में जाति-व्यवस्था का विरोध अनुपयुक्त प्रतीत होता था। श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि जाति-व्यवस्था में परिष्कार और सुधार चाहते थे, उसे नष्ट करने के पक्षपाती नही थे। नारियो को राजनैतिक अधिकार देने में वडी हिचकिचाहट थी। श्री वृ दावन लाल वर्मा ने 1914 की 'सरस्वती' के एक अक में 'सफ्रेजिस्ट की पत्नी' शीर्षक कहानी लिखी थी, जिसमें लेखक का मत सफ्रेजिस्ट आदोलन (जो फ्रास की नारियो को मताधिकार दिलाने वाला एक प्रगतिशील आदोलन था) के विरोध मे था। इस प्रतिगामी प्रवृत्तियो के रहते हुए भी समूचे रूप से देखने पर यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण न होगा कि इस युग का हिंदी का साहित्यकार न केवल समय के समाज से कदम मिला कर चल रहा था, अपितु उसकी विधायिका शक्ति को गति और दिशा भी दे रहा था। उसने अपनी वाणी का सार्थक प्रयोग कर समाज से ऋण-मुक्त होने का सफल प्रयास किया था।

तुलनात्मक विवेचन

द्विवेदी और भारती

—एन० नारायण

उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी के दो महान कवि थे—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और भारती। दोनों ही अपनी-अपनी भाषा के अमर रत्न हो गए हैं। जिस प्रकार द्विवेदी जी की रचनाओ मे राष्ट्रीय भावना ओतप्रोत है वैसे ही तमिल के महाकवि भारती (सुब्रह्मण्य भारती) की रचनाओ मे भी राष्ट्रीय भावना भरपूर है और दोनो ही अपनी-अपनी भाषाओ में राष्ट्रीय भावनात्मक रचनाएँ रचने में सर्वप्रथम थे।

द्विवेदी जी एक तरह से खडी बोली के संस्कार करने वाले कवि थे। भारती को यद्यपि तमिल का संस्कार करने की जरूरत न थी, फिर भी पडिताऊ भाषा को सरल बनाकर उसमे नया जोश डालने का काम करना पडा। जिस प्रकार द्विवेदी जी की रचनाओ में—सस्कृत गर्भित समास पद्धति और सरल, सुबोध स्वतन्त्र पद्धति —दो शैलियाँ प्राप्त होती है, वैसे ही भारती मे भी। द्विवेदी जी सस्कृत के ग्रथों के उच्च कोटि के अनुवादक थे तो भारती ने भी महाभारत के पाचाली शपथ-द्रौपदी दुकूल- का तमिल रूप प्रस्तुत किया और उसमें पांडवो के रूप में देश की हालत का और कौरवो के रूप में विदेशी आततायी शक्तियो का चित्रण किया। उन रचनाओ में राष्ट्रीय भावना को महत्वपूर्ण स्थान दिया और स्वतन्त्र होने की, आतताइयो के बधन से मुक्त होने की हमारी प्रबल अभिलाषा जाहिर की।

द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सपादक थे तो भारती भी 'स्वदेश मित्रन' के। दोनो ही कवि के अतिरिक्त कहानीकार भी थे। द्विवेदी युग के प्रमुख कवि श्री अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचनाओ में भारतीय सस्कृति की जो मनोवैज्ञानिक उत्कृष्ट व्याख्या उपलब्ध है वह भारती की रचनाओ मे भी प्राप्त है

"यदि कोई पीडित होता है तो
उसे देख सब घर रोता है।

दूसरे के दुख मे भाग लेने वाला ही मनुष्य है। समाजवादी रचना का उद्देश्य यही है कि एक दूसरे के सुख-दुख मे भाग ले। इस दृष्टि से द्विवेदी जी एक समाजवादी कलाकार थे। भारती द्विवेदी जी से भी पहुँचे हुए समाजवादी कलाकार थे। इसीलिए भारती ने कहा—'तनि ओरुवनुक्कु उणविलैएनिल जयत्तिनै अपित्तिडुवोम'। इसका मतलब यह कि समाज मे यदि एक भी व्यक्ति बिना अन्न के भूख से तडप रहा है तो सारे ससार का नाश कर देंगे। इससे स्पष्ट है कि समाज में किसी को दुख न भोगना चाहिए। अगर एक व्यक्ति दुख भोगे तो उसके दुख को दूर करने का भार व कर्तव्य दूसरो का है। अन्यथा सारे ससार को नष्ट कर देना चाहिए। भारती कितने पहुँचे हुए आदर्श समाजवादी थे। द्विवेदी जी ने हिंदी का प्रचार व प्रसार किया तो भारती को भी यह काम करना पडा। अँग्रेजी-मोह मे पडे हुए लोग अपनी-अपनी भाषा को कुछ मानते ही न थे। उनके अँग्रेजी मोह को तोडकर उनमे अपनी-अपनी भाषा के प्रति श्रद्धा व लगन पैदा करने का काम दोनो को ही करना पडा। दोनो ही अँग्रेजीपन के विरोधी थे और अपनी सभ्यता व सस्कृति पर दोनो को गर्व था। दोनो की रचनाओ में शिष्ट, तीखा व्यग्य पाया जाना है।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' मे लिखा था—'हिंदी जिन विदेशी शब्दो को आसानी मे ग्रहण कर सके उन्हे तुरन्त ही अपने में मिला लेना चाहिए।' भारती भी इसके समर्थक थे। भारती ने यहाँ तक कहा कि दूसरी भाषाओ की श्रेष्ठ रचनाओ का तमिल में अनुवाद कर लेना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते है कि दो महान कवि हमारे बीच मे थे और दोनो यद्यपि भाषा की दीवार के आर-पार बैठे थे फिर भी भावना उनकी एक थी, हृदय उनका एक था, उद्देश्य उनका एक था। जिस प्रकार आज के कई प्रसिद्ध हिंदी लेखक अपने को द्विवेदी जी का शिष्य मानने मे गर्व का अनुभव करते है वैसे ही तमिल के कई प्रसिद्ध लेखक व कवि भारती को अपना गुरु मानने मे गर्व का अनुभव करते है।●

आचार्य द्विवेदी और श्यामसुंदर दास

—रुद्र काशिकेय

बात सन् 1933 ई० की है। प्रेमचंद जी 'हस' का काशी अक प्रकाशित करने जा रहे थे। स्वभावत उन्होने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से भी दो शब्द लिख देने का आग्रह किया और द्विवेदी जी ने 'जहँ बस सम्भु भवानि' वाले सत-सिद्ध लहजे मे काशी की स्तुति[1] करते हुए 'हस' को श्रीवृद्धि का प्रशस्त आशीर्वाद दिया। इस प्रकार उन्होने दिखा दिया कि कतिपय काशीवासियो से उन्हें भले ही कुछ शिकायत रही हो, काशी के प्रति उनके मन में कोई दुर्भावना नही थी। इसी तरह 27 दिसबर, सन् 1897 ई० से अपने निर्वाणकाल तक 'सभा' के मान्य सदस्य बने रह कर 'सभा' की प्रतिष्ठा बढाने वाले कार्यों में सदैव हार्दिक योग देकर एक हजार रुपए के साथ ही अपनी साहित्यिक सपत्ति काशी नागरी प्रचारिणी सभा को प्रदान कर उन्होने भली भाँति प्रमाणित कर दिया कि सभा के किसी अधिकारी से भले ही उनकी पटरी न बैठती रही हो, स्वय सभा के प्रति उनके प्रेम मे कही कोई कमी नही थी। फिर भी हिंदी जगत के समक्ष सभा और द्विवेदी जी के मतभेदो का बहुत बढा चढा कर[2] इतना अधिक प्रचार किया गया था कि वह प्रसग आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण अग बन गया है। छोटी सी बात बतगड़ हो उठी है। यद्यपि मूल में थोडा सत्य अवश्य है परतु वह भट्ट-भणत और चारण-चाटुकारिता की शाखा-प्रशाखाओ के घटाटोप से इस प्रकार छुपा लिया गया है कि सत्य का प्रकाश सर्वथा उसी मे छिप गया है। तथ्य की कुल्हाडी से सारा झाड़-झंखाड साफ कर उस सत्य का स्वरूप प्रकट करना ही पडेगा।

स्पर्द्धा और द्वेष, मानव-मन की ऐसी दो प्रवृत्तियाँ है जिनकी आकृतिगत समानता प्राय भ्रम उत्पन्न कर देती है। स्पर्द्धा के भाव को इसी लिए कभी-कभी द्वेष भाव समझ लिया जाता है। इस पर विचार नही किया जाता कि आकृतिगत समानता होते हुए भी स्पर्द्धा और द्वेष की प्रकृति मे गहरा अतर है। परतु आकृति तो सहज ही दिखाई दे जाती है, प्रकृति का ही पता बडी कठिनाई से चलता है। स्पर्द्धा का भाव श्रेयस्कर है, द्वेष का भाव अमगलजनक। फिर भी न जाने किस मजाल में पडकर हिंदी-ससार के समक्ष आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और डा० श्यामसुदर

---

1 'यस्य सदैव भुवनत्रय सस्तुताया
विश्वेश्वरो वसति शैलसुता समेत ।
काशी च सैव विबुधाधिप भक्ति भूमि
'हस'—श्रिय 'बहु विधा वितनोतु नित्यम् ।।'
—'हस', वर्ष 4, सख्या 1,

2 'उससे स्पष्ट है कि सभा के अधिकारी क्यो उनसे चिढे और उनके साथ स्वर्गवासी हो जाने पर भी वैसी प्रवृत्ति बनाए हुए हैं'—सभा और सरस्वती पृ० 2।

द्विवेदी जी ने निश्चय कर रखा था कि जिस नागरी प्रचारिणी सभा ने उनके सग इतना अन्याय किया है उसके अहाते में वे पाँव न धरेंगे।

—'हिमालय', पुस्तक—सख्या 12, पृ०—510

दास की वैयक्तिक स्पर्द्धा 'सभा' 'सरस्वती' का सघर्ष सिद्ध की गई। 'सभा' ने द्विवेदी जी का झगडा बगैर दिया गया। इसे झगडा बताने वाले, इस झगडे का प्रचार करने वाले कौन लोग थे, उन लोगो का इनमे क्या स्वार्थ था, इन सब बातो की छान बीन तो किसी शोधछात्र का काम है, यहाँ तो इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वास्तव में कोई झगडा था तो उस झगडे के मूल में न कोई साहित्यिक समस्या थी और न कोई सैद्धांतिक प्रश्न। केवल दो महापुरुषो के स्वाभिमान के प्राचीन पाषाण परस्पर टकरा गए थे। उससे कटु वचनो की कुछ चिनगारियाँ भी चिटक उठी थी। पिशुनता के पखे से कपट की हवा देकर उनकी लपट बढाने का भी दुष्प्रयत्न किया गया था, परतु परिणाम वही हुआ जैसा कि सस्कृत के किसी सूक्तिकार ने कहा है कि सज्जनो का क्रोध दुर्जनो के स्नेह के समान होता है अर्थात् पहले तो होता ही नही, होता भी है तो देर तक ठहरता नही, देर तक ठहर भी गया तो परिणाम में विपरीत फल देता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और डा० श्यामसुदर का पारस्परिक क्षोभ भी सज्जनो का सात्विक आक्रोश था। इसीलिए उसका परिणाम अमगलजनक न होकर हिंदी के लिए श्रेयस्कर ही हुआ।

आँखो देखा और कानो सुना सत्य है कि एक कमली पर दस साधु एक साथ लेट तक सकते है परन्तु एक ही सिंहासन पर दो राजा एक साथ बैठ भी नही सकते। दल के अतर्गत अनुयायियो की सख्या अनत रह सकती है परतु दलपति—दल का नेता—का स्थान तो एक समय में ही एक आदमी ग्रहण कर सकता है। कुछ ऐसी ही स्थिति आचार्य द्विवेदी जी और डा० श्यामसुदर दास जी की भी थी।

आचार्य द्विवेदी और डा० दास दोनो ही हिंदी के तुल्यबल महारथी थे। दोनो का स्वाभिमान हिमालय के समानातर सिर ऊँचा किए खडा रहता था। दोनो की जीवन-गति एक ही सिद्धात सरणि पर चलती थी। साहित्य कानन के ये दोनो ही केसरी इस शेर के कायल थे कि—

'रहम पर गैर के जीना कैसा ?
जिंदगी-का यह करीना कैसा ?'

ऐसी स्थिति में उस समय दोनो एक साथ न 'सभा' में रह सकते थे और न एक साथ 'सरस्वती' मे ही। यही स्वाभाविक भी था। यदि इसके विपरीत कुछ हुआ होता तो वह अस्वाभाविक तो होता, अमनोवैज्ञानिक भी हो जाता।

सन् 1900 ई० में प्रयाग के इडियन प्रेस ने 'सरस्वती' का प्रकाशन आरभ किया था। इसके लिए सभा ने ही इडियन प्रेस के स्वामी को सहयोग और सहायता दी थी। उक्त प्रेस के स्वामी स्व० चितामणि घोष के 13 जनवरी सन् 1905 की तिथि वाले सभा को प्रेषित पत्र में एक वाक्य है—'सरस्वती' का जन्म सभा की सहायता से हुआ था। यही नही, 'सरस्वती' के प्रथम पृष्ठ पर यह भी छापा जाता था कि 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित' सभा ने ही 'सरस्वती' के लिए सपादक समिति सघटित की थी जिसके सदस्य थे सर्वश्री कार्तिक प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', रायकृष्ण दास और श्यामसुदर दास।

यह स्वाभाविक था कि काशी मे बैठकर प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका के सपादन में अनेक कठिनाइयाँ आएँ। यही हुआ भी और इसीलिए 'सपादक समिति' के स्थान पर सन् 1903 ई० में 'सरस्वती' के सपादन के लिए आचार्य द्विवेदी जी बुलाए गए। इस व्यवस्था से डा० श्यामसुदरदास के अह को धक्का लगना भी स्वाभाविक ही था। बहु प्रचारित 'द्विवेदी-दास' सघर्ष का मूल और सर्वप्रथम कारण यही घटना थी। आनुषङ्गिक कारण अन्य भी हो सकते है जैसे, अल्हड साहित्यकारो की विनोदी प्रकृति।

जहाँ तक अल्हड विनोदी प्रकृति का प्रश्न है वह दो कलाकारो, विद्वानो या कवियो को आपस मे लडाकर उनकी प्रतिभा का चमत्कार देखना चाहती है। ऐसी विनोदी प्रकृति वालो का उद्देश्य साधु और निर्दोष हुआ करता है परन्तु उनकी कार्यविधि कभी कभी अनर्थ की जननी भी बन जाती है। शमसुल उलमा मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने उर्दू के सुप्रसिद्ध मर्सियागो शायरो, अनीस और दबीर के प्रसग मे लिखा है कि उस समय लखनऊ मे एक मडली ऐसी भी थी जो दो गुणियो को लडाकर तमाशा देखा करती थी। यह मडली फिर मैदान में आई और एक दल अनीस का समर्थक बन कर 'अनीसिया' कहा गया और दूसरा दबीर का पक्षपाती 'दबीरिया।'

सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश उस समय 'अनीसिया—दवीरिया' मडली जैसा एक गुट काशी में भी मौजूद था। इस गुट के सदस्यगण प्राय. तरुण, धनी, 'परम स्वतत्र न सिर पर कोई' और यदि कहा जाए तो कुछ हद तक अल्हड अविवेकग्रस्त भी थे। नीति वागीशो का अभिमत यह है कि यौवन, धन, प्रभुत्व और अविवेक मे प्रत्येक अकेले भी महा-अनर्थकारी हो सकता है, फिर वहाँ क्या होगा जहाँ वे चारो तत्त्व एक साथ वर्तमान हो ? इस प्रश्न का कि वहाँ क्या होगा, उत्तर यही है कि वहाँ वही होगा जो आचार्य द्विवेदी और आचार्य श्यामसुदर दास के पारस्परिक सवध में हुआ।

डा० श्यामसुदर दास का ध्यान 'सरस्वती' से हट चुका था। उनका उर्वर मस्तिष्क हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए कोई नया साधन ढूंढने, कोई नई योजना बनाने मे व्यस्त था। रायकृष्णदास के शब्दो में 'धीरे धीरे सन् 1910 की ग्रीष्म ऋतु आई। श्यामसुदर दास ने हिंदी साहित्य समेलन का अनुष्ठान आरभ किया। इस योजना ने हिंदी जगत में एक अपूर्व उत्साह और उद्वेलन उत्पन्न कर दिया किंतु साथ ही, जैसा सभी सदनुष्टानो में होता है, एक श्रौर विरोध भी खडा हो गया।'

राय साहब के ही शब्दो में उस विरोध की पद्धति यह रही कि लोगो ने सोचा कि समेलन के अवसर पर द्विवेदी जी काशी बुलाए जाएँ सभा में वह आवेंगे ही नही और इस प्रकार समेलन का मूर्तिमान विरोध हो जाएगा।

वस्तुत यह समेलन का नही श्यामसुन्दर दास जी के मूर्तिमान विरोध का आग्रह था जो इस प्रकार चरितार्थ किया गया कि द्विवेदी जी काशी आए परतु समेलन के स्थल-नागरी प्रचारिणी सभा नही गए। विरोधियो की मनोकामना पूरी हुई। उन्होने यह सोच कर सतोष की साँस ली कि काशी में आकर भी द्विवेदी जी समेलन में न जाएँ, इससे बढकर कलक की बात समेलन वालो के लिए दूसरी नही हो सकती। और समेलन कोई दूसरे नही, स्वय श्याम-सुदर जी थे, और लोगो को द्विवेदी द्वारा समेलन का बहिष्कार अभीष्ट नही था, श्यामसुदर दास जी का अपमान इष्ट था। यह इष्ट-सिद्धि आगे चलकर भी कब कब और किस प्रकार से की गई यह किसी दूसरे लेख का विषय है। यहाँ तो इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि सभा और 'सरस्वती' को पाली बना कर आचार्य द्विवेदी और डा० दास को निरतर लडाते रहने का सपना जिन लोगो ने देखा था अतत हाहाकारी निराशा ही उनके हाथ लगी। स० 1979 वि० में आचार्य द्विवेदी जी सभा के अध्यक्ष, और डा० श्यामसुदर दास उसके प्रधान मत्री रहे। इडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित किसी पाठ्य पुस्तक की प्रतिद्वदिता मे कही अन्यत्र से निकलने वाली पाठ्य पुस्तको की समालोचना आचार्य द्विवेदी और डा० दास—'सरस्वती' में एक ही स्वर से करते रहे। डा० दास की कृतियाँ इडियन प्रेस से ही प्रकाशित होती रही।

इन तथ्यो के प्रकाश मे स्पष्टत देखा जा सकता है कि सभवत हिंदी जगत् के नेतृत्व के प्रश्न पर आचार्य द्विवेदी और डा० दास में क्षणिक मतभेद हो गया था। फलत थोडी देर के लिए दोनो ने परस्पर एक दूसरे की ओर से परम नरमी के साथ आँखें फेर ली थी फिर भी बकौल शायर के—

'तू ने फेरी लाख नरमी से नजर,
दिल के आईने में बाल आ ही गया।'

इसी क्षुद्र 'बाल' को लोगो ने विकट बवाल बना डाला और द्विवेदी जी की मृत्यु के बाद उस बवाल को जिलाए रखने का प्रयत्न किया। काश ऐसा करने वाले कैंची न होकर लेई हुए होते। इसीलिए तो श्री किशोरीदास वाजपेयी के शब्दो में कहना पडता है कि 'यह हिंदी—ससार है।' ●

द्विवेदी जी और बालकृष्ण भट्ट

——मधुकर भट्ट

साहित्यकारो का विनोद अपने ढग का निराला होता है। जब दो साहित्यकार एक साथ मिल जाते है और मज में रहते है तो ऐसी ऐसी बातें होती है जो अविस्मरणीय होती है। यदि सौभाग्य से दोनो ही गभीर प्रवृत्ति के हुए तो मनो-विनोद छेड-छाड का रूप धारण कर लेता है। कुछ ऐसा ही विनोद प० महावीरप्रसाद द्विवेदी और प० बालकृष्ण भट्ट का होता था।

'सरस्वती' के वरिष्ठ सपादक आचार्य द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सपादन काल में जब प्रयाग मे रहते थे तब बहुधा प्रयाग-निवासी प० बाल कृष्ण भट्ट से मिलने उनके निवास स्थान पर जाया करते थे। भट्ट जी बडे प्रेम से उनसे मिलते और आदर के साथ बैठाते। तरह-तरह की बातें दोनो में होती। एक 'सरस्वती' के सपादक थे तो दूसरे 'हिंदी-प्रदीप' के। दो सपादक जन मिल जाते तो सस्कृत काव्य पर बात अधिक छिडती।

एक बार आचार्य द्विवेदी जी भट्ट जी के यहाँ गए। उस दिन भट्ट जी के पास पान सीमित ही थे। द्विवेदी जी उनके-पास जाते ही सबसे पहले पान पर ही धावा मारते। इसलिए उस दिन जब भट्ट जी ने यह सुना कि द्विवेदी जी आए है तो पहले से ही पान हटा दिए। बैठक मे भट्ट जी पलथी मारे 'हिंदी-प्रदीप' का मसाला तैयार कर रहे थे। द्विवेदी जी को बडे आदर से बैठाया। द्विवेदी जी की आँखें अपनी प्रिय वस्तु की खोज में ही थी। भट्ट जी का गिलौडी दान न देख, पूछ ही बैठे 'पडित जी आज पान-वान नही रक्खे है।" बस भट्ट जी बिगड पडे। 'बस, आयो और पान-पान चिल्लाने लगो, निगोडो पान भी का बला है?" इतना कह कर बात पलट कर दूसरी बात पर आ गई। साहित्य चर्चा छिड गई। थोडी देर बाद स्वय उठे और गिलौडी-दान ले कर आए। द्विवेदी जी का भी ध्यान उधर गया। भट्ट जी ने कहा 'घूर-घूर के का देखत हो एकै बीडा देब, आज पान चुर गवा है।" द्विवेदी जी हँसने लगे कहा कि 'पडित जी पहले देव तो फिर कानून कियो।' भट्ट जी ने छाँट कर जो सबसे छोटा बीडा था वही दिया। द्विवेदी जी मचल पडे। बूढे भट्ट जी ने भुनभुन करते हुए एक बीडा पान और दे दिया। स्मरण रहे कि भट्ट जी और द्विवेदी जी दोनो पान के बडे शौकीन थे। स्वय ही भिन्न-भिन्न मसाले डालकर पान लगाते और शौक से खाते-खिलाते, पर पान देने के पहले 'निवाहरिया', 'निगोडा' आदि गाली से सुसज्जित करके तभी पान देते। तब भी भट्ट जी से पान लेने के लिए सभी तैयार रहते। पान के विषय में भट्ट जी से द्विवेदी जी की खूब लडाई होती। पर वह लडाई प्रेम की होती उसमे जीत द्विवेदी जी की ही होती क्योकि द्विवेदी जी उनसे कहते 'पडित जी! दुधारु गाय की चार लात सहना पडता है।' सरल हृदय भट्ट जी—बडे प्रेम से पान निकाल कर देते और कहते 'समझ लो-अब न देब' पर कुछ ही क्षण बाद फिर देते। कई बार तो द्विवेदी जी से भट्ट जी इसलिए नाराज हो जाते कि वह स्वय ही गिलौरी-दान से पान निकाल कर खा जाते।

भट्ट जी से झिडकी खाने मे और उन्हे खिझाने एव चिढाने में द्विवेदी जी को बडा आनद मिलता था। कभी-कभी द्विवेदी जी केवल चिढाने के लिए भट्ट जी से 'जयदेव' के 'गीत गोविंद' की आलोचना कर देते, भट्ट जी बिगड जाते और एक से एक सुदर श्लोक जयदेव का सुना-सुना कर व्याख्या करने लग जाते और कहते 'देखो साहित्य में [illegible]

हीरा भरा है जितना डूबौ उतना रस मिले, भट्ट जी के वार-वार कहने पर जव कोई उनकी वात न मानता तो वहुत खीझते और कहते 'दिमाग मे तो गोवर भरा है तू का समझवो।' द्विवेदी जी भट्ट जी को चिढा कर और उनके मुख से निर्भत्सना-वाक्य सुन कर सुख का अनुभव करते थे। भट्ट जी 'निवहुरिया' गाली वहुत देते थे। 'निवहुरिया' का अर्थ द्विवेदी जी तथा श्रीधर पाठक 'मोक्ष' से लगाते थे अर्थात 'जो वहुर कर न आवै सो निवौहरिया।' इस प्रकार भट्ट जी की गाली भी सारगर्भित होती थी। भट्ट जी जव खीझ जाते तो स्वय अपना ही सिर पीटने लगते।

एक वार कई दिन वीत गए द्विवेदी जी भट्ट जी के यहाँ नही गए। एक दिन भट्ट जी स्वय गए और पूछा 'का भया? वहुत दिन से आए नही, हमसे विगड तो नही गएव। भैया हमारी वात का वुरा मत माना करो, का करी, आदन है कुछ न कुछ वोल देइत है। कोई गलती भई होय तो माफ कर दियो।' द्विवेदी जी ने कहा, 'नही पडित जी विगडेंगे काहे। इधर समय नही मिला नही आ सके। 'सरस्वती' के पीछे समय नही मिलता।' भट्ट जी ने कहा, 'हाँ भैया! हमऊँ के पीछे 'हिंदी प्रदीप' निवहुरिया पडी है जान ले के छोड़िए। अच्छा भइया कभी-कभी आय जावा करो, हम कुछ कह दिया करो तो माफ कियो।' इसी प्रकार माफी माँगते रहते और द्विवेदी जी वार-वार कहते 'नही भट्ट जी वुरा माने की का वात है।' अत मे भट्ट जी ने कहा 'अरे! वुरा मान लेवो हमरे ठेंगे से। अरे! जो कुछ देते हो न देवो। न अउवो हमरे ठेंगे से।'

इस प्रकार हम देखते है भट्ट जी और द्विवेदी जी दोनो वडे सहृदय साहित्यकार थे। एक यदि हिंदी गद्य के निर्माता और प्रचारक थे तो दूसरे हिंदी गद्य के परिष्कारक और सुधारक थे। द्विवेदी जी जव भट्ट जी के यहाँ पहुँच जाते तो घटो साहित्य चर्चा होती। दोनो वात करने में इस तरह लीन हो जाते कि समय का ख्याल भी न रह जाता।

भट्ट जी की मृत्यु से द्विवेदी को गहरा धक्का पहुँचा था। उन्होने उनकी मृत्यु पर शोक सदेश देते हुए यह स्पष्ट किया था कि वह उनकी व्यक्तिगत क्षति हुई। भट्ट जी की मृत्यु पर शोक प्रकाश करते हुए अगस्त 1914 के 'सरस्वती' में द्विवेदी जी लिखते हैं

'भट्ट जी तुम्हारे शरीर त्याग का समाचार सुन कर वडी व्यथा हुई। इस व्यथा की इयत्ता हम किस प्रकार वनाएँ। हमारा कठ रुँधा हुआ है, हमारे नेत्र साश्रु है, हमारा शरीर अवसन्न है। इलाहावाद में तुम्हारे रहते वहाँ जाने पर, यह जन तुम्हारे दर्शनो से वहुधा वचित नही हुआ। अपने आने की सूचना भी, वह प्राय दो दिन पहले ही तुम्हें देता रहा है। इसलिए कि तुम मकान ही पर मिलो और तुम्हारा गिलौड़ी दान भी भरा हुआ मिले। तुम्हारी इच्छा न रहते हुए भी तुम्हारे पान हम तुम्हारे पानदान से निकाल निकाल कर खा गए। कितनी ही दफे निठमई और फल तुमसे वलवत मँगवा कर हमने खाया। और भी न मालूम कितनी तकलीफे तुम्हें दी। तुम्हें चिढाने में, तुम्हे खिझाने मे तुम्हारे मुख से निकले हुए निर्भत्सना वाक्य सुनने में सुख था। इसी से तुमको हम दिक करते थे। 'वाला चिर चुविता' की याद दिला कर तुम्हारी कटूक्तियाँ सुनते थे, तरह-तरह की वक्रोक्तियाँ कह कर तुम्हारे क्षणिक नही कृतक कोप की वृद्धि करते थे। इससे अपूर्व मनोरजन होता था। एक अनिर्वचनीय मुखानुभव होता था। तुममें हमारी भक्ति थी। इससे तुम हमारी यह सारी धृष्टता क्षमा करते थे, हम पर कृपा करते थे, हमसे स्नेह रखते थे। यही कारण है कि आज हम तुम्हारे 'त्वकार' का प्रयोग कर रहे हैं। इस त्वकार के रस से तुम खूव अभिज्ञ थे। इस-लिए तो आज हमने 'आप' का वहिष्कार कर दिया है। भट्ट जी अव वे सरस कथाएँ और पुराने कवियो की वे हृदय-रंजित उक्तियाँ कहाँ सुनने को मिलेंगी? तुम तो चल दिए—भट्ट जी तुम्हारी कौन कौन वात याद करे।'

इस प्रकार हम देखते है कि भट्ट जी के प्रति द्विवेदी जी के हृदय में कितनी भक्ति थी। द्विवेदी जी और भट्ट जी हिंदी साहित्य के युग निर्माता थे। निवध के क्षेत्र में दोनो ही साहित्यकारो ने एक युग का निर्माण किया। यदि भट्ट जी हिंदी गद्य में निवध के जन्मदाता थे तो द्विवेदी जी निवध शिशु के प्रतिपोषक थे। हिंदी गद्य के निवंध क्षेत्र में भट्ट जी अपने युग का प्रतिनिधित्व करते थे तो द्विवेदी जी ने 'द्विवेदी' युग को अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से प्रकाशित किया। यदि द्विवेदी जी को वयोवृद्ध भट्ट जी से प्रगाढ भक्ति थी तो भट्ट जी को द्विवेदी जी से अपार स्नेह था। ●

आचार्य और जैनाचार्य

—अगरचंद नाहटा

हिंदी भाषा और साहित्य के महान् उन्नायको में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम बडे
लिया जाता है। उन्होने स्वय तो अनेको ग्रथ और लेख लिखे ही है पर साथ ही अनेको लेखको और कवि
व प्रोत्साहन देकर उन्होने आगे बढाया है। उनकी रचनाओ के परिमार्जन मे द्विवेदी जी ने अपना बहु
श्रम देकर जो विशिष्ट कार्य किया है वह सदा के लिए स्मरणीय रहेगा। अकेला यदि एक व्यक्ति चाहे
और साहित्य को कितना उन्नत और समृद्ध बना सकता है, इसका विरल और उज्ज्वल दृष्टात द्विवेदी
के कारण बहुत से लोगो ने अपनी गलतियाँ सुधारी और शुद्ध तथा सुदर साहित्य के निर्माण में महत्
दिया। इस अर्थ में हम अनेको लेखको और कवियो के निर्माता के रूप में द्विवेदी जी का नाम एक
प्रोत्साहक व्यक्तित्व के रूप में ले सकते हैं। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के द्वारा उन्होने इस दिशा मे
किया। ऐसे साहित्य-तपस्वी व्यक्तियो के द्वारा ही किसी भाषा और साहित्य का गौरव बढता है।

माननीय द्विवेदी जी से मेरा साक्षात् सपर्क तो नही हुआ पर उनके ग्रथो एव लेखो मे मे बहुत
अत उनकी जन्म शती के उपलक्ष में श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मुझे अत्यत प्रसन्नता है।

आचार्य द्विवेदी जी के कई साथी और सपर्क में आने वाले अनेको व्यक्ति आज भी विद्यमान है।
अवश्य ही रोचक एव प्रेरक होगे। द्विवेदी जी का जीवन बहुत ही कर्मठ था और वे स्वभाव के बडे
मिलनसार थे। गुण-ग्राहकता तो उनका एक विशिष्ट गुण था। इसलिए जिस किसी व्यक्ति मे जो भी
उन्हें दिखाई दी उसकी उन्होने जी-खोल कर प्रशसा की। इसी तरह जिनकी रचनाओ में उन्हे दो
उनको प्रकट करने में भी कभी नही हिचके। ऐसे व्यक्ति वास्तव में विरले होते हैं। देश और समाज को
देन दे जाते है, उससे पीढियाँ अनुप्राणित होती रहती हैं।

गुणग्राही होने के कारण ही जैन समाज के लोगो के साथ भी उनका मधुर सबध रहा। 'सरस्
जैन तीर्थो, सस्थाओ आदि के सबध में समय समय पर बहुत से महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। अनेको
हिंदी और गुजराती भाषा के जैन ग्रंथो की समालोचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। कई ग्रथो के सबध
जी ने स्वतंत्र लेख, विस्तृत समालोचना प्रकाशित की हैं। इससे मालूम होता है कि उन्होंने उन ग्रथो
सूक्ष्मता और रसपूर्वक अध्ययन किया था।

वैसे तो वे कई जैन विद्वानो के सम्पर्क में आए, पर सबसे अधिक जिनके सपर्क वे आए और
प्रभाव पडा, वे हैं आचार्य विजयधर्म सूरि। सन् 1911 के जून में उन्होने एक लेख भी उक्त आच
में प्रकाशित किया जो उनके 'सुकवि सकीर्तन' नामक ग्रथ मे भी छपा है। उक्त लेख का नाम है—"
जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरि।" उक्त लेख के अत में आचार्य श्री के सबध में लिखा है कि—"अ
हैं। आपके दर्शनो से हम कई बार कृतार्थ हो चुके है।" इतना ही नही, सूरि महाराज के दो विद्यार्थि
भी उन्होंने बडी प्रसन्नता प्रकट की। उनके विद्यार्थियो के नाम है—प० हरगोविंद दास (पाइप सद्द
प्राकृत कोश के निर्माता) और प० बेचरदास दोशी (जो आज भी अहमदाबाद में विद्यमान है और
महान् विद्वान हैं।) इन दोनो विद्वानो को सूरि जी ने पाली भाषा और बौद्ध दर्शन का ज्ञान प्राप्
महामहोपाध्याय डा० सतीशचद्र विद्याभूषण के साथ सिंहल भेजा था। उनके सबध में द्विवेदी जी ने
लेख में लिखा है कि—"इन विद्यार्थियो से नही, महा पडितो से, एक बार काशी में मिल कर हम
प्राप्त किया है।"

आचार्य विजय धर्म सूरि ने सवत् 1959 मे कतिपय जैन मुनियो और श्रावको के उच्च अध्ययन के लिए वडे कष्ट उठाकर काशी में 'श्री यशोविजय जैन पाठशाला' नामक विद्यालय खोला। उसकी व्यवस्था जमाकर वे पूर्व देश के जैन तीर्थों की यात्रा करते हुए कलकत्ता पधारे और वहाँ से सवत् 1994 में जब पुन काशी में पधारे तभी आचार्य द्विवेदी जी आचार्य श्री और उनके शिष्यो के अधिक सपर्क में आए। आचार्य श्री के शिष्य मुनि विद्याविजय जी ने आचार्य श्री की जीवनी 'आदर्श साधु' के नाम से सवत् 1974 मे लिखी थी। इस ग्रथ के पृष्ठ 59 मे लिखा है कि 'पाठशाला का पुनरुद्धार होने के अनतर दूर दूर से कई विद्वानो ने आकर पाठशाला का निरीक्षण किया और आपके दर्शन कर कृतार्थ हुए। 'उन विद्वानो की लवी सूची में श्रीमान् पडित प्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी (सरस्वती-सपादक) का भी नाम है।

आचार्य विजय धर्म सूरि का स्वर्गवास सवत् 1978 के भादवा सुदी 14 (अनत चतुर्दशी) के दिन शिवपुरी (ग्वालियर) में हो गया। उनके स्वर्गवास का सवाद मिलने पर द्विवेदी जी ने दौलतपुर से ता० 17-9-22 को पत्र लिखा, जिसमें "आचार्य श्री का शरीर त्याग सवाद सुन कर दुख हुआ" लिखा है। सरस्वती के अक्तूवर, 1922 के अक में आचार्य श्री की प्रशसा प्रकट की और 1979 के कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी को सस्कृत में अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए उनके निधन के समाचार से निरतिशय सताप समूह से पीडित होने का उल्लेख किया है। उक्त तीनो पत्र एवं संवादो को नीचे उद्धृत किया जा रहा है —

(1)

आचार्य श्री का शरीर त्याग संवाद सुनकर दु ख हुआ। उन्होने आदर्श त्याग स्वीकार करके धर्माचरण और धर्म-प्रचार किया था।

महावीरप्रसाद द्विवेदी
भू० पू० सपादक 'सरस्वती'
दौलतपुर।

(2)

जैनाचार्य जी की विद्वता के विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है। वडे-वडे विद्वानो ने आपकी प्रशसा की है। जैन इतिहास और जैन धर्म के लिए आपने जो कुछ किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। जैन धर्म के सवध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने आपकी विद्वता से सदैव लाभ उठाया। आपने कितने ही स्थानो में पाठशालाओ और विद्यापीठो की स्थापना की। काशी की 'यशोविजय पाठशाला' और ववई का वीरतत्व प्रकाशन मडल आपके विद्या प्रेम के स्मारक है। आपने अपने एक शिष्य के द्वारा जैन वालन्टीयर कोर (जैन-स्वय सेवक मडल) की भी स्थापना कराई। आपकी जैसी अगाध विद्वता थी, वैसा ही सरल जीवन था। प्रसिद्ध विद्वान टैसीटौरी ने आपके विषय में यह लिखा है 'आचार्य का हृदय प्रेम से भरा हुआ था। ससार के प्रत्येक जीव के प्रति उनकी सहानुभूति थी। आप एक सुयोग्य विद्वान तो थे ही, साथ ही एक आदर्श साधु और सुवक्ता भी थे। इसमें सदेह नही कि धर्माचार्यो मे आपके समान प्रतिभावान् और देश-सेवक साधु कम हुए हैं।

'सरस्वती'
—अक्टोवर 1922 का अंक।

(3)

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य विजय धर्म सूरि निर्धनवृत्तमाकलय्य निरतिशयसतापसमूहेन पीडितमभवन्मे मन। आचार्य महोदया अतीवोन्नत हृदया: अनेकशास्त्रज्ञानपारगामिनश्चासन्। तेषाविद्याव्यासग; शिक्षा प्रचार समभियोग संस्कृतप्राकृतभाषयोर्नैपुण्याधिकारश्च विशालतर आसीत्। लोकहिताकाक्षया तै' कृतानि नानानुएठानानि तेषा हृदयौदार्य्यं प्रकटी कुर्वंति। नूनं तेषा श्रद्धास्पदाना तिरोभावेन भारत्या भरत भूमेश्च महती हानि संजातेति विनिश्चिनोति।

द्विवेदी महावीरप्रसाद

कार्तिक शुक्ला
पौर्णमासी
वि० स० 1979

पुरातत्वाचार्य मुनि जिन विजय जी से द्विवेदी जी का साक्षात सवध हुआ या नही, यह तो मुझे मालूम नहीं है पर उनके 'प्राचीन जैन लेख सग्रह' के सवध में द्विवेदी जी ने एक स्वतत्र लेख 'सरस्वती' के जून 1922 के अक में प्रकाशित किया था और इस सवध में उनके दूसरे ग्रथ 'शत्रुज्जयतीर्थोधार प्रवध' की विस्तृत समालोचना सरस्वती के अगस्त 1927 के अक में छपी थी । इन समालोचनाओ से मुनि जिन विजय जी की विद्वता की द्विवेदी जी पर गहरी छाप पडी थी स्पष्ट है। जैनो के सवध में उन्होंने अपने उदार और गुण-ग्राहकता सूचक विचार कई बार व्यक्त किये ।

जैन साहित्य की द्विवेदी जी ने समय समय पर मुक्त कठ से प्रशसा की है । उपरोक्त प्राचीन जैन लेख की समालोचना करते हुए उन्होने लिखा है—

"जैन-धर्म्मावलवियो में सैकडो साधु-महात्मा और सैकडो, नही, हजारो, विद्वानो ने ग्रथ रचना की है । उनकी इस रचना का वहुत कुछ अंश इस समय अप्राप्त है कुछ तो अराजकता के कारण नष्ट हो गया, कुछ पास चलो गया, कुछ कृमि-कीटको के पेट में चला गया । तथापि जो कुछ वच रहा है उसे भी थोडा न समझना चाहिए । अब भी जैन-मंदिरो में प्राचीन पुस्तको के अनेकानेक भाडार विद्यमान है । उनमें अनत ग्रथ-रत्न अपने उद्धार की राह देख रहे हैं । ये ग्रथ केवल जैन धर्म से ही सवध नही रखते । इनमें तत्व-चिंता, काव्य, नाटक, छद, अलकार, कथा-कहानी और इतिहास आदि से भी संवध रखने वाले ग्रथ है, जिनके उद्धार से जैनेतर जनो की भी ज्ञान-वृद्धि और मनोरजन हो सकता है । भारतवर्ष मे जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके अनुयायी साधुओ (मुनियो) और आचार्यों में से अनेक जनो ने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रथ-रचना और ग्रथ सग्रह में खर्च कर दिया है । उनमे से कितने ही विद्वान, वरसात के चार महीने तो वहुधा केवल ग्रथ लेखन में ही विताते रहे हैं । यह इनकी इसी सत्प्रवृत्ति का फल है जो वीकानेर, जैसलमेर और पाटन आदि स्थानो में हस्त-लिखित पुस्तको के गाडियो वस्ते अव भी सुरक्षित पाये जाते हैं ।'

'मदिर निर्माण और मूर्ति स्थापना भी जैन-धर्म का एक अग समझा जाता है । इसी से इन लोगों ने इस देश में हजारो मदिर वना डाले हैं और हजारो का जीर्णोद्धार कर दिया है । मूर्तियो की कितनी स्थापनाएं और प्रतिष्ठाएं की है इसका तो हिसाव ही नही, उनकी गिनती तो शायद लाखो तक पहुँचे । पर वे इस काम मे भी अपने साहित्य-प्रेम को नही भूले । मदिरो में इन लोगो ने वडे-वडे लेख और प्रशास्तियाँ खुदवा दी हैं । उनमें से कोई कोई लेख तो इतने वडे हैं कि उन्हें छोटे-मोटे खड काव्य ही कहना चाहिए । यहाँ तक कि मूर्तियो तक में उनके प्रतिष्ठापको और निर्माताओ के नाम निर्देश आदि के सूचक छोटे-छोटे लेख पाए जाते हैं । यदि इन सव का संग्रह प्रकाशित किया जाए तो शायद महाभारत के सदृश एक वहुत वडा ग्रंथ हो जाए ।" द्विवेदी जी के ये शब्द उनकी सत्यनिष्ठा व गुण ग्राहकता के परिचायक है ।

● ● ●

द्विवेदी और 'नवीन'

लक्ष्मीनारायण दुबे

स्वर्गीय प० वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' मे राष्ट्रीयता, साहित्यिकता तथा पत्रकारिता के वीज वाल्यावस्था मे ही वो दिए गए थे। वे दस वर्ष की अवस्था से ही 'सरस्वती', 'प्रभा' एव 'प्रताप' का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने लगे थे। 'सरस्वती' उस युग की प्रमुख एव प्रभावपूर्ण पत्रिका थी जो कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुशल सपादन में उत्तरोत्तर प्रगति कर रही थी। 'नवीन' जी 'प्रभा' तथा 'प्रताप' के नियमित ग्राहक और पाठक थे। खडवा की 'प्रभा' को श्री माखनलाल चतुर्वेदी के सपादन में, 'मध्यप्रदेश की सरस्वती' की गरिमा प्राप्त हो चुकी थी।

अपनी किशोरावस्था में नवीन जी अपनी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्रेपित किया करते थे परतु आचार्य द्विवेदी जी उन्हे संशोधित कर, प्रत्यावर्तित कर दिया करते थे। इन किशोर-कृतियो में द्विवेदी युगीन काव्य-प्रवृत्तियो का प्राचुर्य था। जव 'नवीन' जी उज्जैन के हाई स्कूल मे पढते थे, उनके अत्यत प्रिय सखा और सहाध्यायी 'सतू' का प्लेग से देहात हो गया। उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होने एक कहानी लिखी जिसका शीर्पक था 'सतू'। प्रस्तुत कहानी में नवीन जी की भाव-धारा उद्दाम वेग से मानो फूट पडी है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ यह कहानी भेजी गई। कहानी पढकर द्विवेदी जी ने अपने सहकारी श्री हरिभाऊ उपाध्याय से कहा—"इन्हें पत्र लिखकर पूछो कि किस वँगला कहानी का यह अनुवाद किया गया है?" उत्तर में नवीन जी ने लिखा "मै तो वँगला जानता ही नही और यह कहानी मेरी अपनी लिखी हुई है, अनुवाद नही।" इसके उत्तर में द्विवेदी जी ने स्वय एक पोस्टकार्ड लिखकर 'नवीन' के पास भेजा "महोदय, कहानी मिली—छापूँगा।—म० प्र० द्विवेदी।" फिर यह कहानी 'सरस्वती' के जनवरी, 1918 ई० के अक मे प्रकाशित हुई। यह 'नवीन' की सर्वप्रथम प्रकाशित साहित्यिक रचना है ओर इसी में ही उनका कवि-नाम 'नवीन' सव से पहले आया है। कहानी में सस्कृत-निप्ठ भाषा और कारुणिकता का मार्मिक आच्छादन है।

इसके पश्चात् आचार्य द्विवेदी जी 'नवीन' जी की प्रतिभा तथा साहित्यिक उत्कर्ष से वडे प्रभावित रहे। नवीन जी की 'तारा' नामक कविता को 'सरस्वती' के मुखपृप्ठ पर, अप्रैल, 1918 के अक मे छापा। उनकी 'विरहाकुल' रचना को दिसवर, 1918 में स्थान दिया। इस प्रकार एक ही वर्प मे 'सरस्वती' सदृश्य श्रेप्ठतम पत्रिका में तीन रचनाओ का प्रकाशित हो जाना और मृख-पृप्ठ का गौरव पा जाना, साधारण वात नही थी। इससे विद्यार्थी 'नवीन' की 'होनहार-विरवान के होत चीकने पात' की सिद्धि होने लगी। तद्नतर 'सरस्वती' मे अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई। इनमें स्वच्छदतावादी काव्य का क्रमिक उन्नयन आने लगा।

'नवीन' जी ने अपने सपादन काल मे कानपुर की 'प्रभा' को छायावादी काव्य एव स्वछन्दतावादी प्रवृत्तियों का प्रश्रय-स्थल बनाया। यह युग की नवीन चेतना, राष्ट्रीयता तथा सास्कृतिक उन्मेषो ने अधिक ... । 'प्रसाद' जी आदि 'सरस्वती' की अपेक्षा 'प्रभा' को अधिक पसद करते थे। 'नवीन' की लेखनी 'प्रताप' में ओजस्विता का अजस्र स्रोत प्रवहमान कर रही थी।

प्रखरता तथा निर्भीकता 'नवीन' जी के जीवन-जगत के मूलतत्व थे। उन दिनो नई कविताओं के ... रचना-विधान आदि पर व्यग्य करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'सत्कविदास' के छद्म नाम से एक करारा लेख लिखा। इस निवध में यद्यपि 'नवीन' जी की 'चलो वीर पटुआखाली' कविता की सराहना थी, तथापि नवीन जी का उक्त लेख की कई वातो से मतभेद था और उसका उत्तर उन्होंने 'प्रताप' मे दिया। सादर उन्होंने लिखा था कि आप तो हमारी साहित्यिक कृति और रुचि के उन्नायक है। तो फिर—

"विछाया अपना सिंहासन सुहावन दूर क्यो इतना ?
लपट से डरते हो इसकी, जो लौ सी यह उठी है कुछ ?"

उपरिलिखित निवध के प्रकाशन के कुछ दिन वाद एक वार द्विवेदी जी 'प्रताप' कार्यालय मे आए। वैठते ही 'नवीन' जी से पूछा "काहे हो वालकृष्ण ! तिनु एक वात हमका वतावा, तुम्हार ई सजनी, रानी, प्रिये, ई को आय ?" 'नवीन' जी ठहरे हाजिर जवाव उनका तो स्वर था—खाए पिए लगाया टीका वही वभन रहे नीका। चट से उत्तर दिया, "अव तुम वूढे होइगे हौ, का करिहो इनका मरम जानिकै।" ठहाका लगाते हुए द्विवेदी जी ने एक घूँसा लगाया 'नवीन' जी को और वोले, "वडे मुरहा हौ"।

अमर शहीद गणेशशकर विद्यार्थी आचार्य द्विवेदी जी को अपना गुरू मानते थे और विद्यार्थी जी नवीन जी के गुरू थे। गणेश जी ने 'सरस्वती' मे कार्य करते हुए, द्विवेदी जी के चरणो मे सपादन कला की दीक्षा ली थी, परतु 'नवीन' जी की निर्भीकता सदा सर्वदा अपने निर्दवद्व रूप में अभिव्यक्त हुआ करती थी। वे अपने मत-भेद को स्पष्टता तथा नि सकोच रूप मे प्रकट कर दिया करते थे और किसी का भी अधानुकरण नही करते थे। कहना नही होगा कि वैमत्य के अवसर पर, नवीन जी ने वीर सावरकर, महात्मा गाधी, जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तमदास टडन का भी, अपने हृदय में इन महान पुरुषो के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए, विरोध किया था।

इन सव घात-प्रतिघातो के पश्चात् भी 'नवीन' जी के हृदय में किसी प्रकार का विकार या गाठ नही बंध पाती थी। वे स्वच्छ तथा निष्कपट हृदय के महामानव थे। सन् 1922-23 मे कानपुर मे, हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में, आचार्य द्विवेदी जी स्वागताध्यक्ष थे। उन्होने अपने भाषण का प्रारभिक अश ही उसमें पढा था और उत्तरार्द्ध का पाठ 'नवीन' जी ने ही किया था।

आचार्य द्विवेदी जी की शुभाशसा तथा मगलाशीष सदा 'प्रभा' एव 'प्रताप' के साथ रही। द्विवेदी जी की शैली का प्रभावाकन गणेश जी और नवीन जी की गद्य-रचनाओ पर देखा जा सकता है। 'नवीन' जी के मानस मे द्विवेदी जी के प्रति सदैव समान एव श्रद्धा का सद्भाव वना रहा। यद्यपि वे स्वच्छदतावादी काव्य के पोषक तथा उन्नायक रहे, फिर भी द्विवेदी जी के प्रति उनके मन में कभी भी कोई अमर्यादा, अवमानना या निरादर-पूर्ण वृत्ति ने अपने नीड नही वनाए। नवीन जी मे वैचारिक उदारता तथा मननशीलता का उदात्त रूप विराज-मान था। द्विवेदी जी की मृत्यु के पश्चात् साप्ताहिक 'प्रताप' मे 'आर्य महावीरप्रसाद द्विवेदी' शीर्षक अपने लेख मे नवीन जी उनके साथ अपने सवधो का निरूपण करते हुए, द्विवेदी जी के आचार्यत्व, युग-प्रवर्तक रूप पाडित्य तथा साहित्य-परोपकार को पूर्ण मान्यता प्रदान करते हुए, अपनी अश्रुसिक्त श्रद्धाजलि अर्पित की थी।

आचार्य द्विवेदी जी और कविवर 'नवीन' का सौरभ अव इतिहास के पृष्ठो को सुरभित कर रहा है। अव वे साँचे टूट गए जिन्होने ऐसे मनीषियो को गढा था। त्याग, वलिदान, ईमानदारी और सब मिटकर राष्ट्र व साहित्य की सेवा करना, कल्पना-लोक की वस्तु हो गई है और उसके स्थान पर विलास, फैशन ... ताओ ने अपने वितान तान लिए है। ये ध्रुवतारे हमारे आज के घटाटोप एव मनोवाछित साहित्य ... वादी राष्ट्रीयता के कुज्झटिकाच्छन्न मार्ग में अभी भी स्थिर रूप से आभा विखेर रहे हैं। ●

हिंदी साहित्य के डॉ० जान्सन

—शिवनारायण सक्सेना

साहित्य सेवी प्रसिद्ध निवधकार प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, जिन्होने खडी बोली के स्वरूप को विकसित करने में अपने जीवन की बाजी लगा दी थी, के नाम से सभी पढे-लिखे व्यक्ति परिचित है। इनका जन्म रायबरेली (उत्तर प्रदेश) जिले के दौलतपुर गाँव में प० रामसहाय दुवे के घर बैशाख शुक्ल 4, सवत् 1921 में हुआ था। निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण उचित शिक्षा व्यवस्था न हो सकी। सस्कृत का अध्ययन घर पर करके तथा थोडा बहुत अँग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर 15 रुपये प्रति मास पर रेलवे विभाग में नौकरी कर ली। पर अल्प वेतन तथा कम सुविधाओ के कारण निराश नही हुए, उन्होने विश्व के सामने एक उदाहरण उपस्थित कर दिया कि कठिनाइयो और प्रतिकूल वातावरण के बीच भी एक अल्प वेतन भोगी प्रसिद्ध साहित्यकार बन साहित्याकाश में सितारे की भाँति चमक सकता है। अपने परिश्रम से ही बँगला, उर्दू, गुजराती, मराठी, सस्कृत तथा अँग्रेजी भाषाओ का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। विशेष परिस्थितियो के कारण नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और साहित्य सेवा का कार्य पूरे ज़ोर शोर से प्रारभ किया।

इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का बडी कुशलता से संपादन किया। द्विवेदी जी लेखक ही नही कवि भी थे। लेखक के रूप में मातृभाषा के प्रचार के लिए इनसे जो बन पड़ा वह किया, जीवनोपयोगी, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी विषयो पर अपनी लेखनी चलाई। इनके पूर्व आलोचना का कार्य अपने प्रारभिक रूप में था, इन्होने समालोचना के क्षेत्र में भी अच्छी ख्याति प्राप्त की। तब तक आलोचनाएँ पुस्तक के रूप में हमारे सामने नही आ पाई थी, द्विवेदी जी ने सबसे पहले पुस्तक के रूप मे 'हिंदी में कालीदास की समालोचना' निवध प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त, अन्य गद्य ग्रथो मे 'हिदी भाषा की उत्पत्ति', 'सपत्ति शास्त्र', 'रसज्ञ रजन', 'साहित्य सदर्भ', 'कालिदास' और 'जल चिकित्सा' प्रमुख है। अनूदित ग्रथो में 'बेकन विचार रत्नावली', 'रघुवश', 'स्वतत्रता', 'महाभारत', 'किरातार्जुनीय', और 'मेघदूत' है। काव्य ग्रथो मे 'काव्य मजूषा', 'सुमन', 'विनय विनोद', 'कुमार सभव सार', 'स्नेह माला' और 'विहार वाटिका' प्रसिद्ध है। 21 दिसवर, सन् 1938 तक हिंदी की सेवा में जलोदर रोग हो जाने पर भी लगे ही रहे।

हिंदी साहित्य के इतिहास मे 'द्विवेदी युग' प्रमुख स्थान रखता है, वैसे इनके समान मे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आचार्य की पदवी से विभूति कर अभिनदन ग्रथ भेंट किया। हिंदी साहित्य समेलन की ओर से 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि दी गई और 'द्विवेदी-मेले' का भी आयोजन किया गया। ऐसे साहित्य मनीषी के लिए जितनी भी श्रदधा व्यक्त की जाए, समान प्रदान किया जाए, कम ही है। क्योकि सूर्य की उपासना एक दीपक से करके उसका समान ठीक से किया भी नही जा सकता। इनकी भाषा मे बोलचाल की विदेशी भाषा के प्रचलित शब्दो का तथा मुहावरो का प्रयोग भी बडे सुदर ढग से मिलता है। जनता की रुचि की ओर ध्यान देते हुए सरल और प्रभावोत्पादक गद्य-प्रचलन करने का श्रेय इन्ही को दिया जाता है। गद्य में आई हुई शिथिलता को दूर करके खडी बोली को परिमार्जित स्वरूप में प्रयोग किया। अपनी बात का प्रभाव डालने के लिए छोटे-छोटे वाक्यो के द्वारा एक ही बात कहने का ढग निराला है। ग्रथो के अतिरिक्त फुटकर रचनाएँ

भी बहुत लिखी थी। इनका तो यह विश्वास था कि गूढ से गूढ और कठिन से कठिन विषय को पाठकों के सम्मुख सरलतम भाषा में रखा जा सकता है। इसीलिए वह यह चाहते थे कि लेखो में सरल भाषा का प्रयोग किया जाए, हिंदी भाषा का अधिकतम प्रचार तभी हो सकता था जब भाषा में सरलता से अपनी बात समझाई जाए. संस्कृत के कठिन शब्दो का प्रयोग तो नाम मात्र के लिए ही हुआ है। अनेक नवयुवको को हिंदी साहित्य की ओर प्रोत्साहित कर लिखने की प्रेरणा दी। लेख पढते समय ऐसा लगता है जैसे मानो अच्छी तरह समझा बुझाकर कोई अध्यापक अपने लडको को पढा रहा हो, यदि यह कहा जाए कि सर्व साधारण के लिए इनके लेख उपयोगी थे तो भी बुरा नही है। बढई लकडी के सामान को, लुहार हथियारो को, खराद कर चिकना करता है उसी तरह से द्विवेदी जी ने भाषा को खराद कर शुद्ध किया, जो भूलें और त्रुटियाँ अन्य लेखको के द्वारा होती थी उन्हें सुधारना अपना कर्तव्य समझा। प्रत्येक, नवोदित साहित्यकार को लिखने का ढग और अपनी भाषा को सुधारने के उपाय बताए।

साहित्यक जीवन मे कविता से श्रीगणेश हुआ। उस समय रीतिकालीन परपरा के अनुसार शृङ्गार की भावना में कहने का बोल बाला था। यो भारतेंदु जी ने देश भक्ति, और राष्ट्र प्रेम मे नाटक और कविताएँ लिखी थी, वास्तविकता निखर नही पाई थी। खडी-बोली मे विचार व्यक्त करने, सरल भाषा मे कविताएँ लिखने, भारतीय सस्कृति की ओर ध्यान देने पर विशेष जोर दिया था। हिंदी भाषा की जितनी सेवा द्विवेदी जी ने भारतेंदु के बाद की उतनी शायद किसी के द्वारा नही हो पाई। जिनकी अँग्रेजी की तरफ विशेष रुचि थी उनको भी इस ओर खीच कर लाना इन्ही का काम था। इन्होने मुख्य रूप से तीन प्रकार की शैलियो का प्रयोग किया था (1) व्यग्यात्मक, (2) आलोचनात्मक, (3) गवेषणात्मक।

(1) ***व्यंग्यात्मक शैली*** *व्यावहारिक भाषा में हास्य व्यग प्रधान छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग इस शैली की अपनी विशेषता है।*

(2) ***आलोचनात्मक शैली*** *हिंदी भाषा और साहित्य के साथ खिलवाड करने वाले लोगो के लिए* इस शैली में प्रमुख रूप से लेख लिखे गए। भाषा, देश, धर्म और साहित्य के प्रति भावना जागृत करने के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है। गभीरता तथा सयम इस का प्रमुख गुण है। ओजपूर्ण शैली का प्रसिद्ध उदाहरण, 'साहित्य की महत्ता' नामक निबध को देखिए—'साहित्य मे जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलो में भी नही पाई जाती। योरप में हानिकारणी धार्मिक रुढियो का उत्पादन साहित्य ने ही किया है, जातीय स्वातत्र्य के बीज उसी ने बोए है, व्यक्तिगत स्वातत्र्य के भावो को भी उसी ने पाला-पोसा और बढाया है, पतित देशो का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रास मे प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रात इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने!'

(3) **गवेषणात्मक शैली** इस शैली में सस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ भाषा क्लिष्ट हो गई है। जहाँ पर साहित्यक विषयो की विवेचना की गई है, वहाँ मार्मिकता नही आई है। इसके दो प्रमुख रूप है—एक साधारण और दूसरा गभीर। उदाहरण के लिए 'निक्षिप्तो की समझ असाधारण प्रकार की होती है। वैसे ही प्रतिभा वालो की समझ भी असाधारण होती है, वे प्राचीन मार्ग पर न चल कर नए-नए प्रकार के मार्ग निकाला करते है। पुरानी लकीर पीटना उन्हें अच्छा नही लगता?'

वास्तव मे आज हिंदी साहित्य जितनी प्रगति कर सका है वह सब उन्ही की कृपा के फलस्वरूप हुआ है। साहित्य को प्रेमचद जैसे उपन्यास सम्राट, विशभरनाथ शर्मा जैसे कहानीकार, गणेशशकर विद्यार्थी जैसे यशस्वी सपादक, आचार्य शुक्ल जैसे प्रसिद्ध समालोचक तथा मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रीय कवि द्विवेदी जी की अथक कोशिश के बाद, मिल सके है। ठीक एक शताब्दी पूर्व जन्म लेने वाले प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम जब तक विश्व मे एक भी हिंदी भाषा-भाषी व्यक्ति रहेगा तब तक चद्रमा के समान चमचमाता रहेगा। द्विवेदी जी का हिंदी साहित्य मे वही स्थान है, जो अँग्रेजी साहित्य मे डा० जान्सन का। ●

द्विवेदी जी की देन

असित चट्टोपाध्याय
अनु०—रणजीतकुमार सेन

विश्व साहित्य मे साहित्यकारो की सख्या काफी है पर जो भाषा की सुदृढ नीव पर पथ का निर्माण करते हैं, समर्थ यात्रियो को उस पथ पर परिचालित करते है और हृदय को कठोर वनाकर सुदर परतु हानिकारक झाड-झँखाडो का उन्मूलन करके उस यात्रापथ को भावी यात्रियो के लिए सुगम वना देते हैं, ऐसे लोगो की सख्या वहुत कम है। परतु साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि सख्या में कम होने पर भी प्रत्येक साहित्य को ऐसे एक या एकाधिक साहित्यकारो का वरदहस्त प्राप्त हुआ है। ऐसे ही इने-गिने व्यक्तियो में हिंदी साहित्य के प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक विशिष्ट स्थान है, हिंदी साहित्य का आधुनिक युग उनके पदार्पण करते ही पावन हो गया, धन्य हो गया।

जिस समय द्विवेदी जी का आविभाव हुआ उस समय हिंदी का खडी वोली साहित्य अपना मार्ग खोज रहा था। कभी व्रजभाषा की मधुरिमा उसे अपनी ओर आकर्षित करती थी तो कभी खडी वोली की पौरुष-पूर्ण गद्य-विधा उसे युगानुकूल परिवर्तन के लिए प्रेरित करती थी। दूसरी ओर उस पर हैदरावाद और लखनऊ की समिलित परपरावाली उर्दू का भी दवाव पड रहा था। एक ओर आज की राष्ट्रभाषा को उन दिनो 'भाखा' 'गँवारू वोली' आदि की सज्ञा देकर हीन और ग्रामीण सिद्ध करने के लिए प्रयत्न चल रहे थे तो दूसरी ओर उसमें असवद्ध रूप से अरवी और फारसी के शुद्ध शब्द भरे जा रहे थे। इसके अतिरिक्त शासकवर्ग के प्रभाव से अधिकाश उच्चवर्ग के लोग हिंदी को एक भाषा के रूप मे मानने के लिए तैयार नही थे और इसलिए उसका अध्ययन नही करना चाहते थे। चारो ओर के इन दवावो के कारण भाषा की व्याकरण व्यवस्था मे भी शिथिलता आ गई थी। इन परिस्थितियो मे द्विवेदी जी का आगमन हुआ। उन्होने अपनी निर्भीकता, विद्वत्ता और अपने समुन्नत दृष्टिकोण से खडी वोली हिंदी की सामर्थ और साहित्यक समद्धि को प्रगति पथ पर परिचालित करके

उसे शैशवावस्था से यौवनावस्था में पहुँचा दिया। यद्यपि उनसे पहले भी खडी बोली मे साहित्य सृजन हुआ था और भारतेंदु जैसे साहित्यप्रेमी का आविर्भाव हो चुका था तथापि इसमें सदेह नही है कि हिंदी साहित्य के राजपथ का निर्माण द्विवेदी जी के करस्पर्श से ही हुआ है ।

जो कार्य बँगला साहित्य में ईश्वर गुप्त द्वारा सपादित 'प्रभाकर' और वकिमचद्र द्वारा सपादित 'वग दर्शन' पत्रिकाओ ने किया था कुछ उसी प्रकार का कार्य द्विवेदी जी के सपादन में 'सरस्वती' ने किया। सन 1903 में इसका सपादन प्रारभ करते ही एक ओर तो उन्होने हिंदी साहित्य की प्रत्येक विधा में साहित्य सर्जना की विशिष्ट शैली को प्रोत्साहन देना प्रारभ किया और दूसरी ओर वडी निर्भीकता से हिंदी के विकास के मार्ग में आने वाली सभी वाह्य वाधाओ को दूर किया। यदि कोई साहित्य-रचना की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करना चाहे तो शायद उसे निराशा होगी क्योकि उनकी मौलिक रचनाएँ वहुत अधिक नही है। 'कवि और कविता' 'नैषध चरित चर्चा', 'साहित्य सीकर', 'कालिदास की निरकुशता' आदि रचनाओ को छोडकर विशेष रूप से उल्लेखनीय और कोई रचना नही है। खोजने पर शायद आपको 'सरस्वती' के पृष्ठो में विखरे हुए उनके कुछ निवध या कविताएँ आदि मिल जाएँ पर समय के प्रयोजनानुसार लिखी गई उन रचनाओ का मूल्य आज के युग में अपेक्षाकृत कम हो गया है। फिर भी उनकी 'सरस्वती' ने हिंदी साहित्य को मैथिलीशरण गुप्त, प० रामचरण उपाध्याय और प० लोचनप्रसाद शर्मा जैसे साहित्यकार दिए है । कवियो तथा इन्ही जैसे अन्य रचनाकारो ने मिल कर उस युग का 'द्विवेदी मडल' वना था।

सन् 1831 मे ईश्वर गुप्त ने वँगला साहित्य मे पहले पहल 'प्रभाकर' का प्रकाशन किया। उसी 'प्रभाकर' के माध्यम से वकिमचद्र ने 'सव्यसाची की शक्ति', दीनवधु ने 'दरदी मन' और रगलाल ने 'वीर रसधारा' की देन वँगला को दी, जिससे तत्कालीन वँगला साहित्य में नवीनता की एक वाढ सी आ गई थी। सन् 1903 के वाद 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी साहित्य में भी नवीनता की वैसी ही वाढ आई।'कवि और कविता' पढने से द्विवेदी जी द्वारा नए लेखको को दी गई चेतावनी याद आती है। इसमें द्विवेदी जी ने लिखा है —

"जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निरर्थक नही हो सकती, उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है ।"

इसी प्रकार वकिमचंद्र कहते है -

"यदि आप समझते है कि लिखकर देश या मनुष्य जाति की कुछ भलाई कर सकते है या सौंदर्य की सृष्टि कर सकते हैं तो अवश्य लिखे ।"

जो साहित्य स्रष्टाओ का भी स्रष्टा है उसका निर्देश इस प्रकार स्पष्ट और कठोर होना चाहिए और हिंदी तथा वँगला दोनो ही साहित्यो में ऐसा ही हुआ था जिसके फलस्वरूप साहित्य के उन्नति मार्ग में जो वाधा विघ्न आए वे ज़ोर न पकड पाए ।

प्राचीनता की सीमा तोडकर किसी नवीन सृष्टि के पथ पर जिसने भी कदम वढाया है रूढिवादियो ने सदैव उनके मार्ग मे रोडे अटकाए है। द्विवेदी जी के मार्ग में भी अनेको वाधाएँ आई। उनके एक पत्र से ही इस वात का पता चल जाएगा जिसका उल्लेख उन्होंने स्वय 'सरस्वती' में इस प्रकार किया है —

"वी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड हमे उर्दू मे भेजा है, उसमें अनेक दुर्वचनो और अभिशापो के अनतर इस वात पर दु ख प्रकट किया गया है कि राज्य अँग्रेज़ी है अन्यथा हमारा सिर धड से अलग कर दिया जाता। भाई सिंह, दु ख मत करो। आर्य समाज की धर्मोन्नति होती हो तो— 'कर कुठार आगे यह सीसा......"

ईसाई धर्म प्रचार के परिणाम स्वरूप जव स्वधर्म भ्रष्ट होकर हिंदू युवक युवतियो ने अर्द्ध ईसाई जीवनादर्श ग्रहण कर लिया था तव ईश्वर गुप्त की निर्भीक लेखनी का प्रहार इससे भी भीषण रूप में हुआ था। वे कहते हैं —

'देसी कृष्णा जानि, नेक ऋपि कृष्ण त्रय
मेरी दाता मेरी सुत वेरी गुड वॉय।'

राजरोप की उपेक्षा करके ही यह व्यग्य किया गया था। पहले ही कहा गया है कि साहित्य क्षेत्र में प्रच्छन्न प्रतिभाओ की गरिमा पर पड़े आवरण को यत्नपूर्वक हटाने के लिए ऐसी ही प्रतिभा का उद्भव होता है। कवि ईश्वर गुप्त का नाम प्रथम श्रेणी के साहित्यकारो मे नही आता। द्विवेदी जी को भी कोई प्रथम श्रेणी का साहित्यकार नही मानेगा। किंतु वे प्रथम श्रेणी के साहित्यकारो की श्रद्धा के पात्र है। यही उनकी अद्वितीय साहित्यिक क्षमता का आभास मिलता है।

द्विवेदी जी ने समालोचना, काव्य, निवध आदि सभी क्षेत्रो मे एक प्रशस्त पथ का निर्माण किया था। उन्होंने खडी वोली के माध्यम से भाषा को परिचालित करके और उसकी जडता दूर करके भारतीय वाङमय के दरवार मे उसे उपयुक्त मर्यादा प्रदान की। व्याकरण की अशुद्धियाँ और भापा की शिथिलता उन्हें असह्य थी। हिंदी साहित्य के इतिहासकार रामचद्र शुक्ल जी उनके विपय में लिखते है —

' इसलिए हमारा हिंदी साहित्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भापा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के सपादक के रूप मे उन्होने आई हुई पुस्तको के भीतर व्याकरण और भापा की अशुद्धि दिखा-दिखा कर लेखको को वहुत कुछ सावधान कर दिया।"

शुक्ल जी के उक्त कथन से वँगला साहित्य में 'वगदर्शन' के सपादक की वात याद आती है। नए लेखक मडल के उदयकाल मे वँगला भापा को साहित्यिक भापा के रूप में गढते समय इसी प्रकार उन्हें भी सूक्ष्म रूप से देखने का श्रेय स्वीकार करना पडा था।

जिस प्रकार वँगला साहित्य को साहित्यिक मर्यादा प्रदान करने में ईश्वर गुप्त और वकिम चद्र की देन को भुलाया नही जा सकता इसी प्रकार हिंदी को साहित्यिक भापा के रूप मे प्रस्तुत करने में द्विवेदी जी की देन भी अविस्मरणीय है। उनकी यह देन सार्थक है क्योकि उन्ही के सतत परिश्रम से हिंदी की सभावनाएँ आज वहुत वढ गई है। उनके द्वारा दीक्षित साहित्य स्रष्टाओ की प्रभा से हिंदी आज प्रभामय है और सर्वोपरि वात यह है कि हिंदी आज राष्ट्रभापा पद पर आसीन है।

द्विवेदी जी मे मौलिक साहित्य सृजन की विशेप प्रतिभा नही थी किंतु उनमे भाषा सृष्टि की दुर्लभ निपुणता थी। इसी निपुणता के कारण वे अमर और चिरस्मरणीय रहेंगे, जिस प्रकार वँगला साहित्य में ईश्वर गुप्त और सपादक वकिमचद्र अमर है।
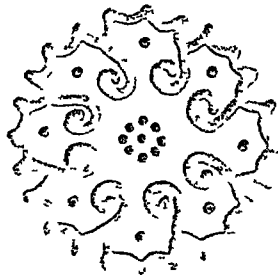
द्विवेदी जी द्वारा विभिन्न साहित्य मर्मज्ञो को लिखे गये पत्रो का भी अपना महत्व है। उनका भाषा परिष्कारक तथा संपादक का रूप इनमें भी परिलक्षित होता है। यहां पर डॉ० रघुवीर सिंह के नाम लिखे द्विवेदी जी के दो पत्र दिए जा रहे है।

दौलतपुर (रायबरेली)
१२-११-३२

शुभाशिषः सन्तु

१० नवम्बर की चिट्ठी मिली।

धन्यवाद उसका।

बहुत अच्छी बात है आप प्राचीन स्थानों पर लेख लिखिए, फिर उन्हें पुस्तकरूप में प्रकाशित करके, मेरी इन बातों का स्मरण करा दीजिए।

एक काम और कीजिए। किसी तरह थोड़ी सी संस्कृत सीख लीजिए। उससे आपको शब्द शुद्ध का ज्ञान हो जायगा। फिर आप [illegible] को [illegible] और रघुवीर को रघुबीर न लिखेंगे।

[illegible]

शुभाकांक्षी
म० प्र० द्विवेदी

भाषा और व्याकरण

महावीरप्रसाद द्विवेदी

बहुत समय से हिंदी भापा लिखी जाती है। पर उसका एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नही वना। फल इसका यह हुआ हे कि पचास वर्प की पुरानी भाषा आज-कल की भापा से नही मिलती। यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी एक ही वाक्य को एक लेखक एक तरह लिखता है, दूसरा दूसरी तरह, तीसरा तीसरी तरह। एक अखवार की भापा दूसरे की भापा से नही मिलती और दूसरे की तीसरे की भापा से। इससे क्या हुआ है कि भापा को अनस्थिरता प्राप्त हो गई है। और वहुत सभव है कि यदि यही दशा वनी रही तो आज से सौ वर्प वाद के लोग आज-कल की भापा के वहुत-मे वाक्यो को न समझ सकें।

लिखने और वोलने की भापा में कुछ भेद होता ही है। लिखने की भापा थोडी-वहुत अस्वाभाविक होती है और लेखक के प्रयत्न और परिश्रम से सिद्ध होती है। पर वोलने की भापा स्वाभाविक होती है। उसके प्रकाशन मे किसी तरह की चेष्टा नही दरकार होती। लिखने की भापा अधिक दिनो तक एक रूप मे रहती है। वोलने की भापा मे वहुत शीघ्र-शीघ्र फेर-फार होते रहते हैं। इसलिए कथित भापा चिरकाल तक एक रूप में नही रहती। पर है दोनो प्रकार की भापाएँ नश्वर—नाशवान। यह नही कि वे हमेशा एक ही सी वनी रहे।

मनुष्य और पशु-पक्षी आदि प्राणियो की तो कोई वात ही नही स्वय यह ससार ही नश्वर है। उसमे दिन-रात परिवर्तन हुआ करता है। जो चीज आज हे वह कल नही, जो कल है वह परसो नही। पर इस नश्वरता से क्या किसी को कोई तकलीफ होती है ? नहीं, समय के अनुसार मनुष्य की इच्छा और अपेक्षा मे भी अतर होता जाता है। इससे उसे सासारिक परिवर्तन नही खलते। भापा का भी यही हाल है। जो भाषा सौ वर्ष पहले थी वह अव नही है। जो अव है वह आगे न रहेगी। देश, काल और मनुष्य की स्थिति के अनुसार उसमे रद्दोवदल हुआ ही करता हे वरावर हुआ करेगा। उसे कोई रोक नही सकना। परिवर्तन होना ईश्वरी नियम है। उसकी प्रतिवधकता कौन कर सकेगा ? परतु भापा की नश्वरता और परिवर्तनशीलता से मनुष्य की कोई हानि नही। जो भाषा जिस समय होती है उसी मे वह अपने मनोभाव प्रकट करता है। आज की और आज से दो सौ वर्ष आगे की भापा में जितना भेद हो जाएगा उतना ही भेद मनुष्यो मे भी हो जाएगा। अतएव सहज मे, उनको भापा का भेद ही न मालूम होगा। मालूम होगा तव जव वे अतीत और वर्तमान भापाओ का परस्पर मुकावला करेंगे। जैसे-जैसे मनुष्य की स्थिति मे परिवर्तन होता है वैसे-ही-वैसे भापा मे भी परिवर्तन होता है। भापा मनुष्य की सहचारिणी है। यदि मनुष्य अपनी स्थिति मे परिवर्तन होना रोक दे तो भापा मे परिवर्तन होना आप ही रुक जाए। पर यह वात मनुष्य के वश की नही।

ভাষা আৰু ব্যাকৰণ

শ্ৰীমহাবীৰ প্ৰসাদ দ্বিবেদী

শ্ৰীনৱাৰুণ বৰ্মা

হিন্দী ভাষা বহুদিনৰ পৰাই লিখিত ৰূপত চলি আহিছে যদিও, আজিলৈকে ইয়াৰ সৰ্বজন-স্বীকৃত ব্যাকৰণ ৰচিত হোৱা নাই। ফলতঃ যোৱা পঞ্চাশ বছৰৰ পূৰণি ভাষাৰ লগত বৰ্ত্তমান প্ৰচলিত ভাষাৰ সামঞ্জস্য নাই কিয়া যেন হৈ পৰিছে। আনকি, বৰ্ত্তমান সময়তো এটা বাক্য এজনে যিদৰে লিখে, আনজনে সেইটো বেলেগ ধৰণে আৰু তৃতীয় জনে আকৌ অইন প্ৰকাৰে লিখে। এখন বাতৰি কাকতৰ ভাষাও আনখনৰ ভাষাৰ লগত নিমিলে। দ্বিতীয় খনৰ লগত তৃতীয় বাতৰি কাকতৰ ভাষাৰো তেনেই প্ৰভেদ দেখা যায়। ফলতে ভাষাৰ স্বৰূপ বৰ অনিশ্চিত হৈ পৰিছে। আৰু এনে অৱস্থা বেছিদিন ধৰি চলি থাকিলে আজিৰ পৰা এশ বছৰ পিছত মানুহে বৰ্ত্তমান প্ৰচলিত ভাষাৰ বহুতো বাক্যৰ অৰ্থও বুজিবলৈ টান যে পাব, ই নিশ্চিত।

লিখিত আৰু কথিত ভাষাৰ মাজত অলপ ওচৰপ প্ৰভেদ সদায় থাকে। লিখিত ভাষা কিছু পৰিমাণে কৃত্ৰিম হোৱা কাৰণে তাক আয়ত্ত কৰিবলৈ যত্ন কৰিব লগা হয়। কিন্তু কথিত ভাষা স্বাভাৱিক, গতিকে তাক প্ৰকাশ কৰিবলৈ বিশেষ পৰিশ্ৰমৰ প্ৰয়োজন নহয়। লিখিত ভাষাৰ ৰূপ বহুকাল যাবৎ অপৰিবৰ্ত্তিত থাকে কিন্তু কথিত ভাষা সঘনে সলনি হয়। সেই হেতু কথিত ভাষাৰ স্বৰূপ চিৰস্থায়ী নহয়। বস্তুতঃ এই দুয়োবিধ ভাষাই নশ্বৰ—নাশবান, কেতিয়াও সদায় একেদৰে থাকিব নোৱাৰে।

মানুহ আৰু পশুপক্ষী আদি প্ৰাণীবোৰৰ কথাই নহয় আনকি, এই সংসাৰখনো নশ্বৰ। দিনে ৰাতিয়ে ইয়াৰ পৰিবৰ্ত্তন হৈয়ে আছে। যিবস্তু আজি আছে সি কালি নাই, যি কালি হব সি পৰহি নে থাকিব। কিন্তু সংসাৰৰ এই নশ্বৰতাৰ বাবে কোনোবাই দুখ অনুভৱ কৰেনে? নকৰে। কিয়নো কাল অনুসাৰে মানুহৰ ইচ্ছা আৰু ভাৱধাৰাৰো ৰূপান্তৰ হয়। গতিকে জগতৰ পৰিবৰ্ত্তনত মানুহে অসুবিধা-বোধ নকৰে। ভাষাৰো প্ৰকৃতি ঠিক এনে ধৰণৰে। এশ বছৰ আগতে যি ভাষা প্ৰচলিত আছিল, আজিকালি সি লোপ পাইছে। আজি যি ভাষা প্ৰচলিত হৈ আছে, ভৱিষ্যতে সিও নাথাকিব। দেশ, কাল আৰু মানুহৰ স্থিতি অনুসাৰে তাৰ সাল-সলনি হৈয়ে থাকে আৰু হৈয়ে থাকিব। ইয়াক কোনেও বাধা দিব নোৱাৰে। পৰিবৰ্ত্তন ঐশ্বৰিক নিয়ম। তাক প্ৰতিৰোধ কৰিব পৰা শক্তি কোনোবাৰ আছে জানো

কিন্তু ভাষাৰ এই নশ্বৰতা আৰু পৰিবৰ্ত্তনশীলতাই মানুহৰ একো অনিষ্ট নকৰে। যি সময়ত যি ভাষা প্ৰচলিত থাকে মানুহে সেই ভাষাৰ সহায়ত নিজৰ মনোভাৱ প্ৰকাশ কৰে। আজিৰ আৰু আজিৰ পৰা অহা দুশ বছৰ পিছৰ ভাষাৰ মাজত পাৰ্থক্য যিমান থাকিব, এই কালছোৱাৰ মানুহৰ ভাৱতো সেই অনুপাতে পৰিবৰ্ত্তন আহিবে পৰিব। গতিকে কেও লোকে ভাষাৰ পাৰ্থক্যটো ধৰিবই নোৱাৰিব। অতীতৰ আৰু বৰ্ত্তমানৰ ভাষাৰ লগত যেতিয়া তেওঁলোকে তুলনা কৰিব, তেতিয়াহে ভাষা ভেদ অনুভৱ কৰিব পাৰিব। মানুহৰ স্থিতি অনুসাৰে ভাষাৰ স্বৰূপৰো পৰিবৰ্ত্তন হয়। ভাষা মানুহ সহচৰী। মানুহে নিজৰ স্থিতিৰ পৰিবৰ্ত্তন কৰিব পাৰিলেহে ভাষা—পৰিবৰ্ত্তনৰ গতি নিজে নিজে বন্ধ হৈ পৰিব। কিন্তু এনে কৰিব পৰাটো মানুহৰ সাধ্যৰ অতীত।

ଭାଷା ଓ ବ୍ୟାକରଣ

ଶ୍ରୀ ମହାବୀର ପ୍ରସାଦ ଦ୍ୱିବେଦୀ

(ଅନୁବାଦ : ଶ୍ରୀ ରଜନୀକାନ୍ତ ଦାସ)

ହିନ୍ଦୀ ଏକ ପୁରାତନ ଭାଷା । କିନ୍ତୁ ଏ ପର୍ଯ୍ୟନ୍ତ ସେହି ଭାଷାରେ ଖଣ୍ଡିଏ ସୁଦ୍ଧା ପ୍ରାମାଣିକ ବ୍ୟାକରଣ ତିଆରି ହୋଇପାରିନାହିଁ । ଫଳତଃ ପଚାଶ ବର୍ଷ ତଳେ ଲେଖାଯାଇଥିବା ଭାଷାକୁ ଆଜିକାଲିର ଲେଖାଲେଖି ସଙ୍ଗେ ମିଳାଇ ଦେଖିଲେ ଫରକ ଜଣାପଡୁଛି । ଖାଲି ସେତିକି ନୁହେଁ, ଆଧୁନିକ ଯୁଗର ରଚନାବଳୀରେ ବି ଗୋଟିଏ ବାକ୍ୟକୁ ଜଣେ ଲେଖକ ଏକପ୍ରକାର ଲେଖୁଛି ତ ଆଉ ଜଣେ ଭିନ୍ନ ପ୍ରକାର ଲେଖିଦେଉଛି । ଗୋଟିଏ ଖବରକାଗଜର ଭାଷା ଆଉ ଗୋଟିକ ସହିତ ମେଳ ଖାଉନାହିଁ । ଫଳରେ ହିନ୍ଦୀ ଭାଷାରେ ଅସ୍ଥିରତା ଘୋଟିଯାଉଛି । ଅବସ୍ଥା ଯଦି ଏହିପରି ଲାଗିରହେ ତାହାହେଲେ ଶହେ ବର୍ଷ ପରେ ଲୋକେ ହୁଏତ ଆଜିର ଲେଖାରୁ ବହୁତ ବାକ୍ୟାଂଶ ବୁଝି ସୁଦ୍ଧା ପାରିବେ ନାହିଁ ।

ଲିଖିତ ଭାଷା ଏବଂ କଥିତ ଭାଷା ମଧ୍ୟରେ ପ୍ରଭେଦ ଜରୁର ରହିବ । ଲିଖିତ ଭାଷାରେ ଉଣାଅଧିକେ ଅସ୍ୱାଭାବିକତା ଦୋଷ ରହିଥାଏ । ଲେଖକର ସାଧନା ଏବଂ ପରିଶ୍ରମ ବଳରେ ଲିଖିତ ଭାଷା ପରିମାର୍ଜିତ ହୁଏ । କିନ୍ତୁ କଥିତ ଭାଷା ସ୍ୱତଃ ସ୍ୱାଭାବିକ ଅଟେ । ତାକୁ ପ୍ରକାଶ କରିବା ଲାଗି କୌଣସି ଚେଷ୍ଟା ଦରକାର ପଡେ ନାହିଁ । ଲିଖିତ ଭାଷା ବହୁଦିନ ପର୍ଯ୍ୟନ୍ତ ଅବିକୃତ ରହିପାରେ । କିନ୍ତୁ କଥିତ ଭାଷା ଶୀଘ୍ର ଶୀଘ୍ର ବଦଳି ଯାଉଥାଏ । ସେହିହେତୁ କଥିତ ଭାଷା ସବୁଦିନେ ଏକାଭଳି ଦେଖିବାକୁ ମିଳି ପାରିବ ନାହିଁ । କିନ୍ତୁ ତଥାପି ଏ ଦୁଇପ୍ରକାର ଭାଷା ଭିତରୁ କେହି ହେଲେ ଚିରନ୍ତନ ନୁହନ୍ତି, କେହି ସବୁବେଳେ ଏକାଭଳି ରହିବେ ଏହା କଦାପି ସମ୍ଭବ ନୁହେଁ ।

ମନୁଷ୍ୟ ଓ ପଶୁପକ୍ଷୀ ଆଦି ପ୍ରାଣୀଗଣଙ୍କ କାହିଁକି, ଏ ସଂସାରଟା ନିଜେ ବି ନଶ୍ୱର । ଏଥିରେ ଦିନକୁଟି

ପରିବର୍ତ୍ତନ ଚାଲିଛି । ଯାହା ଆଜି ଅଛି ତା' କାଲିକି ବଦଳିଯିବ । ଯାହା କାଲିଥିବ ତା' ପରଦିନକୁ ରହି ନ ପାରେ । କିନ୍ତୁ ଏହି ନଶ୍ୱରତା ଲାଗି କାହାର କିଛି ଦୁଃଖ ଅଛି କି ? ନା କଦାପି ନୁହେଁ । ସମୟ ସାଥିରେ ମନୁଷ୍ୟର ରୁଚି ଓ ଅଭିଳାଷ ମଧ୍ୟ ବଦଳି ଯାଉଛି । ସେହି ହେତୁ ସାଂପ୍ରତୀକ ପରିବର୍ତ୍ତନ କାହାରିକୁ ବାଧୁ ନାହିଁ । ଭାଷାର ମଧ୍ୟ ଅବସ୍ଥା ସେହିଆ । ଯେଉଁ ଭାଷା ଶତରୁ ବର୍ଷ ତଳେ ଚାଲୁଥିଲା, ତାହା ଆଜି ନାହିଁ । ଯାହା ଆଜି ଚାଲୁଛି ତାହା ଭବିଷ୍ୟତରେ ରହିବ ନାହିଁ । ଦେଶ, କାଳ ଏବଂ ମାନବ ସ୍ଥିତି ଅନୁସାରେ ଭାଷାରେ ପରିବର୍ତ୍ତନ ସାଧିତ ହେଉଛି ଏବଂ ତାହା ମଧ୍ୟ ବରାବର ଚାଲିବ । କେହି ତାର ପ୍ରତିରୋଧ କରିପାରେ ନା । ପରିବର୍ତ୍ତନ ଈଶ୍ୱରଙ୍କ ନିୟମ । ତାକୁ କିଏ ପ୍ରତିରୋଧ କରିବ ? ତଥାପି ଭାଷାର ନଶ୍ୱରତା ଓ ପରିବର୍ତ୍ତନଶୀଳତାରେ ମନୁଷ୍ୟ ସଭ୍ୟତାର କିଛି କ୍ଷତି ହୁଏ ନାହିଁ । ଯେତେବେଳେ ଯେଉଁ ଭାଷା ଚାଲୁଥାଏ ମନୁଷ୍ୟ ସେଥିରେ ଆପଣାର ମନୋଭାବ ବ୍ୟକ୍ତ କରି ଚାଲେ । ଆଜିର ଭାଷା ସାଥିରେ ଆଜି ଠାରୁ ଦୁଇଶହ ବର୍ଷ ଆଗ ଭାଷାର ଯେତିକି ପ୍ରଭେଦ ଦେଖାଦେବ ସେତିକି ପ୍ରଭେଦ ମଧ୍ୟ ମନୁଷ୍ୟ ସମାଜରେ ସେତେବେଳକୁ ଆସି ଯାଇ ସାରିଥିବ ।

ସେଇଥିପାଇଁ କେହି ହେଲେ ଭାଷାଗତ ପ୍ରଭେଦଟା [illegible] କରିପାରିବେ ନାହିଁ । ସେମାନେ ପ୍ରଭେଦଟା ପୁରାତନ ଭାଷା ସହିତ ସାଂପ୍ରତିକ ଭାଷାର ତୁଳନା କଲେ ଯାଇ ବୁଝିପାରିବେ । ମନୁଷ୍ୟର ସ୍ଥିତିରେ ପରିବର୍ତ୍ତନ ହେବା ସଂଗେ ସଂଗେ ଭାଷାରେ ମଧ୍ୟ ପରିବର୍ତ୍ତନ ଆସିଯାଏ । ଭାଷା ମନୁଷ୍ୟର ସହଚାରିଣୀ । ଯଦି ମନୁଷ୍ୟ ନିଜ ଅବସ୍ଥାର ପରିବର୍ତ୍ତନକୁ ବାଧା ଦେବାରେ ସଫଳ ହୁଏ ତାହାହେଲେ ଭାଷାଗତ ପରିବର୍ତ୍ତନ ଆପେ ଆପେ ବନ୍ଦ ହୋଇଯିବ । କିନ୍ତୁ ଏହା ମନୁଷ୍ୟ ଶକ୍ତିର ବାହାର କଥା ।

زبان اور گرامر

مہاویر پرشاد دویدی

ترجمہ۔ سُریندر پرکاش

کافی عرصہ سے ہندی زبان لکھی جاتی ہے۔ مگر اس کا ایک بھی مُستند گرامر ابھی تک نہیں بنا، جس کے نتیجے کے طور پر پچاس برس پہلے کی زبان آج کی زبان سے نہیں ملتی۔ یہاں تک کہ موجودہ دَور میں بھی ایک ہی جملے کو ایک لکھنے والا ایک طرح لکھتا ہے، دُوسرا دُوسری طرح اور تیسرا تیسری طرح۔ ایک اخبار کی زبان دُوسرے کی زبان سے نہیں ملتی اور دُوسرے کی تیسرے سے نہیں ملتی۔ اِس سے کیا ہُوا ہے کہ زبان کی حیثیت ناپائیدار ہو گئی ہے اور بہت ممکن ہے کہ اگر یہی حالت رہی تو آج سے سَو سال بعد کے لوگ آجکل کی زبان کے بہت سے جُملوں کو نہ سمجھ سکیں گے۔

لکھنے اور بولنے کی زبان میں کچھ فرق تو ہوتا ہی ہے۔ لکھنے کی زبان تھوڑی بہت غیر قُدرتی ہوتی ہے اور لکھنے والے کی کوشش اور ریاض کا ماحصل ہوتا ہے۔ مگر بولنے والے کی زبان قُدرتی ہے۔ اُس کی اِشاعت میں کسی قسم کی مشکل درپیش نہیں۔ لکھنے کی زبان کافی عرصہ تک ایک ہی صُورت میں رہتی ہے۔ بولنے کی زبان میں جلدی جلدی رَدّوبدل ہوتے رہتے ہیں۔ اِس لئے بولنے کی زبان بہت مُدّت تک ایک ہی ہیئت میں نہیں رہتا۔ مگر زبان ہے دونوں صُورتوں میں ۔ ۔ ۔ فانی۔ یہ نہیں کہ وہ ہمیشہ ایک ہی صُورت میں رہے۔

اِنسان اور چرندوں، پرندوں وغیرہ جانداروں کی تو کوئی بات ہی نہیں ہے۔ یہ جہان بذاتِ خُود فانی ہے۔ اس میں دن رات تبدیلیاں ہوتی رہتی ہیں۔ جو چیز آج ہے، وہ کل نہیں ہے۔ جو کل ہے، وہ پرسوں نہیں۔ مگر اِس مٹنے کے عمل سے کیا کسی کو کوئی تکلیف ہوتی ہے؟ نہیں! وقت کے ساتھ ساتھ اِنسان کی خواہش اور ضرُورت میں بھی فرق آتا رہتا ہے۔ اِس لئے اُسے دُنیا کے ردّوبدل کھلتے نہیں ہیں۔ زبان کا بھی یہی حال ہے۔ جو زبان سَو سال پہلے تھی، وہ اب نہیں ہے جو اب ہے، وہ مُستقبل میں نہیں ہو گی۔ مُلک، وقت اور آدمی کی حالت کے مطابق اُس میں ردّوبدل ہوا ہی کرتا ہے اور برابر ہوتا رہے گا۔ اُسے کوئی روک نہیں سکتا۔ بدلتے رہنا ایک قُدرتی عمل ہے۔ اِس میں کون رُکاوٹ ڈال سکتا ہے؟

مگر زبان کی ناپائیدار حالت اور تبدیلی سے اِنسان کو نقصان نہیں پہنچتا۔ جو زبان جس دَور میں ہوتی ہے اُسی میں وہ اپنے احساسات کا اظہار کرتا ہے۔ آج کی اور آج سے دو سَو برس بعد کی زبان میں جتنا فاصلہ پیدا ہو جائے گا، اُتنا ہی فرق آدمی میں بھی پیدا ہو جائے گا۔ لہٰذا آسانی سے انھیں زبان کا فرق ہی محسوس نہ ہو گا۔ محسوس تو تب ہو گا نا جب وہ ماضی کی اور موجودہ زبان کا تقابل کرے گا۔ جیسے جیسے آدمی کے حالات میں تبدیلیاں رُونما ہوتی ہیں، ویسے ہی زبان میں بھی تبدیلی آجاتی ہے۔ زبان آدمی کی ذہنیت ہے۔ اگر آدمی اپنے ماحول کا بدلنا روک دے تو زبان میں تبدیلی واقع ہونا خود بخود ہی بند ہو جائے گی مگر یہ بات آدمی کے بس کی نہیں۔

भाषा (जबान) ते ग्रामर

मूल लेखक : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी

कोशुर रूप : मखनलाल बेकस

वारयाह् काले प्यठि छे हिंदी ज़बान लेखने इवान । मगर वुन्युखताम छु न अम्युक अखे ते त्युथ व्याकरण (ग्रामर) वन्योमुत युस अवसर लूकन कबूल आसिहे । नतीजे अम्युक द्राव यि जि अज ब्रुह 50 वरीह् युसि जवान ओस सु छेने अज़कले चि जवोन सेति रलान । हताकि अजकल छु अकोई जुमले अखे लिखारि अकि तरीके, बयाख व्यचि तरीके ते त्रेयुम बदले तरीके लेखान । अकि अखवारेच् जवान छे ने दोयमिस अखवार सेत, ते दोयमिच् छेने त्रेयमिस सेत रलान । अमि सत्य सपुद ये जि जवान मज सपुद इस्तेह्काम ते पायदारी खत्म। स्यठाह् मुमकिन छु जि अगर यछी। हालत रुज अज पते लगभग हति शीति वेहेर मा समझनीय ने लूख अेजचि ज़बोनि हेदि वारयाह् जुमले ।

लेखनेचि जबोनि ते बोलनचि ज़बोनि मेज छे केंह् फर्क आसानेय । युसे जवान लेखनस मज़ इस्तेमाल छे इस्तेमाल छे सपदान तथ मज छे कम कासे बनावट आसान, ते तथ मज़ छै लिखारि सेंज़ मेह्नत ते कूशिश शामिल आसान । मगर युसे जवान बोलनस मज इस्तेमाल छे सपदान तथ मज ने बनावट आसान। तमिकिस इजहारस मज छेने कुनि के समच मेह्नत ते कूशिश वकार । लेखनेच जवान छे वारयाहस कालस अक़सीय सूरतस मज़ रोजान, मगर, बोलनेचि जबाने मेज छु स्यठाह जल-जल हेर-फेर सपदान रोज़ान । लेहाजा छेने बोलनेच ज़वान वारयाहसू कालेस अकसीय शाकलि मज रोजान । मगर छे द्वशवै ज़वाने मिठान—ते फानी। यह छेने हकीकत जि तिमि क्याह् छे तिछै रोज़ाना, यिछे आसे ।

इसान ते जानावारन् क्यहो हैवान्न हजे छेने कथीय, पाने यह दुनियहीय छु फानी । यति छे प्रथ गरि प्रथ लहज तब्दीली सपदान रोजान । यि चीज़ अज वुछौ पगाह् वुछौ ने सु, ते यि पगाह् आसि कोलि-क्यथे ताम आसि ने सु रूदमुत । मगर दुनयाहचि अमि फनाई सेति छा कासि कहाँ तकलीफ सपदान ? ने, बल्कि वखतस मुतोबिक छे इन्साने सेंज पसन्द ने नापसद ति बदलान रोज़ान, तथ मज ति छे फर्क इवान । तवे किन छनि तमिस दुनियावी तब्दीलिये ग्ववान । युहै छु जबोन्य हुन्द ति हाल । यसे जवान अज़ हथ वरीह् ब्रोह् ओस स्व छने अज, ते युसे जवान अज़ छे स्व रोजि ने ब्रोह् कुन । दीश, काल ते इन्साने सेन्ज़ि हालेच मुत्ताबिक छु अथे मज रद्दोवदल सपदान ते ब्रुह कुने ति रोजि तब्दीली सपदान । तब्दीली छे क्वदरतुक अख असूल । अथ कुस ह्यकि रुकाविथ ? मगर जबान हुँन्दि फ़ानी आसने सोत ते अथ मज़ तब्दीली सपदने सोत छुने इनसानस काँह् नुकसान । य्वसे जवान यमि विज़ि मरवज आसि, इन-सान छु तेथि जवानि मंज पननि मनेकि जजबात् जाहिर करान । अज ते अेज़कि वुहकुन ज़े(2) हथ वरीहचि जबोनि मेज़ यीचाह् फरख यियि, तीचीय यियि इनसानन् मज़ ति फरख । लेहजा सपदिनि आसानी-सान तिमन जवानि हज फरवरी मोलूमे । मोलूम सपदचरव त्यलि यलि तिम पचकालिचि ते मूजूदह जवोनि हुन्द पानिवेन मुकावले करन् । यूत यूत इन्साने सेंज़ि हालेच मज़ तब्दीली मज यिवान छे, त्युयी छे ज़बनोनि मज ति तब्दीली सपदान । जवान छै इन्सानस सति सति रोजान । अगर इन्सान बननि हालच मज़ तब्दीली सपदन रुकावि, तय सूरतस मज सपदि जबान मज तब्दीली गच्छन पानै बन्द । मगर ये कथ छने इन्सानस पानस ताम ।

ભાષા અને વ્યાકરણ

મૂળ લેખક મહાવીરપ્રસાદ દ્વિવેદી

ગુજરાતી અનુવાદ -મનહર ચૌહાણ

હિંદી ભાષા ઘણા લાબા સમયથી લખાઇ રહી છે, છતા એનુ સર્વમાન્ય વ્યાકરણ હજુ બની શકયુ નથી પરિણામ એ આવ્યુ છે કે પચાસ વરસ જુની ભાષા અને આજની ભાષામા મોટુ અતર છે બલ્કે એટલે સુધી જોવા મળે છે કે વર્તમાન કાળમાજ એક વાકય એક લેખક એક રીતે લખે, બીજો લેખક બીજી રીતે અને ત્રીજો ત્રીજી રીતે લખે એક છાપાની ભાષા બીજા છાપાની ભાષા કરતા જુદી લાગે અને બીજાની ભાષા ત્રીજાથી જુદી તરી આવે પરિણામ એ આવ્યુ છે કે ભાષાને અસ્થિરતા મળી છે આગળ એમ પણ બની શકે કે સો વરસ બાદના લોક આજની ભાષાના ઘણા વાકયો સમજી જ ન શકે

લખવા અને બોલવાની ભાષામા થોડો ફેર તો હોયજ લખવાની ભાષામા જરા અસ્વાભાવિકતા ચોકકસ દેખાય, કેમ કે લેખક એને પોતાના પ્રયત્ન અને પરિશ્રમ વડે સિદ્ધ કરે છે પણ બોલચાલની ભાષામા સ્વાભાવિકતા હોય એના પ્રકાશનમા કોઇ આયાસ જરૂરી નથી હોતો લખવાની ભાષા લાબા ગાળા સુધી એકજ સ્વરૂપમા રહે છે, જયારે બોલચાલની ભાષામા અવારનવાર ફેરફાર થાય છે એથી એ ભાષા લાબા ગાળા સુધી એક સ્વરૂપમા ન રહી શકે પણ એટલુ ચોકકસ કે બન્ને ભાષાઓ નાશવાન છે તેઓ હમેશા એક જેવી ન રહી શકે

મનુષ્ય અને પશુ-પક્ષી વગેરે પ્રાણીઓની વાત જવા દઇએ, આ સસાર પોતેજ નાશવાન છે એમા ચોવીસે કલાક અહર્નિશ પરિવર્તન ચાલ્યા કરે છે જે વસ્તુ આજ છે એ કાલ નહિ હોય અને જે કાલ હશે એ કાલ બાદ નહિ હોય પણ આ નશ્વરતાના કારણે કદીય કોઈ પીડાતુ હોય, એમ નથી લાગતુ સમય મુજબ મનુષ્યની ઇચ્છાઓ અને અપેક્ષાઓમા પણ ફેર પડે છે, જેથી સાસારિક પરિવર્તનો પ્રત્યે મનુષ્ય કોઈ વાધો ઉઠાવતો નથી એજ સ્થિતિ ભાષાની છે જે ભાષા સો વરસ પહેલા હતી એ આજ નથી અને જે આજ છે એ કાલ નહિ હોય દેશ, સમય અને મનુષ્યની સ્થિતિ મુજબ એમા ફેરફાર થયા કરે છે અને થતા રહેશે એને કોઇ ન રોકી શકે પરિવર્તન એ એક ઇશ્વરીય નિયમ છે એના પર ભલા કોણ અકુશ રાખી શકે ? પણ, ભાષાની નશ્વરતા અને પરિવર્તનશીલતાના કારણે મનુષ્યને કઇ નુકસાન નથી થતુ મનુષ્ય પોતાના સમયની જે પણ ભાષા હોય, એમા પોતાના મનોભાવ પ્રકટ કરી લે છે આજની તથા બસો વરસ બાદની ભાષામા જે ભેદ હશે, ત્યારના મનુષ્યોમા પણ એટલો ભેદ આવી ગયો હશે એથીજ તેમને એ ભેદનો અનુભવ એકાએક નહિ થાય તેઓ અતીત અને વર્તમાનની ભાષાઓની પારસ્પરિક તુલના કરશે, ત્યારેજ એ ભેદની સમજણ પડશે મનુષ્યની સ્થિતિમા પરિવર્તન થતુ જાય, તેમ-તેમ એની ભાષામા પણ પરિવર્તન થાય ભાષા એ તો મનુષ્યની સહચારિણી જો સ્વય મનુષ્યની સ્થિતિના પરિવર્તન અટકાવી શકાય તો ભાષાના પરિવર્તન તો આપોઆપ અટકી પડે; પણ એ વાત મનુષ્યના વશની નથી

மொழியும் இலக்கணமும்

மஹாவீர் பிரஸாத் த்விவேதி

மொழிபெயர்ப்பு—லலிதா ராமகிருஷ்ணன்

நீண்ட காலமாக ஹிந்தி மொழி எழுதப்பட்டு வருகிறது. ஆனால் எல்லோரும் ஒப்புக் கொள்ளும் இலக்கணம் இதுவரையில் இம்மொழியில் உண்டாகவில்லை. இதன் விளைவென்ன வென்றால் ஐம்பது ஆண்டுகளுக்கு முன் இருந்த மொழியும் தற்கால மொழியும் மாறுபட்டுக் காணப்படுகின்றன. ஏன், தற்பொழுதுகூட ஒரே வாக்கியத்தை வெவ்வேறு எழுத்தாளர் வெவ்வேறு விதமாக எழுதுகிறார்கள். ஒரு பத்திரிகையின் மொழி மற்றொரு பத்திரிகையின் மொழியைப் போல இருப்பதில்லை. இதன் பயனாக இம்மொழி நிலைகுலைந்ததாக ஆகிவிட்டது. இந்நிலையே தொடர்ந்து கொண்டிருந்தால் இன்றையிலிருந்து நூறு ஆண்டுகளுக்குப் பின்னர் மக்கள் தற்காலத்திலுள்ள மொழியின் அநேக வாக்கியங்களை புரிந்து கொள்ள முடியாத நிலைமை நேரிடலாம்.

பேச்சு மொழியிலும், எழுத்து மொழியிலும் சிறிது வேற்றுமை ஏற்படத்தான் செய்கிறது. எழுதும் மொழி இயற்கையாக அமைவதில்லை. எழுத்தாளரின் முயற்சியினாலும், உழைப்பினாலும் அமைகிறது. ஆனால் பேசும் மொழியோ இயற்கையாகவே அமைந்துள்ளது. இதை வெளியிடுவதில் ஒரு விதமான முயற்சியும் தேவைப்படுவதில்லை. எழுதும் மொழி வெகுகாலம்வரை ஒரே அமைப்பைப் பெற்றுள்ளது. பேசும் மொழி விரைவில் மாறுதல் அடைகிறது. ஆகையால் அது அதிக காலம் வரை ஒரே விதமாக வேற்றுமையின்றி இருப்பதில்லை. ஆனால் இரண்டு விதமான மொழிகளும் நிரந்தரமாக இருப்பவையல்ல. அவை அழிவனவே, எப்பொழுதும் ஒரே மாதிரியாக அமைந்திருப்பவையல்ல.

விலங்குகள், பறவைகள் மனிதர்கள் மட்டுமல்ல, இந்த உலகமும் அழிவுள்ளது. அதில் இரவும் பகலும் மாறுதல் ஏற்பட்டுக் கொண்டேயிருக்கிறது. இன்று இருக்கும் பொருள் நாளை இருப்பதில்லை, நாளை இருப்பது அடுத்த நாள் நிலைப்பதில்லை. ஆனால் இம்மாறுதலினால் பிறருக்கு ஏதாவது துன்பம் உண்டாகிறதா? அதுதான் இல்லை. காலத்துக்கு ஏற்றவாறு மனிதன் விருப்பங்களும் தேவைகளும் மாறுகின்றன. ஆதலால் வாழ்க்கையில் ஏற்படும் மாறுதல்கள் மனிதனுக்கு பிடிக்காமலிருப்பதில்லை. மொழியின் நிலைமையும் இதுவேதான். நூறு ஆண்டுகளுக்கு முன் எந்த மொழி இருந்ததோ, அது இப்பொழுது இல்லை. இப்பொழுது இருக்கும் மொழி வருங்காலத்தில் இராது. நாடு, காலம், மனிதன் நிலை இவைகளுக்குத் தக்கவாறு மொழியிலும் மாறுதல் உண்டாகத்தான் செய்கிறது. இம்மாறுதல் தொடர்ந்து கொண்டேயிருக்கும். அதை ஒருவராலும் தடுக்க முடியாது. மாறுதல் என்பது கடவுளால் ஏற்படுத்தப்பட்டது. அதைத் தடுக்க யாரால் முடியும்? ஆனால் மொழியின் அழிவுத் தன்மையினாலும் மாறுதலடையக்கூடிய குணத்தினாலும், மனிதனுக்கு ஒரு விதமான கெடுதலும் உண்டாவதில்லை. எந்தக் காலத்தில் எந்த மொழி இருக்கிறதோ அதன் மூலமாகவே மனிதன் தன் கருத்துக்களை வெளியிடுகின்றான். இன்றைய மொழியிலும், இன்றையிலிருந்து இருநூறு வருடங்களுக்குப் பின்னர் உள்ள மொழியிலும் எவ்விதமான வேற்றுமைகள் ஏற்படுமோ அவ்விதமே வேற்றுமைகள் மனிதரிலும் ஏற்படும். ஆகையால் மொழியில் ஏற்படும் மாறுதல் எளிதில் தெரியவே தெரியாது. முற்கால மொழியையும் தற்கால மொழியையும் ஒன்றோடொன்று ஒப்பிட்டுப் பார்த்தால்தான் இவ்வித வேற்றுமைகள் தெரியும். மனிதனின் நிலைமையில் மாறுதல் உண்டாவது போல மொழியிலும் மாறுதல் ஏற்பட்டுக் கொண்டேயிருக்கும். மொழி மனிதனைப் பின்பற்றுகிறது. தன் நிலைமையில் மாறுதல் உண்டாவதை மனிதன் தடுப்பானேயானால் மொழியில் ஏற்படும் மாறுதலும் தானாகவே நின்று விடும். ஆனால் இந்த விஷயம் மனிதனின் கட்டுப்பாட்டுக்குள் அடங்கியது அல்ல.

ਭਾਸ਼ਾ ਅਤੇ ਵਿਆਕਰਣ

ਮਹਾਵੀਰ ਪ੍ਰਸਾਦ ਦਿਵੇਦੀ

ਪੰਜਾਬੀ ਅਨੁਵਾਦ · ਹਰਨਾਮ

ਬਹੁਤ ਸਮੇਂ ਤੋਂ ਹਿੰਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਲਿਖੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ । ਪਰ ਉਸਦਾ ਇਕ ਅੱਧ ਵੀ ਪਰਮਾਣੀਕ ਵਿਆਕਰਣ ਹਾਲੇ ਤੀਕ ਨਹੀਂ ਬਣਿਆ । ਇਸ ਦਾ ਫਲ ਇਹ ਹੋਇਆ ਕਿ ਪੰਜਾਹ ਸਾਲ ਦੀ ਪੁਰਾਣੀ ਭਾਸਾ ਅਜ ਦੀ ਭਾਸਾ ਨਾਲ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੀ । ਇਥੋਂ ਤਕ ਕਿ ਵਰਤਮਾਨ ਸਮੇਂ ਵਿਚ ਇਕ ਵਾਕ ਨੂੰ ਜੋ ਇਕ ਲੇਖਕ ਇਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਲਿਖਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਦੂਸਰਾ ਦੂਜੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਤੇ ਤੀਜਾ ਤੀਜੀ ਤਰ੍ਹਾਂ । ਇਕ ਪਤ੍ਰਕਾ ਦੀ ਭਾਸਾ ਦੂਜੇ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਨਾਲ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦੀ ਤੇ ਇਵੇਂ ਹੀ ਦੂਜੇ ਦੀ ਤੀਜੇ ਨਾਲ ਵੀ । ਇਸ ਦਾ ਫਲ ਇਹ ਨਿਕਲਿਆ ਕਿ ਭਾਸਾ ਦੀ ਇਕਸਾਰਤਾ ਗੁੰਮ-ਗਵਾਚ ਗਈ । ਸੰਭਵ ਹੈ ਕਿ ਜੇਕਰ ਇਹੋ ਹੀ ਹਾਲਤ ਰਹੀ ਤਾਂ ਅਜ ਤੋਂ ਸੌ ਸਾਲ ਬਾਦ ਦੇ ਲੋਗ ਅਜ ਦੀ ਭਾਸਾ ਦੇ ਬਹੁਤ ਸਾਰੇ ਵਾਕ ਨਹੀਂ ਸਮਝ ਸਕਣਗੇ ।

ਲਿਖਣ ਤੇ ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸਾ ਵਿਚ ਕੁਝ ਫਰਕ ਹੁੰਦਾ ਹੀ ਹੈ । ਲਿਖਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਥੋੜੀ ਬਹੁਤੀ ਅਸੁਭਾਵਕ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਤੇ ਲੇਖਕ ਦੀ ਕੋਸਸ਼ ਅਤੇ ਮਿਹਨਤ ਨਾਲ ਸਿੱਧ ਹੁੰਦੀ ਹੈ । ਤੇ ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਸੁਭਾਵਕ । ਉਸਦੇ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਨ ਵਿਚ ਕਿਸੇ ਕਿਸਮ ਦੀ ਮਿਹਨਤ ਨਹੀਂ ਕਰਨੀ ਪੈਂਦੀ । ਲਿਖਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਬਹੁਤ ਦਿਨਾ ਤੱਕ ਇਕ ਰੂਪ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ । ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਬਹੁਤ ਜਲਦੀ ਅਦਲਾ-ਬਦਲੀ ਹੁੰਦੀ ਤੁਰੀ ਜਾਂਦੀ ਹੈ । ਇਸੇ ਲਈ ਬੋਲਣ ਦੀ ਭਾਸਾ ਬਹੁਤ ਦੇਰ ਤਕ ਇਕੋ ਰੂਪ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ਰਹਿ ਸਕਦੀ । ਪਰ ਦੋਹਾ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦੀਆਂ ਭਾਸਾਵਾ ਨਾਸਵਾਨ ਹਨ । ਇਹ ਸਦਾ ਇਕੋ ਜੇਹੀਆ ਨਹੀਂ ਰਹਿੰਦੀਆ ।

ਮਨੁਖ, ਪਸ਼ੂ ਤੇ ਪੰਛੀ ਆਦਿ ਜੀਵ ਜੰਤੂਆ ਦੀ ਤਾ ਗਲ ਹੀ ਵਖਰੀ ਹੈ, ਇਹ ਸੰਸਾਰ ਹੀ ਨਾਸਵਾਨ ਹੈ । ਇਸ ਵਿਚ ਦਿਨ ਰਾਤ ਪਰੀਵਰਤਨ ਹੋਇਆ ਕਰਦਾ ਹੈ । ਜੋ ਵਸਤ ਅਜ ਹੈ ਉਹ ਕਲ੍ਹ ਨਹੀਂ, ਜੋ ਕਲ੍ਹ ਹੈ ਉਹ ਪਰਸੋਂ ਨਹੀਂ । ਪਰ ਕੀ ਇਸ ਨਾਸ਼ਵਰਤ੍ਹਾ ਨਾਲ ਕਿਸੇ ਨੂੰ ਕੋਈ ਤਕਲੀਫ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ? ਨਹੀਂ, ਸਮੇਂ ਦੇ ਅਨੁਸਾਰ ਮਨੁਖ ਦੀ ਇਛਾ ਤੇ ਰੁਚੀ ਵਿਚ ਅੰਤਰ ਆਦਾ ਜਾਦਾ ਹੈ । ਇਸ ਨਾਲ ਉਸਨੂੰ ਸੰਸਾਰਿਕ ਤਬਦੀਲੀ ਨਹੀਂ ਅਖਰਦੀ । ਭਾਸਾ ਦਾ ਵੀ ਇਹੋ ਹੀ ਹਾਲ ਹੈ । ਜਿਹੜੀ ਭਾਸ਼ਾ ਸੌ ਸਾਲ ਪਹਿਲੇ ਸੀ ਉਹ ਹੁਣ ਨਹੀਂ, ਜਿਹੜੀ ਅਜ ਹੈ ਉਹ ਕਲ੍ਹ ਨਹੀਂ ਰਹੇਗੀ । ਦੇਸ ਕਾਲ ਅਤੇ ਮਨੁਖ ਦੀ ਹਾਲਤ ਅਨੁਸਾਰ ਅਦਲਾ-ਬਦਲੀ ਹੁੰਦੀ ਹੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ । ਤੇ ਹੁੰਦੀ ਵੀ ਰਵ੍ਹੇਗੀ । ਉਸਨੂੰ ਕੋਈ ਰੋਕ ਨਹੀਂ ਸਕੇਗਾ । ਤਬਦੀਲੀ ਕੁਦਰਤੀ ਨਿਯਮ ਹੈ । ਇਸਨੂੰ ਕੌਣ ਰੋਕ ਸਕਦਾ ਹੈ ? ਪਰ ਭਾਸਾ ਦੀ ਨਾਸਵਰਤਾ ਅਤੇ ਤਬਦੀਲੀ ਤੋਂ ਮਨੁਖ ਨੂੰ ਕੋਈ ਨੁਕਸਾਨ ਨਹੀਂ । ਜਿਹੜੀ ਭਾਸਾ ਜਿਸ ਸਮੇਂ ਹੁੰਦੀ ਹੈ । ਉਸ ਵਿਚ ਹੀ ਉਹ ਆਪਣੇ ਮਨੁਭਾਵ ਪ੍ਰਗਟ ਕਰਦਾ ਹੈ । ਅਜ ਦੀ ਤੇ ਅਜ ਤੋਂ ਦੋ ਸੌ ਸਾਲ ਅਗੇ ਦੀ ਭਾਸਾ ਵਿਚ ਜਿਨ੍ਹਾ ਭੇਦ ਹੋ ਜਾਵੇਗਾ, ਉਤਨਾ ਹੀ ਭੇਦ ਮਨੁਖ ਵਿਚ ਵੀ ਆ ਜਾਵੇਗਾ । ਆਮ ਤੌਰ ਤੇ ਉਨ੍ਹਾ ਨੂੰ ਭਾਸਾ ਦਾ ਫਰਕ ਮਲੂਮ ਨਹੀਂ ਹੋਵੇਗਾ, ਜੇਕਰ ਹੋਵੇਗਾ ਵੀ ਤਾ ਉਦੋਂ ਜਦੋਂ ਉਹ ਪਿਛਲੀ ਅਤੇ ਵਰਤਮਾਨ ਭਾਸਾ ਦਾ ਮੁਕਾਬਲਾ ਕਰਨਗੇ । ਜਿਉਂ ਜਿਉਂ ਮਨੁਖ ਦੀ ਹਾਲਤ ਵਿਚ ਤਬਦੀਲੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਤਿਉਂ ਤਿਉਂ ਭਾਸਾ ਵਿਚ ਵੀ ਤਬਦੀਲੀ ਹੁੰਦੀ ਤੁਰੀ ਜਾਦੀ ਹੈ । ਭਾਸਾ ਮਨੁਖ ਦੀ ਸਾਥਣ ਹੈ । ਜੇਕਰ ਮਨੁਖ ਆਪਣੀ ਹਾਲਤ ਵਿਚ ਤਬਦੀਲੀ ਹੋਣੀ ਰੋਕ ਦੇਵੇ, ਤਾ ਭਾਸ਼ਾ ਵਿਚ ਤਬਦੀਲੀ ਹੋਣੀ ਆਪੇ ਹੀ ਰਕ ਜਾਵੇਗੀ । ਪਰ ਇਹ ਗਲ ਮਨੁਖ ਦੇ ਵਸ ਵਿਚ ਨਹੀਂ ।

ভাষা ও ব্যাকরণ

মহাবীর প্রসাদ দ্বিবেদী

অনুবাদঃ কাঞ্চন মুখোপাধ্যায়

বহুকাল থেকে হিন্দী ভাষা লেখা হচ্ছে, কিন্তু আজ পর্য্যন্ত তার একটিও সর্বমান্য ব্যাকরণ প্রণীত হ'লনা। তার ফলে পঞ্চাশ বছরের পুরাণো ভাষা আজকালকার ভাষার সঙ্গে মেলে না। এমন কি বর্ত্তমান কালেই একই বাক্যকে এক লেখক এক ভাবে লেখে, দ্বিতীয় জন আর এক ভাবে, তৃতীয় জন সম্পূর্ণ আলাদা ভাবে লেখে। এক খবরের কাগজের ভাষা অন্য কাগজের ভাষার সঙ্গে মেলে না, আর দ্বিতীয়'র ভাষা মেলে না তৃতীয়'র ভাষার সঙ্গে। এতে হয়েছে এই যে ভাষা স্থিরতা হারিয়েছে। আর যদি এই অবস্থা চলতে থাকে তাহলে আজ থেকে এক'শ বছর পর লোকে আজকালকার ভাষার অনেক বাক্য সম্ভবতঃ বুঝতে পারবে না।

লেখা ও মুখের ভাষা কিছু আলাদা হয়ই। লেখার ভাষা কম-বেশী অস্বাভাবিক এবং তা হ'ল লেখকের চেষ্টা এবং পরিশ্রমের ফল। কিন্তু মুখের ভাষা স্বাভাবিক, তা প্রকাশ করতে কোন রকমের চেষ্টার দরকার হয় না। লেখার ভাষা বহুদিন এক ভাবে থাকে, মুখের ভাষার খুব তাড়াতাড়ি অদল-বদল হয়। তাই কথিত ভাষা চিরকাল এক ভাবে থাকে না, কিন্তু এ দু'রকম ভাষাই নশ্বর-নাশবান। এ নয় যে তারা চিরকাল এক ভাবে থাকবে।

মানুষ আর পশু পাখী ইত্যাদি প্রাণীর তো কোন কথাই নাই, স্বয়ং পৃথিবীই নশ্বর। দিন রাত তার মধ্যে পরিবর্ত্তন হতে থাকে। যা আজ আছে তা কাল নেই, যা কাল আছে তা পরশু নেই। কিন্তু এ নশ্বরতায় কি কারো কষ্ট হয়? হয় না, সময়ের সঙ্গে সঙ্গে মানুষের আশা-আকাঙ্খার মধ্যেও পরিবর্ত্তন হয়। সে জন্য সাংসারিক পরিবর্ত্তন তার খারাপ লাগে না। ভাষার বেলাতেও তাই, যে ভাষা এক'শ বছর আগে ছিল আজ তা নেই, যা আজ আছে ভবিষ্যতে থাকবে না। দেশ, কাল, পাত্র অনুযায়ী তাতে অদল-বদল হয়—চিরকাল হবে। কেউ তাকে আটকাতে পারবে না। পরিবর্ত্তন ঈশ্বরীয় নিয়ম, তাতে বাধ সাধতে পারবে কে?

কিন্তু ভাষার নশ্বরতা ও পরিবর্ত্তনশীলতায় মানুষের কোন রকম ক্ষতি হয় না। যখন যে ভাষা চলে, তাতেই সে তার মনোভাব ব্যক্ত করে। আজকের ও আজ থেকে দু'শো বছর আগের ভাষার মধ্যে যতটা দূরত্ব আসবে, ততটাই দূরত্ব মানুষের মধ্যেও আসবে। অতএব ভাষার দূরত্বটুকু সহজে তাদের বোধগম্য হবে না। যখন তারা অতীত ও বর্তমান ভাষার তুলনা করবে, তখন বুঝতে পারবে। মানুষের অবস্থার যেমন-যেমন পরিবর্ত্তন হয়, তেমনি ভাষাতেও পরিবর্ত্তন হয়। ভাষা মানুষের সহচারিণী, মানুষ যদি নিজের অবস্থায় পরিবর্ত্তন হওয়া বন্ধ করে দেয়, তাহলে ভাষার পরিবর্তন হওয়া নিজে থেকেই বন্ধ হয়ে যায়। কিন্তু এ কাজ মানুষের বশের নয়।

भाषा आणि व्याकरण

मूल हिंदी : महावीरप्रसाद द्विवेदी

अनुवाद : प्रभाकर माचवे

ब-याच कालापासून हिंदी भापा लिहिली जात आहे पण तिचे एक ही सर्वमान्य व्याकरण अजून तयार झालेले नाही. याचा परिणाम असा की पचास वर्पं जुनी भापा आजच्या भाषे सारखी नाही इतकी स्थिति आहे की आज देखील एकच वाक्य एक लेखक एका त-हेने लिहितो, दुसरा दुस-या त-हेने, तिसरा तिस-या एका वर्तमानपत्राची भापा दुस-याशी जुलत नाही, आणि दुस-याची तिस-यासारखी नाही यामुळे असे घडल आहे की भापेत अस्थिरपणा उत्पन्न झाला आहे. आणि असेही शक्य आहे की असाच प्रकार चालत राहिला तर आजपासून शभर वर्पानतरच्या लोकाना आजकालच्या भाषेची वरीचशी वाक्य समजणारच नाही

लिहिण्याच्या व वोलण्याच्या भापेंत थोडे अतर असतेच लिहिण्याची भाषा थोडी वहुत अस्वाभाविक असते आणि लेखकाच्या प्रयत्न व परिश्रमाने सिद्ध होत असते पण वोलण्याची भाषा स्वाभाविक असते त्याच्या प्रकाशनात कोणत्याहि प्रकारची प्रयत्नशीलता आवश्यक नसते लिहिण्याची भापा वरेच दिवसापावेतो एक रूप राहाते वोलण्याच्या भापेंत फार लौकर फेरफार होतात या सार्णी वोललेली भापा नेहमी एकरूप राहात नाही पण असतात या दोन्ही प्रकाराच्या भापा—नश्वर, नाशवान । असे नाही की त्या दोन्ही नेहेमी एक सारख्याच राहू शकतात

मनुष्य आणि पशुपक्षी इत्यादि प्राणी तर सोडाच, हा सर्व ससारच नश्वर आहे. त्यात रात्रदिवस परिवर्तन होत असतात जी वस्तु आज आहे ती उद्या नाही, जी उद्या आहे ती परवा नाही. पण या नश्वरते मुळे कुणाला काय त्रास होतो ? नाही, समयानुकूल मनुष्याच्या इच्छा व अपेक्षा यात अंतर होत जाते. यामुळे त्याला सासारिक परिवर्तन वोचत नाही भापेची ही हीच गोष्ट असते—जी भापा शभर वर्पां पूर्वी होती, ती आता नाही जी आज आहे ती पुढे राहणार नाही देश, काल मनुष्याची स्थिति या अनुरूप वदल घडत असतो व नेहेमी घडत राहणार त्याला कोण रोकणार ? परिवर्तन हा ईश्वरीय नियम आहे त्याला प्रतिवध कोण घालणार ?

परतु भापेची नश्वरता व परिवर्तनशीलता यामुळे मनुष्याचे काहीच नुकसान होत नाही जी भापा ज्या वेळी असते, त्यातच तो आपले मनोभाव कवत करतो आजची व आजपासून दोनशे वर्पानतरची भापा जितकी वदलेल तितकेच अंतर माणसात ही होईल यामुळे सहज, त्याना भापा भेद उसजू शकणार नाही उपजेस तेव्हा, जेव्हा ते पूर्वीच्या व आजच्या भापाची परस्पर तुलना करतील. जसजशी माणसाची स्थिति वदलेल तसतशी भापाही वदलेल भापा माणसाची सहचारिणी आहे जर माणूस आपले स्थिति परिवर्तन थाववू शकेल, तर भापेतली वदल थावेल. पण ही गोष्ट माणसाच्या हातची नाही

ഭാഷയും വ്യാകരണവും

[മഹാവീരപ്രസാദ് ദ്വിവേദി]
തർജ്ജമ രവിവർമ്മ

ഹിന്ദിഭാഷ എഴുതുവാൻ തുടങ്ങിയിട്ട് എത്രയോ കാലമായി എന്നാൽ അതിന്ന് സർവ്വസമ്മതമായ ഒരു വ്യാകരണം ഇനിയും ഉണ്ടായിട്ടില്ല അതിന്റെ ഫലമോ അമ്പതുകൊല്ലംമുമ്പുള്ള ഭാഷയ്ക്ക് ഇന്നുള്ള ഭാഷയുമായി ഒരു പൊരുത്തവുമില്ല അതുകൊണ്ടുംതീർന്നില്ല ഇക്കാലത്തുപോലും ഒരേ വാക്യം ഒരു എഴുത്തുകാരൻ ഒരു തരത്തിലെഴുതുമ്പോൾ മറ്റൊരാൾ മറ്റൊരു തരത്തിൽ എഴുതുന്നു, മൂന്നാമൻ മൂന്നാമതൊരു തരത്തിൽ ഒരു പത്രത്തിലെ ഭാഷ മറ്റൊന്നിന്റേതിനോട് യോജിക്കുന്നില്ല ഭാഷയ്ക്ക് സ്ഥിരതയില്ലാതെപോയി എന്നതാണ് ഫലം ഇതേ നില തുടർന്നാൽ നൂറുകൊല്ലം കഴിഞ്ഞു പഠിക്കുന്ന ആളുകൾ ഇന്നത്തെ ഭാഷയുടെ പല വാക്യങ്ങളും മനസ്സിലാക്കാനായില്ലെന്നു വരും

വാമൊഴിയിലും വരമൊഴിയിലും കുറച്ചു ഭേദം ഉണ്ടായിരിക്കുതന്നെ ചെയ്യും വരമൊഴി കുറയൊക്കെ അസ്വാഭാവികമായിതോന്നും അത് എഴുത്തുകാരന്റെ പ്രയത്നവും പരിശ്രമവുംകൊണ്ട് ഉണ്ടാകുന്നതാണ് എന്നാൽ വാമൊഴി സ്വാഭാവികമായിരിക്കും. അത് പ്രകാശിപ്പിക്കുന്നതിന്ന് ഒരു തരത്തിലുള്ള പ്രയത്നത്തിന്റേയും ആവശ്യമില്ല വരമൊഴി വളരെക്കാലം ഒരേ രൂപത്തിൽ നില്ക്കും വാമൊഴിയിൽ വളരെ വേഗം മാറ്റങ്ങൾ-സംഭവിക്കും അതിനാൽ അത് വളരെനാൾ ഒരേ രൂപത്തിൽ ഇരിക്കുന്നില്ല എങ്കിലും രണ്ടു മൊഴികളും നശ്വരങ്ങളാകുന്നു എന്നും ഒരേ രൂപത്തിൽ നിലനില്ക്കുന്നവയല്ല

മനുഷ്യൻ, പശു, പക്ഷികൾ മുതലായവയോ പോകട്ടെ, ഈ പ്രപഞ്ചംതന്നെ നശ്വരമാണ് അതിൽ രാപ്പകൽ പരിവർത്തനങ്ങൾ സംഭവിച്ചുകൊണ്ടിരിക്കുന്നു ഇന്നുള്ളതിനെ നാളെക്കാണുകയില്ല. നാളത്തേതിനെ മറ്റന്നാൾ എന്നാൽ ഈ നശ്വരതകൊണ്ട് ആർക്കെങ്കിലും നല്ല ബുദ്ധിമുട്ടും തോന്നുന്നുണ്ടോ? ഇല്ല കാലത്തോടൊപ്പം മനുഷ്യന്റെ ആഗ്രഹത്തിനും പ്രതീക്ഷകൾക്കും അന്തരം വരുന്നുണ്ട്. അതിനാൽ അവനെ പ്രാപഞ്ചിക പരിവർത്തനങ്ങൾ അലട്ടുന്നില്ല ഭാഷയുടെ സ്ഥിതിയും ഇതുതന്നെ നൂറുകൊല്ലം മുമ്പുണ്ടായിതന്ന ഭാഷയല്ല ഇന്നുള്ളത്. ഇന്നുള്ളത് ഇനി ഉണ്ടായിരിക്കുയമില്ല ദേശം, കാലം, മനുഷ്യരുടെ നില എന്നിവയനുസരിച്ച് അതിൽ പരിപാഠങ്ങൾ ഉ[illegible]ായിക്കൊണ്ടിരിക്കുന്നു ഉണ്ടാവുകയും ചെയ്യും ആർക്കും അതിനെ തടയാനാവല്ല. പരാവർത്തനം ഉണ്ടാവുക എന്നതു് ദൈവനിയമം ആകുന്നു ആർക്ക് അതിനെ തടയാനാവും? പക്ഷേ നശ്വരതയും പരിവർത്തന സ്വഭാവവുംകൊണ്ട് മനുഷ്യന്ന് ഒരു തരക്കേടും വരാനില്ല അതാതു കാലത്തെ ഭാഷയിൽ അവന് മനോഗതികളെ വ്യക്തമാക്കുന്നു. ഇന്നത്തേയും നൂറുകൊല്ലത്തിനപ്പുറത്തേയും ഭാഷകളിൽ കാണുന്ന വ്യത്യാസം മനുഷ്യരിലും കാണാം അതിനാൽ അത്ര എളുപ്പത്തിൽ അവർക്ക് ഭാഷയിൽ വന്ന വ്യത്യാസം അനുഭവപ്പെടുകയില്ല കഴിഞ്ഞകാലത്തെ ഭാഷയെ നിലവിലുള്ള ഭാഷയുമായി തട്ടിച്ചുനോക്കിയാൽ മാത്രമേ അത് അനുഭവപ്പെടുകയുള്ളു മനുഷ്യന്റെ നിലയിൽ വരുന്ന മാറ്റത്തിന്നനുരൂപമായിട്ടത്രെ ഭാഷയിൽ മാറ്റം വരുന്നത് ഭാഷ മനുഷ്യന്റെ സഹചാരിണിയാകുന്നു മനുഷ്യന്ന് സ്വന്തം നിലയ്ക്ക് മാറ്റം വരാതിരിക്കാൻ കഴിയുകയാണെങ്കിൽ ഭാഷക്കും മാറ്റം വന്നില്ലെന്നു വരാം പക്ഷെ മനുഷ്യന് അതി[illegible]ള്ള കഴിവില്ല

भाषा च व्याकरणं च

महावीरप्रसाद द्विवेदी
अनुवाद—हनुमत्प्रसाद शास्त्री

हिंदी-भाषा सुदीर्घात् समयाद् विलिख्यते, परन्तु तस्या सर्वमान्य व्याकरणमेकमप्यधुनावधि न निर्मितमभूत्। तत्फलमेतदभूद् यद्-इत पञ्चाशद्वर्षेभ्य पूर्वमुच्चार्यमाणा भाषा आधुनिक्या भाषया सह न मिलति। स्थितिरीदृशी विद्यतेऽद्य वर्तमान काले एकमेव वाक्य कश्चिल्लेखको येन प्रकारेण लिखति, अपरस्ततो भिन्नेनैव प्रकारेण लिखति, इतरश्च ततोऽपि भिन्नेन प्रकारेण। एकस्य समाचार-पत्रस्य भाषाऽपरस्य भाषया सह न समिलति। एतेन भाषाया-मस्थिरत्व समापन्नम्। यदीदृश्येव दशा स्थास्यति, तदा वर्षशतकादनन्तर लोका अद्यतन्या भाषाया बहूनि वाक्यानि न परिज्ञास्यन्तीति महती सभावना।

लिख्यमानायामुच्चार्यमाणाया च भाषाया महान् भेदो भवत्येव। लिख्यमाना भाषा किञ्चिदस्वाभाविकी भवति, सा च लेखकस्य श्रमेण यत्नेन च सिध्यति। किन्तु वाग्व्यवहारे प्रयुज्यमाना स्वाभाविक्येव भवति। तस्या प्रकाशने न कश्चिच्चेष्टा विशेषोऽपेक्ष्यते। लिख्यमाना भाषा सुदीर्घं समय यावदेकस्मिन्नेव रूपे प्रतितिष्ठति। किंतु, उच्चार्यमाणाया भाषाया शीघ्र शीघ्र परिवर्तनानि भवति। अतएव सान चिरमेकस्मिन्नेव रूपे व्यवतिष्ठते। परन्तु द्विविधे अपीमे लेखोच्चारणभाषे वस्तुतो विनश्वर्यावेव स्त। शश्वदेव ते एकरूपिण्यावेव तिष्ठेतामिति नास्ति।

मनुष्याणा, पशूना, पक्षिणामेतदादिप्राणिना तु वार्तैव का? स्वयमय ससार एव विनश्वर। अस्मिन्नहर्निशं परिवर्तनामि भवति। यद्द्य विद्यते वस्तु, न तत् श्व स्थाता, श्वस्तनच न परश्व। परमनया नश्वरतया किं कश्चित् खिद्यते, न हि न हि। समयानुसार मनुष्यस्येच्छासु अपेक्षासु चान्तर भवति। ततएव सासारिकाणि परिवर्तनानि न त वाधंते। भाषाया स्थिति रपीदृश्येव। वर्षशतकात्पूर्वं याऽऽसीद् भाषा, सा नास्त्यधुना। या चेदानीमस्ति, सा चाग्रे न स्यास्यति। देश-काल-मनुष्य-स्थित्यनुसार तत्र परिवर्त्तनानि भवन्त्येव, भविष्यन्ति च। इद परिवर्त्तनमवरोद्धुं न कश्चिदप्यलम्। परिवर्त्तन नामेश्वरीयो नियम। त क प्रतिवध्नीयात्?

परन्तु भाषाया नश्वरतया परिवर्त्तनशीलतया च मनुष्यस्य न कापि हानि स्यात्। या भाषा यस्य समये प्रचलति, तस्यामेवासौ स्वमनोभावान् प्रकटयति। अद्यतन्यामितो वर्षशतकद्वयपरभाविन्या च भाषाया यावान् भेदो भावी, तावानेव भेदो मनुष्येष्वपि भविष्यत्येव। अतएव सारल्येन ते भाषाया भेदमेव न परिज्ञास्यन्ति। परन्तु, यदा तेऽतीत-वर्तमानयोर्भाषासु परस्परं तुलना करिष्यन्ति, तदैव ते भेदमिम परिचेष्यन्ति। यथा यथा विपरिवर्त्तते मनुष्यस्य स्थिति, तथा तथैव भवति भाषायामपि परिवर्त्तनम्। सेय भाषा मनुष्यस्य सहचारिण्येव। यदि मनुष्या स्वस्थिते परिवर्त्तनम-वरुन्ध्युस्तर्हि भाषाया परिवर्त्तन स्वत एवावरुद्ध स्यात्। परन्तु नेद मनुष्यस्य वशे।

श्रद्धांजलि
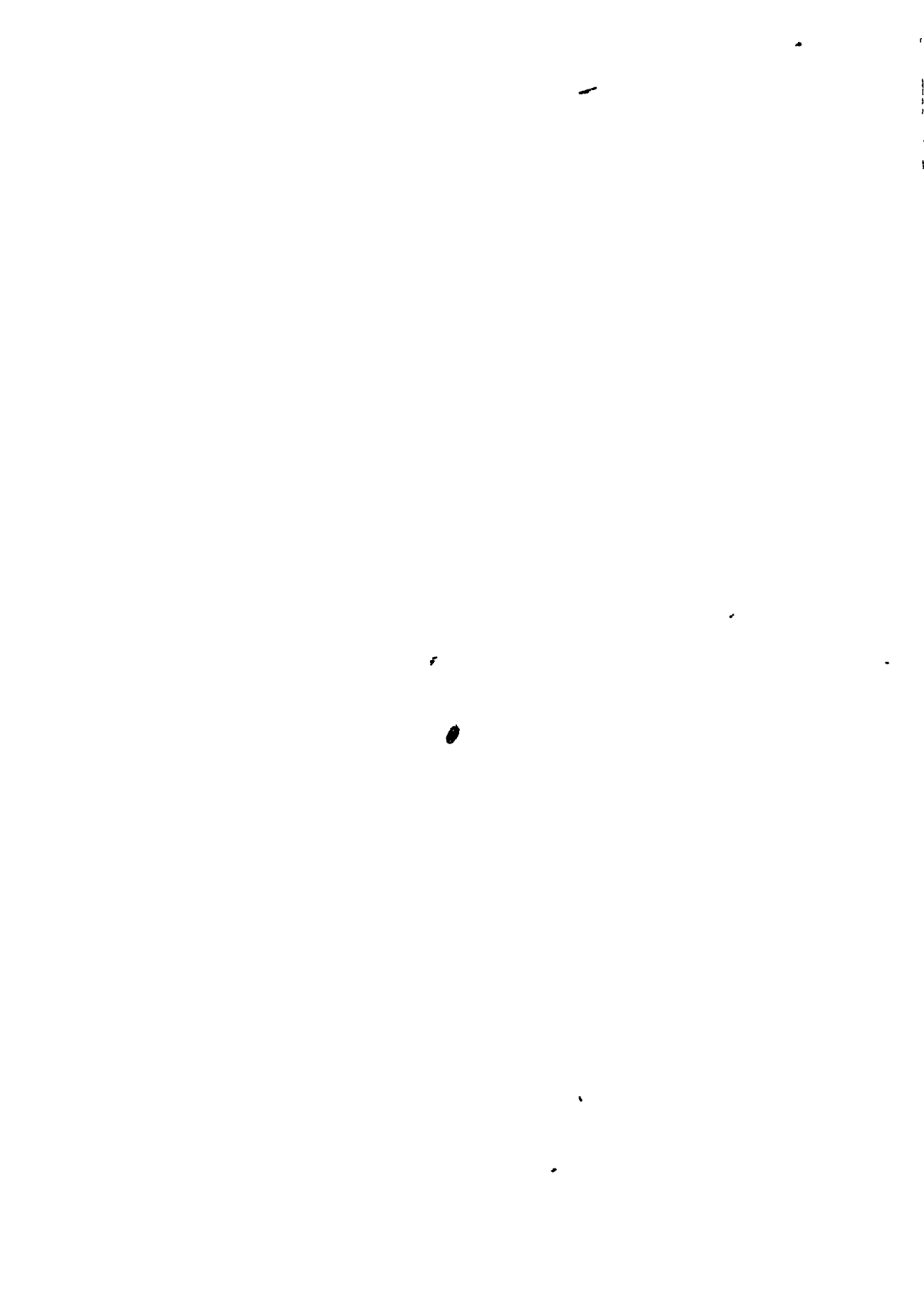
भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर-संधान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार।

पंख हीन था अहा, कल्पना मूक कंठगत गान।
शब्द शून्य थे, भाव रुद्ध, प्राणों से वंचित प्राण।
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न! बंदी थे हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी व्यापार?
वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,

रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र कंकाल।
शत कंठो से फूट आपके शतमुख गौरव गान
शत शत युग स्तंभों में तानें स्वर्णिम कीर्ति वितान।
चिर स्मारक सा, उठ, युग युग में, भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशः कार्य को करे सुरक्षित नित्य।

प्रेरणामूर्ति

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिंदी के उन गण्यमान्य नेताओ में से थे जिनके पुरुषार्थ से हिंदी को आज राष्ट्रभाषा-पद का गौरव प्राप्त हुआ है। उन्होने यावज्जीवन 'सरस्वती' पत्रिका का सपादन किया और उसे व उसके प्रताप मे इलाहावाद के 'इडियन प्रेस' को भी सुविख्यात किया। आज तो बहुत-सी पत्रिकाएँ हिंदी-भाषा में गौरवान्वित है किंतु 'सरस्वती' सब से प्राचीन होते हुए भी अपने उस प्राचीन गौरव को सँभाले हुए है, इमे भी श्री द्विवेदी जी का ही पुरुषार्थ कहना चाहिए।

हिंदी में अनेक आदोलनो का आरभ भी श्रीयुत द्विवेदी जी ने किया था। यद्यपि मै उस समय अपने सस्कृताध्ययन की पूर्णता ही कर पाया था तथापि उनके 'अनस्थिरता-आदोलन' और 'कालिदास की निरकुशता' आदि आदोलनो में मैने उनके विपरीत पक्ष मे भाग लिया था। ऐसा होते हुए भी उनके गुण-गणो पर दृष्टिपात करते हुए यह मानना पडता है कि वे हिंदी के उन्नायको में एक गणनीय विद्वान थे। लेखो द्वारा बहुत-काल से सबध रहने पर भी मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य कानपुर के हिंदी-साहित्य-समेलन के अवसर पर हुआ था। साक्षात्-परिचय प्राप्त करने पर यह भी विदित हुआ कि वे कितने नम्र थे। नम्र होते हुए भी अपनी बात पर सदा दृढ रहते थे। तब हिंदी-साहित्य-समेलन के सभापति-पद पर उनका नाम प्रथम वार प्रस्तुत हुआ था और बहुमत के झमेले से उस बार उनको यह पद प्राप्त न हो सका—इस कारण फिर यावज्जीवन उन्होंने हिंदी-साहित्य-संमेलन का सभापति पद स्वीकार नही किया। यद्यपि कई बार कई सज्जनो ने डेपुटेशन ले जाकर उनसे बहुत कुछ अनुरोध किया किंतु वे अपने हठ पर दृढ रहे। यह दृढता भी ऐसे प्रतिष्ठित-पुरुषो के लिए एक गुण ही मानी जाती है।

यद्यपि उस समय श्री वालमुकुंद जी गुप्त, श्री जगन्नाथप्रसाद जी चतुर्वेदी आदि अनेक हिंदी के कर्णधार थे तथापि आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी अपने ढग के एक ही थे। आज भी सौभाग्य से 'सरस्वती' के संपादक एक सुयोग्य विद्वान है और वे भी 'सरस्वती' का गौरव प्रतिष्ठित रखने की पूर्ण चेष्टा कर रहे है। ●

[illegible] पुजारी

[illegible]

मई माह में हिंदी के युग-प्रवर्तक आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जन्म-शताब्दी महापर्व
[illegible]ता है। आचार्य महावीरप्रसाद जी केवल हिंदी के युग-प्रवर्तक, उन्नायक-आचार्य नही थे, वल्कि भारतीय गण्यमान्य
[illegible]ष्ट्रोत्थान के समर्थ पुजारियो में से एक थे। आचार्य जी केवल हिंदी के सुलेखक तथा समर्थ सपादक नही थे, वल्कि
[illegible]दी साहित्यकारो के सर्जक थे। भारतेंदु वावू के वाद इन महापुरुष ने हिंदी के रूप को निखारा, परिपुष्ट किया तथा
[illegible]आदरणीय बनाया। आचार्य महावीरप्रसाद जी ने हिंदी की विख्यात पत्रिका 'सरस्वती' का सपादन ही नहीं किया,
[illegible] पत्रिका द्वारा हिंदी के साहित्योद्यान को हराभरा और तरोताज़ा रखा। उस युग में 'सरस्वती' और आचार्य
[illegible]वेदी पर्यायवाची से बन गए थे। सरस्वती पत्रिका का ग्राहक बनना तथा उसे नियमित पढना हिंदी प्रेम का
[illegible]यक्ष प्रमाण माना जाता था। 'सरस्वती' आज भी चाव से पढी जाती है।

अभी तारीख 3-4-1964 का लिखा आदरणीय श्री डा० विश्वनाथ प्रसाद जी का पत्र मिला कि आचार्य
[illegible]वेदी जी के बारे में कुछ लिख भेजूँ और कुछ सस्मरण भी प्राप्त करके भेजूँ। मैंने अपनी पहली पच्चीसी में आचार्य
[illegible]वर महावीरप्रसाद जी के वारे में खूव सुना था। हमारे देश के वडे कहते थे कि पूज्य वापू के वाद मानवता मे, सादगी
, अपनत्व में महावीरप्रसाद जी का नाम आता है। वे सस्मरण भी याद आते है कि श्री महावीरप्रसाद जी ने आत्म-
[illegible]मान के खातिर रेलवे विभाग की नौकरी छोडी थी। और एक साधारण नौकरी के बल पर गृहस्थी सँभालने का निश्चय
[illegible]या था। वे सस्मरण भी याद आते है कि इडियन प्रेस, इलाहावाद के सस्थापक, हिंदी के प्रवल समर्थक श्री चितामणि
[illegible]वू ने महावीरप्रसाद जी को अपने यहाँ सस्नेह और सादर बुलाकर सरस्वती के सपादक का कार्यभार सौंपा
[illegible]। आचार्य श्री महावीर प्रसाद जी सच्चे अर्थो में आचार्य थे, एक अद्भुत विद्वान थे तथा समर्थ सपादक थे।
[illegible]पके सपादकत्व में 'सरस्वती' में लेख का प्रकाशित होना, एक लेखक के लिए वहुत वडा गौरवपूर्ण सम्मान माना
[illegible]ता था।

मैं ता० 19-4-1964 रविवार को भारतीय विद्वानो में समादरणीय प्रथम कोटि के विद्वान, इतिहासज्ञ,
[illegible]रातत्ववेता, भारतीय भाषाओ के माने हुए विद्वान मुनि श्री जिन विजय जी से मिला। आप अभी कोई आठ-
[illegible]स दिन हुए अहमदाबाद आए हुए है। आपने अपने अमूल्य समय से मुझे पूरे दो घटे का समय दिया। मुनि श्री जिन
[illegible]जय जी ज्ञान के सागर हैं। आपके 75-76 वर्ष के जीवन का हर क्षण साहित्योपासना में गुजरा है। आप पिछने
[illegible]ठ वर्षो से अनवरत सरस्वती की उपासना में मग्न है। आप जितने वडे विद्वान, जितने ऊँचे लेखक तथा समर्थ
[illegible]नुशीलनकर्ता है, उतने ही शील और सौजन्य की मूर्ति भी है। आपसे मिल कर आदमी जीवन में धन्यता अनुभव
[illegible]र सकता है।

मेरे प्रति आपका सदा स्नेह रहा है। आपकी शुभाशीष का मैं सदा अधिकारी रहा हूँ। आपसे मुझे प्रेरणा
[illegible]लती रही है। हमारे बीच कई महत्त्वपूर्ण वातें हुईं, उसी के साथ-साथ मैंने आपसे यह भी जानना चाहा कि
[illegible]या आप आचार्य प्रवर महावीरप्रसाद जी से कभी प्रत्यक्ष मिले थे? इतने प्रश्न पर तो आप गद्गद् हो गए और
[illegible]पने मधुर, सुदर सस्मरण सुनाने लगे। आपने वताया कि मुझे आचार्य महावीरप्रसाद जी के दर्शनो का सुअवसर
[illegible] नही मिला, परतु मुझे उनका स्नेह अवश्य प्राप्त हुआ था। आपने अपने सस्मरण सुनाए। महावीरप्रसाद जी
[illegible] सस्मरण को ताज़ा करने का सुअवसर यह प्राप्त हुआ है कि आपके पास खडी वोली हिंदी के समर्थ कवि श्री
[illegible]ीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक कोई पाँच-छह वर्षो से खोज कर रहे है। श्री पद्मधर जी पाठक ने पत्रों
[illegible] एक वहुत वडा पुलिंदा मुनिश्री के सामने रखा जिसमें आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी तथा श्रीधर पाठक के पत्र
[illegible]। इनमें से कई पत्र फट गए है। फिर भी ये सारे पत्र दो महान साहित्यकारो के पत्र-व्यवहार का एक अनोखा
[illegible]ग्रह हैं। मुनिजी ने बताया कि इन पत्रो में हिंदी प्रेमी अँग्रेज़ी विद्वान पीकोट का पत्र भी है। श्री पीकोट ने कोई
[illegible]50–60 वर्ष पहले हिंदी को राष्ट्रभाषा वनवाने का वहुत बड़ा प्रयत्न किया था। इन हिंदी प्रेमी अँग्रेज ने ब्रिटिश

पार्लियामेंट में आदोलन जगाया था कि हिंदी राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद के लिए सर्वथा योग्य है। श्री पीकोट का यह आदोलन हिंदी प्रचारको तथा हिंदी प्रेमियो के लिए बहुत वडा प्रेरणादायी मार्गदर्शक है।

मुनि जी ने वताया कि वे (मुनि जी) विद्यालय-महाविद्यालय में विधिवत् प्रवेश पाकर पढें-लिखे नही हैं, मुनिजी ने किसी गुरु के चरणो में वैठकर शिक्षा नही पाई। मुनिजी स्वयंस्फूर्त प्रेरणा से आगे वढे हैं। आपका जीवन भर का विद्या-व्यासग तथा अनवरत साहित्योपासना ने आपको वहुश्रुत विद्वान वनाया है। आप सदा चिंतन-मनन करने वाले योगी पुरुप है। इसी साधना से आप सुलेखक वने है।

आगे आपने संस्मरण सुनाए कि सन् 1907-8 की वात है उन्होने 'सरस्वती' पत्रिका पढ़ना शुरू किया। एक अध्ययन कर्ता की तरह सरस्वती पढते थे और अपना हिंदी ज्ञान वढाते थे। धीरे-धीरे आपके मन में अभिलाषा हुई कि मै 'सरस्वती' में लेख लिखूँ। परतु मन में झिझक थी कि उनमें इतनी योग्यता कहाँ कि लेख 'सरस्वती' में छप जाए। यह अभिलाषा मन में ही रह जाने वाली थी। मुनि जी ने वताया कि मै कोई कवि नही हूँ, कहानीकार नही हूँ, उपन्यासकार नही हूँ, नाटककार नही हूँ। हिंदी में शुद्ध लिखना भी तो आता नही, और सरस्वती में लेख प्रकाशित होने की आशा रखूँ। फिर भी आपके मन में यह अभिलाषा वलवती होती गई क्योकि उन दिनो 'सरस्वती' में लेख का छपना किसी विश्वविद्यालय से डिगरी पाने से कम नही था। निष्ठा के पक्के मुनि जी ने अपने को 'सरस्वती' में लेख लिखने योग्य वनाने का प्रवल प्रयत्न किया। एक दिन निश्चय किया और उन दिनो वर्षो पुराने विवादग्रस्त विपय पर खोजवीन के साथ लेख तैयार किया और डरते-डरते वह लेख आचार्य महावीरप्रसाद जी को भेज दिया। लेख मिलते ही पडित महावीरप्रसाद जी ने उत्तर दिया —"आपका लेख मिला। वहुत अच्छा है। मैं उसे सरस्वती में छापूँगा। कृपा वनी रहे।" पत्र पढकर मुनिजी प्रसन्न हो गए। यह लेख व्याकरणकार जैन शाकटाचार्य (यह लेख सरस्वती के हीरक महोत्सव पर प्रकाशित विशेषाक में छपा है।) के वारे में 'सरस्वती' में छपा। यह 1913-14 की वात है। लेख छपा और अक मुनिजी को मिला। मुनिजी ने उस दिन एक अपूर्व आनद का अनुभव किया और माना कि अब मै भी लिख सकता हूँ। 'सरस्वती' में लेख छपना यह एक अपूर्व छाप थी कि यह लेख सरस्वती में लिखने का अधिकारी माना गया है। आचार्य जी के साथ का यह संवध वर्ष प्रतिवर्प घना होता गया। मुनि जी फिर तो अपने लेख 'सरस्वती' के लिए भेजते रहे।

मुनि जी ने एक और संस्मरण सुनाया। मुनि जी उन दिनो कोई दो वर्प तक पाटण जैन ग्रथ भडार के लिए लिख रहे थे। इस वात का आचार्य श्री द्विवेदी जी को पता चला। आपका पत्र मिला कि पाटण के जैन ग्रथ भडार पर एक लेख भेजें। मुनिजी ने लेख भेजा और वह वहुत पसद आया। उसके उत्तर में श्री द्विवेदी जी ने लिखा कि "लेख मिला। वढिया है। यथाशक्य शीघ्र प्रकाशित करूँगा। लेख का नाम था 'पाटण का जैन भंडार'।"

मुनिजी अपने ग्रथ समीक्षा के लिए आचार्य जी को वरावर भेजते थे। आचार्य श्री इन ग्रंथो की वरावर समीक्षा करते थे, और समीक्षा को 'सरस्वती' में छापते थे। मुनिजी ने गुजराती विद्यापीठ के पुरातत्व मदिर के उद्घाटन के अवसर पर "पुरातन सशोधन नों इतिहास" नामक लेख लिखा और पढ़ा। उस लेख को मूल गुजराती में आचार्य जी को भी भेजा था। इस लेख का भाषातर श्री द्विवेदी जी ने स्वय किया और 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। इस प्रकार के अनेक मधुर और महत्वपूर्ण सस्मरण मुनि जी की स्मृति में सग्रहीत हैं।

हमें पूरा विश्वास है कि इन सारे सस्मरणो को हमारे विद्वान् मित्र श्री पद्मधर जी पाठक सकलित करेंगे और क्रमश. पत्रिकाओ में प्रकाशित करवाने का प्रयत्न करेंगे। विद्वानो के सस्मरण देश के साहित्य की अमूल्य निधि है। उसे लिपिवद्ध कर लेना या करवा लेना हमारा परम राष्ट्रीय कर्तव्य है

मै आदरणीय श्री विश्वनाथ प्रसाद जी का हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे पत्र लिखा और मै मुनिजी के समीप पहुँच गया जिससे मुझे भी दो-तीन संस्मरण जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ तथा प्रकारातर में आचार्य जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने का मौका मिला। ●

सूर्यनारायण व्यास

आचार्य द्विवेदी जी सफल-सपादक, साहित्यकार और विद्वान थे, यह सर्वसमत बात है। जिस भाषा को सजाया, सँवारा और समार्जित किया, आज वही भाषा राष्ट्र-भाषा के पद पर जा पहुँची है। इसलिए वे राष्ट्र-भाषा-प्रणेता थे, और वे साहित्येतिहास में अमर बन गए हैं। यद्यपि वे उत्तर-प्रदेश के एक छोटे से ग्राम दौलतपुर मे उत्पन्न हुए थे, और अध्ययन भी उनका सीमित ही हुआ था, किंतु स्वय के अध्यवसाय से उन्होने प्रचुर-पाण्डित्य प्राप्त किया था, और कई भाषाओ मे प्रवीण बन गए थे। रेलवे की नौकरी मे भी वे अपने आफिस के बाबुओ को कालिदास की सुकुमार-सूक्तियो का रसास्वादन करवाया करते थे। उस समय उनके निकट रघुवश की पुस्तक प्राय रहा करती थी, भामिनी-विलास जैसे मनोहारी काव्य का उन्होने तभी अनुवाद किया था, तथा महीम्नस्तोत्र का पद्यानुवाद भी। जब उनके हाथो में सरस्वती का सूत्र आया, तब उन्होने जो पराक्रम प्रदर्शित किया, वह सर्वज्ञात ही है। स्वय ने साहित्य-सृजन तो किया ही, पर सृष्टाओ की एक परपरा भी पैदा की है जि मात्र 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य और भाषा-जगत् में जो क्रांति की है वह अविस्मरणीय बनी हुई है। अवश्य ही वे भाषा की भ्रष्टता को अक्षम्य समझते थे। ताप-तप्त हो जाते थे, परतु द्विवेदी जी का अतर उतना ही कुसुम-कोमल एव कमनीय रहा है, उनकी सारजात विनम्रता भी अत्यधिक मार्दव रखती थी। कानपुर के हिंदी साहित्य समेलन के समय स्वागताध्यक्ष पद से दिया हुआ भाषण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनकी उग्रता से तत्का-लीन कई लेखक असतुष्ट हो जाते थे, बालमुकुद गुप्त, श्यामसुदर दास इसके उदाहरण थे। इनके उत्तर-प्रत्युत्तरो की लेखमालाएँ साक्षी बनी हुई है। उनकी विद्वत्ता की धाक मानी हुई थी, आर्धा-शती के उनके कार्य-काल में खडी बोली मे जो समार्जन हुआ वह आज भी आदर्श-रूप बनी हुई है। वे गद्य शैली के उत्कृष्ट-आचार्य और प्रवर्तक थे, साथ तीव्र आलोचक भी थे। व्याकरण-समत, शुद्ध भाषा-शैली के प्रवर्तन मे जो काम द्विवेदी जी ने किया वह एक लक्ष्मण रेखा-सी बन गई थी। भाषा में व्यग के प्रयोग द्विवेदी जी की विशेषता रही है। उनका 'म्युनसिपैलिटी का चेअरमेन' लेख जिन्होने पढा है वे उसकी चुटकी और चुहल को जान सकते है कि वे कितने सफल व्यग लेखक भी थे। गुप्त जी का 'भारत मित्र' और द्विवेदी जी की 'सरस्वती' मे प्राय नोक-झोक चला ही करती थी, इसके विपरीत आलोचनात्मक-शैली बडी सयत और गभीर रहती थी। वे अपने लेखो द्वारा पाठको पर नैतिक-प्रभाव डालने का सतर्कता से यत्न करते थे, कालिदास, विक्रम, भोज, भर्तृहरि तथा सस्कृत-कवियो के प्रति उनकी विशेष अनुरक्ति थी। इनके इतिहास और काव्य-रस का हिंदी भाषियो को अपने पत्र द्वारा सदैव रसा-स्वादन करवाते रहे। आरभ में द्विवेदी जी सस्कृत-पडित है, बाद मे हिंदी-लेखक, यही कारण है कि हिंदी भाषा पर उनके सस्कृतज्ञ का सदैव प्रभाव रहा है। उन्होने सरस्वती मे पहुँचने वाली पुस्तको की भावनावश होकर, या पक्ष प्रेरित हो कभी स्तुति निंदा नही की—स्पष्ट सत्य ही कहा है। नैतिकता की कसौटी पर जो खरी नही उतरी उसे उन्होने क्षमा नही किया है।

द्विवेदी जी हिंदी मे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होने 'महाकवि कालिदास की निरकुशता' पर अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया था। उसमें उनका प्रौढ पाडित्य, और मर्मदर्शिता प्रकट हुई है। वे 'पुराण मित्येव न साधु सर्व' के अनु-याई थे, इसके विपरीत सभी 'नवीन' के समर्थक भी नही थे, पत और निराला की कविता को भी महत्त्व नही देते थे, 'अलीकली' की कविताओ मे विलासिता का आभास मानते थे। एक बार कविवर नवीन जी से उन्होने यह पूछ ही लिया था कि ये सजनी-अली-कली आखिर क्या है? प्रताप में नवीन जी ने इस पर लबा लेख भी लिखा था। द्विवेदी जी सफल लेखक के साथ सफल कवि भी थे, 'कुमार सभव' का पद्यानवाद भी किया था, वे कवि को "धर्म सस्थापनार्थाय" मानते थे। (कवि और कविता)

ऐसी स्थिति में उन्हे और कविताएँ जो वादो से ग्रस्त होती थी, कैसे पसद आती ? अवश्य ही गद्य के क्षेत्र में उन्होंने एक मान-दड स्थापित किया था, और 'सरस्वती' को अपने युग की अभिनव और सर्वश्रेष्ठ पत्रिका के आदर्श रूप में प्रस्तुत किया था। 'सरस्वती' हिंदी की एकमात्र पत्रिका है, जो साठ वर्ष से ऊपर के समय से सतत गति से चलती जा रही है और द्विवेदी जी की चिर-स्मृति बनी हुई है। द्विवेदी जी के साहित्य में और व्यवहार में उनका स्वाभिमानी-ब्राह्मण सर्वत्र लक्षित होता है। उसमे तेजस्विता और त्याग की ओजोमयी आभा है। जो लोग द्विवेदी जी को आशुक्रोधी और नीरस समझते है, शायद उन्होने द्विवेदी की केवल परिचितो मे वितरित 'सुहागरात' जैसी रोमाचक रचनाओ को नही देखा-पढा होगा। यद्यपि वह मधु-मिलन का एक प्रत्यक्ष चित्र ही है, परतु आरभ से अत तक कही भी अश्लीलता का समावेश नही हुआ है। यह 'सुहागरात' उनकी सरलता की साक्षी है। द्विवेदी जी ने अपने युग की अनेक प्रतिभाओ को पहचान कर प्रकाश में लाया है। उनका परिमार्जन कर प्रौढ बनाया है। इस प्रकार अपने समय का साहित्यिक-युग उनका ही हो गया था। अपने किशोर काल मे मुझ जैसा अकिंचन भी यही कल्पना करता था कि 'सरस्वती' में कैसे स्थान मिले ? 'सरस्वती' मे कुछ निकल जाना सौभाग्य समझा जाता था। यह सौभाग्य मुझे भी मिला है। द्विवेदी जी की इस समय शतसवतसरी मनाई जा रही है। मेरा विश्वास है आने वाले वर्षो में अनेक शतियो तक द्विवेदी जी का यशोदेह हमारी श्रद्धाजलि प्राप्त करता रहेगा, राष्ट्रभाषा के प्रणेता को हमारा प्रणाम !

बहुत पुरानी बात है। पिताजी कानपुर जिले के भीतर उत्तरीपुरा स्टेशन के स्टेशनमास्टर थे। कर्मकांडी और धर्मनिष्ठ थे। लखनऊ हमारी पारिवारिक जन्मभूमि है। उन दिनो यह नगर उर्दू-फारसी के पठन-पाठन का केंद्र था। ब्राह्मण परिवारो में भी बालकों की शिक्षा 'करीमा' से प्रारभ की जाती थी। परतु पिताजी हिंदी तथा अँग्रेजी ही पढे थे। अनएव उन्होने मुझे घर पर हिंदी ही पढाई। स्वय रामचरितमानस का पाठ करते थे, जिस कारण मुझे बाल्यकाल ही में इस काव्यग्रथ के बहुत-से छद याद हो गए। पाठशाला मे भेजे जाने योग्य हुआ तो पडौस के प्रारभिक विद्यालय में भर्ती हुआ। अवस्था आठ, नौ वर्ष से अधिक न थी जब सरस्वती मुझे पढने को मिलने लगी। उन दिनो हिंदी पत्र-पत्रिकाओ की देश में भरमार न थी। पाठशाला मे हिंदी की पाठ्य-पुस्तकें पढाई जाती थी और घर पर 'सरस्वती' से मै हिंदी सीखता रहता था।

दो-तीन वर्ष पश्चात् मै लखनऊ आ गया जहाँ हिंदी के साथ अँग्रेजी की शिक्षा मुझे मिलने लगी। पिताजी की योजना मुझे चिकित्सक बनाने की थी। परतु दुर्भाग्यवश मेडिकल कालेज में भरती नही हो पाया था कि परिवार का पूरा भार मेरे सिर पर आगया। यो मैं चिकित्सक न होकर शिक्षक हुआ और सन् 1917 तक बी०ए०, एल०टी० होकर उन्नाव जिले के एक हाई स्कूल की सेवा में पहुँचा। 'सरस्वती' मे सीखना मेरा नही छुटा था। उसके सपादक आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का शुभनाम तो 'सरस्वती' के मुख-पृष्ठ पर देखता रहता था, परतु मैने कभी उनके दर्शन न किए थे।

इटरमीजिएट कक्षा तक मै विज्ञान और गणित का विद्यार्थी रहा था, यद्यपि विद्यालय मे अँग्रेजी और घर पर हिंदी पढने के व्यसन मे कमी नही आई थी। शिक्षक होकर बी०ए० परीक्षा के लिए तैयारी प्रारभ की तो अँग्रेजी साहित्य के साथ इतिहास और अर्थशास्त्र मेरे अध्ययन के विषय हुए। यो मस्तिष्क में आलोचना की सूझ का विकास होने लगा। देहाती विद्यालय में पहुँचने पर मुझे यथेष्ठ अवकाश मिला, तो पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखना प्रारभ किया। अँग्रेज़ी में लीडर के सपादक स्व० चितामणि मेरे आदर्श थे, तो हिंदी मे मेरे आराध्य थे द्विवेदी जी। चितामणि जी से तो मुझे विशेष प्रोत्साहन नही मिला। परतु मेरा पहला पत्र और लेख पाते ही द्विवेदी जी का वरदहस्त मुझे प्राप्त हुआ।

लेख का शीर्षक था 'समालोचना'। आजकल की मासिक पत्रिकाओ के सपादक अत्यधिक व्यस्त रहते है, उनके पास बहुत-से लेख आया करते है। उन्हें किसी नए लेखक को लिखना सिखाने, उसे प्रोत्साहित करने का अवकाश नही मिलता। तब यह बात न थी। हिंदी मे पत्र-पत्रिकाओ की सख्या कम थी, उनके लिए लिखने वाले और भी कम थे। सस्कृत और अँग्रेजी के विद्वानो की सख्या कम न थी। परतु सुबोध और सरस हिंदी लिखने का अभ्यास बहुत कम विद्वानो को था। द्विवेदी जी ने स्वय किसी विद्यालय मे पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त नही किया था। किसी सपादक की शिष्यता भी नही की थी। अँग्रेज़ी, हिंदी, सस्कृत और थोडी बहुत उर्दू में ही उनकी गति रही थी। दफ्तर के काम से अलग होकर श्यामसुदरदास जी के सरस्वती-सपादन के भार से मुक्त होने पर स्वेच्छा से कम वेतन पर 'सरस्वती' सपादन का भार उन्होने उटा लिया था। पत्रकारिता पढने किसी शिक्षालय में नही गए, परतु उनकी सेवा में मेरा पहला पत्र और लेख पहुँचने के पहले वह बहुत से अँग्रेजी और सस्कृत के विद्वानो को हिंदी लिखनी सिखा चुके थे। उनका ढग था होनहारो को लिखने के लिए प्रेरित करना, उनके लेखो को सशोधित करके प्रकाशित करना, आगे लिखने के लिए उन्हे प्रोत्साहित करते रहना। मुझे याद आ रही है, जब द्विवेदी जी 'सरस्वती' की वैतनिक सेवा से मुक्त हो चुके तो प्रयाग में उनका अभिनदन करने के लिए एक सार्वजनिक समारोह हुआ जिसमें प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डा० गगानाथ झा ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। गगानाथ जी सस्कृत के प्रकाड पडित थे। हजारो अँग्रेजीदा भारतीय उनके चरण स्पर्श करके कृत-कृत्य होते थे। भरी सभा में उन्होने द्विवेदी जी के चरण स्पर्श किए, कहा कि वह सस्कृत के पडित रहे हो, परतु उन्हें हिंदी लिखना द्विवेदी जी ही ने सिखाया

था। अपने गुरु-भाइयो में मुझे कई शुभनाम याद आ रहे हैं। परतु तीन ही का उल्लेख करना है। मैथिलीशरण जी गुप्त राष्ट्र-कवि है, श्री प्रकाश जी ने कई राज्यो के राज्यपाल रह कर हाल ही में हिंदी साहित्य समेलन की अध्यक्षता ने मुक्ति प्राप्त की है, और हरिभाऊ जी उपाध्याय स्वातत्र्य सघर्ष में भली-भाँति तपकर अव राजस्थान के शिक्षा-मत्री है। द्विवेदी-युग के पहले हिंदी की व्रज अथवा अवधी वोलियो में ही काव्य रचना का चलन था। द्विवेदी जी स्वय ऊँचे दरजे के कवि न थे। परतु 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होने खडी वोली में काव्य-रचना प्रोत्साहित की और स्वतत्र भारत में राष्ट्रकवि का आसन उन गुरुभाई ही को मिला है जो द्विवेदी जी की प्रेरणा से खडी वोली ही मे काव्य-रचना करते रहे है।

श्री प्रकाश जी उन भारतीय विद्वानो के प्रतीक है जिन्होने पाश्चात्य और प्राच्य साहित्यो की समन्वित निधि हिंदी को प्रदान की है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी इस समन्वय के प्रेरक थे। नाटक, कविता, आलोचना और कहानी जैसे ललित साहित्य के विभिन्न अगो पर पाश्चात्य विचार और शैली की जो छाया हमें आज हिंदी साहित्य में दीख पडती है उसके प्रथम प्रेरक द्विवेदी जी ही थे।

द्विवेदी जी ने स्वय किसी राजनीतिक आदोलन में सक्रिय भाग नही लिया। परतु तत्कालीन ब्राह्मण-वृत्ति के अनुकूल वह सादी जीवनचर्या, सतोप और श्रम के अभ्यस्त थे। यही गुण उन्होने उन साहित्यिक भक्तो को प्रदान किए जो उनके सपर्क में आए। द्विवेदी जी रायवरेली जिले के गगातटवर्ती दौलतपुर के निवासी थे। यह ग्राम आज भी रेल और सडक से यथेष्ट दूर है। अपने वाल्यकाल में द्विवेदी जी पढने के लिए रायवरेली के किसी विद्यालय में भरती हुए। छह दिन रायवरेली रहते थे। शनिवार को पैदल चलकर छह दिन का आटा दाल लेने के लिए दौलतपुर पहुँचते थे और दूसरे दिन सिर पर रसद रखकर उसी प्रकार पैदल रायवरेली पहुँच जाते थे। उन्हें रोटी वनानी नही आती थी, तो उवलती दाल में गुँधे आटे की लोई डाल देते थे। इस कठोर जीवनचर्या के मध्य उन्होने ज्ञानार्जन किया और कालातर में उनके पास साहित्यिक सेवा के पैसे भी आए तो उन्हें जोडना उन्होने नही जाना। अतिम यात्रा के पहले अपनी सव निधि नागरी प्रचारिणी सभा तथा काशी विश्वविद्यालय को दे गए।

'सरस्वती' में मेरे प्रथम लेख के प्रकाशित होने पर द्विवेदी जी पत्रो द्वारा मुझे आलोचनात्मक लेख भेजने के लिए प्रोत्साहित करते थे और मै लेख भेजता जाता था। मैने सोचा मेरा एकलव्य वने रहना ठीक नही, अपने आचार्य के दर्शन भी करूँ। उन दिनो द्विवेदी जी कानपुर रहते थे। मै दर्शनार्थ पहुँचा। आचार्य का चित्र ही देखा था। साक्षात् होने पर मुझे वह ऋषि तुल्य लगे—घनी मूँछें, सुगठित काया और स्नेह सिक्त आँखें। चरण स्पर्श करने पर वोले, "हम तो समझत रहे कि वुजुरुग हुइ हौ, तुम तो लरिकै हौ"। तव से वह मेरे हृदय मे पितृदेव के आसन पर प्रतिष्ठित हुए। तत्पश्चात् लखनऊ के कालीचरण विद्यालय में मेरे प्रधानाध्यापक होने पर वह एक वार मेरे निवासस्थान पर पधारे। फिर कई वर्ष पश्चात् जव उत्तरप्रदेशीय हाई स्कूल तथा इटरमीजिएट वोर्ड की हिंदी समिति का प्रधान हुआ तो द्विवेदी जी का आशीर्वाद लेने दौलतपुर पहुँचा। मै तो उनकी चरण सेवा एक दिन मे अधिक नही कर सका। परतु गुरुभाई हरिभाऊ जी को यथेष्ठ काल तक उनके सत्सग का लाभ प्राप्त हुआ। यो ही तो वह स्वातत्र्य-सघर्ष की तपश्चर्या के लिए प्रशिक्षित हुए और आज राजस्थान की शिक्षानीति का नेतृत्व कर रहे है।

द्विवेदी जी की जन्म तिथि के आज सौ वर्ष होते है। इस अवधि के भीतर हिंदी परतत्र भारत की एक उपेक्षित वोली से उठकर स्वतत्र भारत की राष्ट्र भाषा के पद पर मान्य हुई है। उसे इस पद तक पहुँचाने में आचार्य द्विवेदी जैसे हिंदी सेवियो का भारी योग रहा है। अतएव इन स्वर्गीय आचार्य के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करना तो हमारा कर्तव्य है ही, इसके आगे हम पर उस कठिन और लवी सेवा का दायित्व भी आता है जिसके परिणामस्वरूप हिंदी का वैधानिक पद वास्तविक हो जाए। मेरे जैसे द्विवेदी जी के अधिकाश शिष्य अपनी जीवन यात्रा की अतिम मजिल पर है। परतु गुरु-ऋण से उऋण होने का हमारे सामने अव भी वही कर्तव्य मार्ग है जो आचार्य द्विवेदी जी अपनी कथनी और करनी से हमें दिखा गए है।●

'एक हृदय हो भारत-जननी'

के० पिच्युमणि

रात ग्यारह वज चुके थे। घर के अदर कदम रखते ही देखा था कि एक महापुरुष—सचमुच सार्थक शब्द मे महापुरुष आराम-कुर्सी पर बैठे मेरे भतीजे के साथ वात कर रहे थे। मैंने उन्हें दडवत् प्रणाम किया। हिंदी-ससार में कौन ऐसा व्यक्ति है कि उन्हें न जाने, अनादर करे ? हिंदी-साहित्य को खडी वोली में जो आदर-सम्मान मिल रहे है, उन मव को जन्म देने वाले महापुरुष वे ही थे ? हाँ, मैं साक्षात् हम सवके आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के समक्ष खडा था ।

'कव तक आप लोग अँग्रेजी मे ही काम करते रहेंगे ?"—सहसा उनके मुख से यह सवाल उठा।

'मै क्या करूँ बाबू जी ? यथा राजा तथा प्रजा'। मुझ से अँग्रेजी में काम करने को कहा गया है, जनता के साथ उस वोली का सपर्क रहे या न रहे, मुझे तो इस पापी पेट के वास्ते अँग्रेज़ी में ही सव काम निभाना पडता है। अगर मुझ से यह कहा जाए कि आज से सव काम हिंदी मे ही हो जाएँ, मै खुशी-खुशी और भी दक्षता के साथ अपने काम सभालूंगा, स्वतत्र भारत का सचमुच स्वतत्र सपूत होने का गर्व कर सकूँगा।

"यह वात है ? परतु मैंने सुना है कि आप लोग सरकारी कार्यालयो मे अँग्रेज़ी को ही जारी रखना चाहते है"—आचार्य जी का पुन प्रश्न निकला।

"यह वात गलत है वाबू जी, हम यही चाहते है कि अपनी राष्ट्र-भाषा में काम करने का मौका जल्दी से जल्दी आ जाए, ताकि हम लोग भारत की जनता के साथ सच्चा-सीधा सपर्क कर ले और इस अँग्रेज़ी के वातावरण से विमुक्त हो जाएँ"—मैंने हाथ जोडकर निवेदन किया।

"तुम्हारी वात सही है, लेकिन दक्षिण-भारत के वहुतेरे लोग तो शायद तुम्हारी वात को नही मानेंगे"—आचार्य जी ने अपनी शका प्रकट की।

"बाबू जी, यह वात भी गलत है, वैसा एक कृत्रिम वातावरण कुछ स्वार्थी लोगो ने वना रखा है; जो मैं, छोटा व्यक्ति इस वात का निवेदन कर रहा हूँ, उसी दक्षिण से ही आया हूँ। मेरी यह प्रार्थना है कि अगर हमारा सपूर्ण-प्रभुत्व सपन्न गणराज्य आज से, अभी से हिंदी को राज-भाषा के सिंहासन पर पदाभिषित करे, यह सारा गंदा वातावरण अपने आप दूर हो जाएगा।" मैंने विनती की।

"तो मै आज अपने प्रधान-मत्री से मिल कर कुछ न कुछ अवश्य करूँगा—" खडी वोली के प्रकाण्ड पडित के मुख मडल से यह वाणी निकल पडी। 'धन्योऽस्मि', 'धन्योऽस्मि' वोलते हुए मैं नाचने लगा।

"क्या हुआ आपको ? क्यो इस तरह सोते-सोते हँस रहे है ? आज दफ्तर जाने का विचार है कि नही"—अपनी सहधर्मिणी की मधुर ध्वनि सुनकर विस्तर से उठ बैठा। हाँ, मेरे हाथ में टाइम्स आफ इण्डिया वैसा ही पडा था, जिसमें केंद्रीय हिंदी निदेशालय की तरफ से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के स्मारक-ग्रथ के वारे में एक विज्ञापन छपा हुआ था।

हाँ, सुप्रभात का सुदर स्वप्न था। अत आशा है कि जल्दी ही हिंदी राजभापा के सिंहासन पर पदाभिपित की जाएगी।●

"एकः शब्द : सम्यग्-ज्ञातः सुष्टु प्रयुक्तः· · ·"

(अग्नि पुराण)

विश्वनाथ प्रसाद

प्रतिभा के शीशमहल में द्विवेदी जी का वह कौन सा एक अद्वितीय मूल रूप था, जो उनके कृतित्व के नाना रूपो, नाना रंगो के प्रतिविंवो में झलक रहा था? निश्चय ही वह उनका शैलीकार-रूप था। चाहे गद्य हो चाहे पद्य, चाहे निवंध हो चाहे समालोचना, चाहे शास्त्रीय विवेचना हो चाहे सपादकीय टिप्पणी, सव मे उनका वही व्यापक रूप प्रतिफलित था। यदि "सूर सूर तुलसी ससी" वाली उक्ति की आलकारिक शैली का अनुसरण किया जाय तो कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी साहित्य के आकाश में शैली के शशि दो हुए—एक तो भारतेंदु और दूसरे प्रेमचंद, जिनमे से एक को चाहें तो दुर्जनहास्य से अछूता वालचद्र कह लें और दूसरे को पूर्णचद्र। परतु शैली का सहस्राशु सूर्य यदि कोई हुआ तो केवल महावीरप्रसाद द्विवेदी, और कोई नही।

आज हिंदी भाषा का जो रूप प्रचलित है, उसे परिमार्जित करने में द्विवेदी जी का योगदान सर्वोपरि माना जाता है। द्विवेदो जी निवधकार, आलोचक, सपादक और कवि के रूपो मे किस रूप में अपेक्षाकृत अधिक पटु थे और किसमें कम, यह कहना कठिन है। वास्तव में स्वयम् लेखक, आलोचक, सपादक और कवि होने के साथ-साथ द्विवेदी जी इन सभी विधाओ के प्रेरणास्रोत थे। हिंदी गद्य और पद्य के रूप को सँवारने में जैसा अनवरत श्रम द्विवेदी जी ने किया, वैसा किसी अन्य साहित्यकार ने नही।

भारतेंदु-युग में पदय की भाषा व्रज और गदय् की खडी बोली थी। कविता के लिए खडी बोली के प्रयोग को परम्परा द्विवेदी युग में ही आरभ हुई। द्विवेदी जी ने अनेक कवियो को खडी बोली में कविता करने के लिए प्रोत्साहित किया।

इसके अतिरिक्त हिंदी में आलोचनात्मक निवधों का सूत्रपात द्विवेदी जी की ही देन है। उनकी "कालिदास की आलोचना" नामक पुस्तक हिंदी में काव्यालोचना-विषयक संभवत सर्वप्रथम पुस्तक है। इस पुस्तक के मूल्याकन से यह वात समझ में आ जाती है कि दविवेदी जी की आलोचक-दृष्टि कितनी पैनी थी।

पाश्चात्य विद्वानो ने आलोचना के प्रथम दो प्रकार माने है — निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक। निर्णयात्मक आलोचना में आलोच्य विषय के गुण-दोषो का विवेचन करके उसका मूल्य निर्धारित किया जाता है। व्याख्यात्मक आलोचना मूल्य निर्धारण नहीं करती, वल्कि आलोच्य विषय में प्रस्तुत विचारो, भावो और तथ्यो को व्यवस्थित क्रम में रखकर उनका स्पष्टीकरण करती है। इसीलिए व्याख्यात्मक आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है। सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखते हुए तथा प्रचलित मान्यताओ से आलोच्य विषय की सगति वैठाते हुए और स्वीकृत मान्यताओ के आधार पर उसके औचित्य को परखते हुए जो विश्लेषण किया जाता है वही व्याख्यात्मक आलोचना है। ऐसी आलोचना को 'ऐतिहासिक समीक्षा' भी कहा जा सकता है।

दविवेदी जी की आलोचना-शैली को प्रधानतया निर्णयात्मक कहना ही उपयुक्त होगा। वे किसी भी रचना के भाषा-सवधी दोषो को चुन-चुन कर दिखाना खूव जानते थे। यदि निरपेक्ष भाव से देखा जाए तो इस दोष-दर्शन की प्रवृत्ति में हिंदी भाषा का हित ही निहित था।

किसी भी रचना के दोषो की सयत पर चुभती हुई आलोचना द्विवेदी जी के प्रखर व्यक्तित्व की परिचायक थी।

दुनिया में काम किए विना तो किसी का काम नही चलता, लेकिन यह सामान्य अनुभव की वात है कि अधिकतर लोग काम को वेगार समझकर करते है। द्विवेदी जी ऐसे नही थे। उनके लिए छोटे से छोटा काम एक साधना होता था। हिंदी के लिए उन्होंने जो कुछ किया, वह उनके मनोयोगपूर्ण अध्ययन और चिंतन का फल था।

'सरस्वती' में प्रकाशन के लिए प्राप्त प्रत्यक रचना को जब तक द्विवेदी जी तवीयत भरकर मांज न

डालते थ तवतक चैन नही लेते थे। किसी रचना का स्तर उनके मान से जब तक 'सरस्वती' के अनुकूल न हो जाता तब तक वह रचना 'सरस्वती' में छप नही पाती थी। द्विवेदी जी को इन रचनाओ के लिए जी-तोड परिश्रम करना पडता था। उनके लिए शब्दो और मुहावरो का ही नही, अक्षर-अक्षर का महत्व था। कौन सा शब्द कहाँ उपयुक्त होगा ? कौन सा वाक्य भाव को उलझाता है ? किस मुहावरे में दम-खम है, किस में नही है ? इन वारीकियो में वे तवतक खोए रहते थे, जवतक उनका समाधान न हो जाता । हिंदी के सवध में अग्नि-पुराण की इस सूक्ति का जैसा महत्त्व द्विवेदी जी ने जाना, वैसा अन्य किसी ने नही—

"एक शब्द सम्यग् ज्ञात. सुष्ठुप्रयुक्त
स्वर्गेलोके कामधुग् भवति ।।"

यही उनका शाश्वत आदर्श रहा ।

द्विवेदी जी को यद्यपि सस्कृत का अच्छा ज्ञान था फिर भी वे दुर्वोध सस्कृत-गर्भित खडी-वोली के अनुयायियो में से न थे। वे मानते थे कि हिंदी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ नही है। अरवी-लिपि में लिखी जाने के कारण जो लोग उर्दू को हिंदी से भिन्न मानते है, वे भूल करते है। अपने जमाने में प्रचलित भापा-रूपो को देखकर द्विवेदीजी ने खडी-वोली की पाच शैलियाँ स्थिर की थी —

(1) मुशी-शैली . मुशी, पडित और मौलवियो के वीच की हिंदी,
(2) मौलवी-शैली . . अरवी-फारसी शब्दो से युक्त हिंदी,
(3) पडित-शैली . सस्कृत-गर्भित कठिन हिंदी;
(4) यूरेशियन-शैली . . विभिन्न भारतीय भाषाओ अथवा विदेशी भाषाओ के शब्दो की प्रचुरता वाली हिंदी,
(5) यूरोपियन-शैली . . अँग्रेज़ी के आगत-अनागत शब्दो से भरी हिंदी।

इनमें से द्विवेदी जी स्वय किस शैली के हिमायती थे, यह उनके द्वारा प्रणीत या सपादित कृतियो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है ।

चाहे किसी भाषा का शब्द क्यो न हो, यदि वह भाव-वहन में समर्थ है तो उसे अपनाने में द्विवेदी जी तनिक भी नही हिचकते थे। भाषा के सवध में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी थी।

सामान्यत द्विवेदी जी ऐसी भाषा के पक्षपाती थे, जो जनसाधारण के लिए उपयुक्त हो। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए वे वडे से वडा त्याग करने को तत्पर थे। उनकी रचनाओ में पुनरुक्ति दोष वताया जाता है । ठीक भी है । लेकिन यदि अपनी बात समझा-समझा कर कहनी हो, अपने पक्ष के समर्थन के लिए मत-सग्रह करना हो, जो अभिप्राय को समझने में असमर्थ है, उनके मन में अपनी वात बैठानी हो तो इसके लिए दूसरा तरीका नही हो सकता । देखना यह है कि द्विवेदी जी की पुनरुक्ति में—बात को दुहरा-दुहरा कर कहने की प्रवृत्ति के पीछे कौन सी विचारधारा काम करती थी ? भाषा को सहज और सुवोध वनाने का उद्देश्य ही तो। वह चाहते थे कि भाषा विषय और प्रसग के अनुरूप हो। साथ ही यह कि वह श्रोता या बोद्धा या पाठक रूप में विद्यमान साधारण जनता के भी अनुकूल हो।

द्विवेदी जी द्वारा प्रणीत विविध साहित्य का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शैली के व्यक्ति-परक और विषय-परक भेदो में से वे निर्वैयक्तिक शैली के सिद्धात के ही समर्थक थे।

'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ प्राप्त रचनाओ का सपादन करते समय वहुधा यह होता था कि मूल-लेखक का व्यक्तित्व उसकी रचना से विल्कुल अलग हो जाता था और द्विवेदी जी के सशोधनो के आलोक में वे रचनाएँ निर्विकार चमक उठती थी। श्री प्रकाश जी ने टीक ही वताया है कि द्विवेदी जी इस वात से सहमत न थे कि लेखक का व्यक्तित्व उसकी रचनाओ में झलकता हो। वस्तुत. शैली का यही मूलतत्व है, जिसे विरले ही समझ पाए है।

दुर्भाग्यवश शैली के विषय में यह भ्रात धारणा फैल गई है कि व्यक्ति ही शैली है अथवा शैली ही व्यक्ति हैं। अँग्रेज़ी मे 'द स्टाइल इज़ द मैन' यह एक प्रसिद्ध उक्ति है जो वहुधा उद्धृत की जाती है और जो फ्रेंच की इस

उक्ति का अनुवाद है—"ल स्तील ल आम"। ब्यूफो (Buffon) नामक आलोचक ने एक पुस्तक की शैली का विश्लेषण करते हुए लिखा था कि उस पुस्तक के लेखक ने उसे आद्योपात अपने व्यक्तित्व के रग में रग डाला था। व्यक्ति स्वयं शैली वन गया था। उन्होने इस प्रवृत्ति की सराहना नही, निंदा ही की थी। परतु ब्यूफो के उस वाक्य को इस प्रकरण से विच्छिन्न करके लोग उसे दूसरे ही अर्थ मे उद्धृत करने लगे, यहाँ तक कि उसी को शैली का लक्षण वना डाला। ब्यूफो के इस प्रकरण-विच्छिन्न वाक्य के अनर्थ की चर्चा करते हुए एक शैली तत्वज्ञ ने इसकी तुलना सर्प के विप-दंत से की है। सचमुच ही शैली के विषय में इस भ्रामक मत ने अभिव्यक्ति-कला के समस्त सैद्धातिक वातावरण को विपाक्त वना डाला। यह कैसी विडवना है कि व्यक्तित्व का पक्ष जो शैली के विकास का साधक नही वाधक है, वही उसका मुख्य अश वन गया और जो तन्मनस्कता का गुण शैली का प्रधान तत्व है वह वन गया उसका उपेक्षणीय पक्ष। वस्तुत. शैली के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि लेखक या कवि अपने विषय में अपने को विल्कुल डुवो कर, अपने आप को विल्कुल भुला कर, रम जाए। विषय के वर्णन में आत्मविभोर हुए विना शैली का निखार कहाँ! शैली तो सदा विषय, प्रकरण और प्रसग के अनुरूप रूप ग्रहण करती है। शैलीकार तो अपने व्यक्तित्व का होम करके ही, अपने को विल्कुल खपा करके ही वातावरण के स्वरूप अथवा स्वानुभूति का यथावत् अकन कर पाता है। कलाकार की साधना का लक्ष्य व्यक्तित्व का प्रदर्शन नही, वल्कि उसका गोपन है। यह ठीक है कि लाख छिपाने का प्रयास करने पर भी दुर्दमनीय व्यक्तित्व किसी-न-किसी रूप में उभर आता है। फिर भी उसे शैली का लक्ष्य तो नही माना जा सकता। उसे तो वरावर कला के कावू में ही रखना पडता है अन्यथा वह सतुलन का विघ्न ही वनता है। जहाँ व्यक्तित्व का पक्ष ही प्रधान वन जाता है वहाँ शैली नही, 'वस तर्ज़े अदा', वस कहने का ढंग-मात्र या शव्दो की कोरी कवायद भर देखने को मिलती है, जिसे अँग्रेज़ी में 'मैनरिज़म' कहते है। हिंदी के वहुतेरे लेखक जो भ्रमवश शैलीकार माने जाते है या स्वय शैलीकार होने का दम भरते है, वस्तुत ऐसे ही 'मैनरिजम'-ढग-मात्र के उस्ताद है। विपय चाहे कुछ भी हो, प्रसग चाहे कुछ भी हो, हम तो अपने मन का ही अलापते जाएँगे, मनमाने शव्दो का मायाजाल विछाते जाएँगे। व्यक्तित्व के वोझ से लदी हुई यह वेढगी ढगवाजी शैली नही, शैली का निषेध ही है।

द्विवेदी जी की शैली में यह दोप आप कही नही पाएँगे। उनकी शैली सर्वत्र व्यक्तित्व–निरपेक्ष और वस्तु-निष्ठ है। वे शैली के मर्मज्ञ थे, उसका मूल रहस्य जानते थे और इस विषय में सदा जागरूक रहते थे। इसीलिए उनकी शव्द-योजना के द्वार सभी तरह के शव्दो के लिए खुले रहते थे। विपय, प्रसग, परिस्थिति और प्रकरण के अनुसार जव जिस प्रकार की शव्दावली उचित जँची उसी का व्यवहार किया। इसी कारण उनकी भाषा-शैली के अनेक रूप मिलते है। कही म्युनिसिपैलिटी आदि जैसे सामयिक विषयो पर टीका-टिप्पणी का प्रसग आया तो अरवी, फारसी, अँग्रेज़ी आदि के आमफहम चलते आगत शव्दो की भरमार है। कही तात्त्विक विवेचना है तो सस्कृतप्राय गुरु गंभीर शव्दावली का प्रयोग है, कही कुछ नए विवरण देने है तो तदनुरूप सरल सुवोध शव्दो तथा छोटे-छोटे सरल वाक्यो की योजना है। द्विवेदी जी की शैली का यह लचीलापन, यह तरल अनुरूपण-क्षमता अनुकरणीय है।

शैली के इसी गुण के कारण वे आधुनिक युग के अधिष्ठाता वने और इस विशेष युग का नामकरण हुआ 'द्विवेदी-युग'। इतने लवे समय के वीच, इतिहास-पृष्ठ पर खचित द्विवेदी जी की दिगत-छाया में उनकी यह दूर-दर्शिता प्रतिभासित है कि हिंदी का रूप वही होना चाहिए, जो सवके लिए ग्राहय हो और जो देशवासियो के वीच भाव की समता और एकता स्थापित कर सके। द्विवेदी जी ने सौ साल पहले इसे समझ लिया था और उसपर अमल करने का सफल प्रयास किया।

संविधान के अनुच्छेद 351 में हिंदी को जिस रूप में ढालने का उल्लेख किया गया है, उसकी नीव द्विवेदी जी ने रखी थी।

द्विवेदी जी के इस पुनीत अनुष्ठान में निरतर योगदान देकर ही हम उनके प्रति सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित कर सकते है।

आचार्य की स्मृति

जगदीश चतुर्वेदी

[वाराणसी के नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय में
द्विवेदी जी की मूल पांडुलिपियाँ देखकर]

●

पुस्तको के अवार, असख्य पाडुलिपियाँ
सधे वँधे से अक्षरो के चर्द पुलिंदे
और 'सरस्वती' के साठ वर्ष पुराने अंक,
नागरी-प्रचारिणी के पुस्तकालय कक्ष में
आचार्य की स्मृति
यकायक कौंध गई है
और घनी श्वेत मूछो वाला एक दिव्य पुरुष
वैठ गया है सामने की लवी, जर्जरित कुर्सी पर आकर—
निर्निमेप, चिंतातुर !
युग को सास्कृतिक चेतना का सदेश देने !

वे स्वय चेतना-पुज थे—
एक युग थे
और उनसे उत्प्राणित होता था
तत्कालीन साहित्य का भविष्य
वे भविष्य द्रष्टा थे : स्वयभू थे—
अतः सही अर्थो में आचार्य थे।

आचार्य—
एक सौम्य व्यक्तित्व,
एक वौद्धिक चेता कर्मठ पुरुष,
एक दार्शनिक, चिंतक और मनीषी का सपुजित रूप।

और यह सपुजित रूप
एक आदर्श वन गया था
द्विवेदी- जी में।
—और उस आदर्श की रक्षा करते थे
उनके विचारो से प्रसूत लेखनियो के आगार।

आज सरस्वती का यह वरद पुत्र
हमारे वीच नही है
पर हमें दे गया है उपहार :
मैंथिली, प्रसाद और प्रेमचद से कृतिकारो का!

आज नागरी प्रचारिणी सभा का यह मौन
कही अवतरित हो रहा है
दिव्य मूर्ति में—
और वह मूर्ति आचार्य द्विवेदी की है।

द्विवेदी जी
जो अपने मे एक काल थे
एक युग-एक कालजयी

उनकी स्मृतियो को, भापा—दिग्दर्शन एव
परिष्कारो को
प्रणाम—
माँ भारती के उस वरद पुत्र को अभिनदन।

●

पुष्पांजलि

भक्त दर्शन

आचार्य पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन, उनकी साहित्य-सेवाओ और उनके हिंदी प्रेम के सवध मे विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है। द्विवेदी जी वास्तविक अर्थो मे आचार्य थे। हिंदी विश्वविद्यालय यदि उन्हे आनरेरी 'डाक्टर आफ लेटर्स' की उपाधि देता तो उन्हे समानित नही करता, वल्कि स्वय समानित होता। द्विवेदी जी ने आचार्य का पद किसी के देने से प्राप्त नही किया था, वल्कि स्वय अपनी योग्यता, परिश्रम और अध्यवसाय से अर्जित किया था। वे सच्चे अर्थो मे हिंदी-साहित्य के भीष्म पितामह थे। उन्होने अनेक लेखको और कवियो को वनाया और प्रोत्साहित किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनके प्रेरक प्रभाव के ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते है। मै 'प्रताप' के सपादक गणेशशकर विद्यार्थी का उल्लेख इस प्रसग मे पर्याप्त समझता हूँ। विद्यार्थी जी ने अपने सस्मरणो और लेखो मे स्वीकार किया है कि उन्होने पत्रकारिता का ज्ञान आचार्य द्विवेदी जी के चरणो मे वैठकर प्राप्त किया।

यदि हम यह सकल्प करे कि हिंदी को समृद्ध वनाने और उसे उसका अधिकारपूर्ण स्थान दिलाने मे कोई कमी न रखेंगे तो यही हमारी द्विवेदी जी के प्रति सवसे वडी श्रद्धाजलि होगी।

इस वात में कोई सदेह नही कि उचित समय के भीतर हिंदी अपना स्थान प्राप्त कर लेगी। यद्यपि उनके मार्ग मे अनेक अडचनें है, तो भी निराश होने की आवश्यकता नही है।

हिंदी के उत्थान में हिंदी भाषियो की अपेक्षा अहिंदी भाषी क्षेत्रो ने कही अधिक काम किया है। दक्षिण के कुछ भागो मे यद्यपि खुले प्लेटफार्म पर हिंदी का विरोध किया जाता है और यह कोशिश की जाती है कि हिंदी के

द्विवेदी जन्मशती समारोह के अंतर्गत काशी नागरी प्रचारिणी सभा में आयोजित श्रद्धाजलि सभा में उप-शिक्षा मंत्री माननीय भक्तदर्शनजी अध्यक्षीय भाषण देते हुए।

उपयोग की अवधि कुछ और आगे बढा दी जाए तथापि वास्तविक स्थिति यह है कि वहाँ जो हिंदी का विरोध और अंग्रेज़ी का समर्थन करते है, वे ही अपने बच्चो को घर मे हिदी बोलना और पढना सिखाते है। इतना ही नही, वे सब स्वय भी गभीरता के साथ हिंदी का अध्ययन करते है। इसके विपरीत हिंदी-भाषी क्षेत्रो की स्थिति यह है कि घरो और कार्यालयो में हिंदी के स्थान पर अंग्रेजी का मनमाना प्रयोग किया जाता है। मच से और समाचार पत्रो के जरिए लोग हिंदी का नारा बुलद करते है, फिर भी हिंदी को पूरी तरह राजभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित नही किया जा सका, क्योकि हिंदी के नेता स्वय अपना काम हिंदी में नही करते। वास्तव में हिंदी की जितनी क्षति ऐसे लोगो के द्वारा की जा रही है, उतनी अन्य लोगो के द्वारा नही। दूर जाने की आवश्यकता नही। दिल्ली में, जो देश की राजधानी है और जहाँ चौबीसो घटे हिंदी का व्यवहार होता है, व्यवसाइयो के साइन-बोर्ड अंग्रेज़ी में है। काशी में जो हिंदी का गढ़ मानी जाती है, एक साइन बोर्ड पढने में आया—उसमें लिखा था —"एक्षिक रक्तदाता केंद्र"। इस 'एक्षिक' केंद्र से हिंदी का क्रन्दन 'अनिवार्य' ही सुनाई पडा ऐच्छिक नही। यह लज्जा की बात है। इसमें संदेह नही कि हिंदी को उसका अधिकारपूर्ण स्थान दिलाने में हमें धैर्य और सयम से काम लेना होगा। हिंदी इस देश की बहुमत की भाषा नही है। वह इस देश के 40 प्रतिशत निवासियो की मातृभाषा है। देश की

संविधान-मान्य चौदह भाषाओ को बोलने वालो में हिंदी का उपयोग करने वालो की सख्या सबसे अधिक है। भारत वर्ष के उन 40 प्रतिशत निवासियो के अतिरिक्त जो हिंदी को मातृ-भाषा के रूप मे मानते हैं, 30–40 प्रतिशत लोग ऐसे भी है जो हिंदी बोल लेते है, समझ लेते है और बिना परिश्रम के अपने विचारो का आदान-प्रदान कर लेते हैं। इनमें ऐसे लोग भी है, जो बिना पढे-लिखे है, फिर भी हिंदी जानते हैं। इस गणना में वे भी शामिल हैं, जो असम, बगाल, उडीसा, गुजरात, कश्मीर, महाराष्ट्र और पजाब के निवासी हैं। इसीलिए हिंदी सबसे अधिक समझी और बोली जाने वाली भाषा है। 70-75 प्रतिशत भारतवासी इसे समझते है, फिर भी 25-30 प्रतिशत ऐसे भी लोग है, जिनके लिए हिंदी कठिन है। हमें उनकी कठिनाई का ध्यान अवश्य रखना होगा। दूसरी बात जिसका हमे ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि हिंदी एक साधन है, साध्य नही। हिंदी के द्वारा हम सारे देश को एक सूत्र मे पिरोना चाहते है। हम उसे औरो पर थोपना नही चाहते। यदि कही भी यह भ्रम हो कि हिंदी के विकास मे लोगो को धक्का लगेगा, उन्हें हानि पहुँचेगी, तो हमे इसके निराकरण का उपाय सोचना चाहिए।

केंद्रीय सरकार ने हाल ही में यह निश्चय किया है कि अगले वर्ष से अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाएँ व अन्य केंद्रीय सेवाओ में हिंदी माध्यम को छूट दी जाएगी। साथ ही यह शर्त भी है कि अहिंदी भाषी लोगो को इस निश्चय के कारण हानि न हो। हो सकता है हिंदी माध्यम की कठिनाई के कारण परीक्षार्थियो की वास्तविक योग्यता के प्रकट होने मे शका रहे। इसीलिए सघीय लोक सेवा आयोग से कहा गया है कि वह एक मोडरेशन का फार्मूला निकाले, ताकि माध्यम की सुविधा-असुविधा का असर परीक्षार्थियो के परीक्षा-फल पर न पडे। ऐसा फार्मूला बनाए जाने पर ही हिंदी माध्यम को छूट दी जाएगी। मेरा अनुमान और विश्वास है कि जिस दिन विद्यार्थियो और अध्यापको को यह मालूम हो जाएगा कि हिंदी माध्यम के द्वारा वे अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाओ मे बैठ सकते है, उसी दिन से विश्वविद्यालयो का वातावरण बदल जाएगा।

केंद्रीय शिक्षा मत्रालय हिंदी को समृद्ध करने से विचार के हिंदी में ऊँची से ऊँची कक्षाओ के लिए पाठ्य-पुस्तके तैयार करने में सलग्न है। हिंदी सेवी सस्थाओ और हिंदी माध्यम को अपनाने वाले विद्यालयो को प्रोत्साहन देने के सबध मे भी मत्रालय पहले से अधिक प्रयत्नशील है। हिंदी के प्रसार के लिए योजना आयोग से धनराशि प्राप्त हुई है। अहिंदी क्षेत्रो मे हिंदी के प्रसार के लिए और हिंदी सेवा सस्थाओ को बढावा देने के लिए भी सहायता मिली है। डा० दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता मे मत्रालय ने एक आयोग सगठित किया है, जो वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का निर्माण कर रहा है। इस आयोग ने बी० एस—सी० स्तर तक की शब्दावली तैयार कर ली है और आशा है कि दो वर्षो मे एम० एस—सी० स्तर की शब्दावली भी तैयार कर ली जाएगी।

हिंदी के विकास और प्रसार से सबधित काम के लिए मत्रालय ने सन् 1960 मे केंद्रीय हिंदी निदेशालय की स्थापना की थी। निदेशालय द्वारा अनेक योजनाएँ चलाई जा रही है। विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तको का लेखन, अनुवाद और प्रकाशन किया जा रहा है। प्रकाशको के सहयोग से बालकोपयोगी साहित्य और वैज्ञानिक लोकप्रिय पुस्तक के प्रकाशन का कार्य भी चालू है। निदेशालय 'भाषा' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित करता है। इसके द्वारा बडे काम हो रहे है और अहिंदी भाषी क्षेत्रो मे इसका बडा प्रचलन है। हमने प्रयत्न किया था कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती के अवसर पर एक विशेष डाक-टिकट जारी किया जाए। मुझे खेद है कि समयाभाव के कारण यह इस वर्ष सभव नही हो सका। आगामी वर्ष यह डाक-टिकट निश्चित तिथि पर अवश्य ही जारी किया जाएगा।

[द्विवेदी जन्मशती के अवसर पर मई, 1964 में दिए गए अध्यक्षीय भाषण का सारांश]

द्विवेदी-जन्मशती समारोह

इंदुकांत शुक्क

"आधुनिक हिंदी" के भीष्मपितामह स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती समारोहपूर्वक वर्ष भर मनाने का निश्चय कर नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ने हिंदी भाषा और साहित्य पर द्विवेदी जी के अशेष ऋण का स्मरण और उनकी पुण्यस्मृति में श्रद्धासुमनार्पण अपना परम पुनीत कर्तव्य समझा। सभा का यह विश्वास सही निकला कि उसके द्वारा आयोजित यह जन्मशती समारोह हिंदी के साहित्यकारो तथा अध्येताओ का उस महामना के प्रति सभवत जयघोष है। कहना न होगा कि सभा को इस पावन अनुष्ठान में देश के कोने-कोने से हिंदी हितैषियो द्वारा जो प्रोत्साहन, समर्थन, सहयोग एव सुझाव मिले उन्ही के पूजीभूत बल पर यह यज्ञ, इतने उल्लास और निष्ठा के साथ प्रारभ हुआ तथा उसके प्रथम चरण का समापन बडे भव्य रूप में 15 मई 1964 को सभा के प्रागण मे आचार्य द्विवेदी की कास्य प्रतिमा का प० सुमित्रानदन जी पत द्वारा अनावरण के साथ हुआ।

सभा से आचार्य द्विवेदी का बहुविध और सुदीर्घ सबध था। द्विवेदी जी के अनेक उपकारो और दानो से सुसपन्न तथा कृतज्ञ सभा के लिए यह अवसर अनेकश स्पृहणीय एव महार्घ था। अतएव द्विवेदी जी की कीर्ति के अनुरूप तथा उनके दाय की विशेष उत्तराधिकारिणी के रूप में हिंदी सेवा इस आद्या सस्था अपने दायित्व एव हर्ष को सहस्रगुणित रूप में अनुभव कर तदनुरूप कुछ करना चाहा।

सभा की प्रबध समिति ने अपने 18 कार्तिक, 2020 वि० के अधिवेशन में यह समारोह मनाने का प्रस्ताव पारित किया। समारोह की योजना बनाने के लिए एक मडल सघटित किया गया। लगभग तीस वर्ष पूर्व सभा द्वारा प्रकाशित 'द्विवेदी अभिनदन ग्रथ' की उज्जवल परपरा को अब एक अखिल भारतीय पर्व का रूप देना स्थिर हुआ। द्विवेदी जी के युगविधायक कृतित्व एव गभीर व्यक्तित्व की कीर्ति तथा उपादेयता जैसे भी

संवर्धित हो वह सब करने तथा कराने का निश्चय इस मडल ने अपनी कई बैठको में किया। पतजी ने अपने भाषण में श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए कहा

"लँगडाती खडी बोली को खडा करके अपने बल चलना द्विवेदी जी ने सिखलाया, उन्होंने अनेक लेखको को निखारा तथा हिंदी के सर्वांगीण विकास का पथ प्रशस्त किया। हिंदी की महती शक्ति को द्विवेदी जी ने इतना पहले पहचाना था कि उनकी मूर्ति का अनावरण भारतीय जनजागरण और एक शती के इतिहास का अनावरण है। हमारी एक शती के सघर्ष, सकट और मनोरथ उनकी प्रतिमा मे प्रतिबिंबित दीखते हैं।

विदेशी भाषा और सस्कृति का हम पर इतना प्रभाव है कि हम अपनी भाषा और सस्कृति का प्रकाश नही देख पाते। विदेशी भाषा का व्यवहार वैसा ही है जैसा अपने खेत में अन्न न उगाकर आयात हुए अन्न से काम चलाना। ठीक है कि पाश्चात्य विज्ञान ने हमारे बहिजगत् का कोना-कोना आलोकित किया है, भौतिक सुविधाएँ बढ गई है। परतु हमारे मानस के आभ्यतर का दर्शन जो प्रकाश कराए वह भारत के पास ही है। भारतीय सस्कृति आज की मरणप्राय मानवता को नवजीवन दे सकती है। भारतीय चैतन्य को विश्व मे मुखरित करने का काम हिंदी करेगी।"

सायकाल द्विवेदी जी के पत्रो, उनकी सपादित पाडुलिपियो तथा उनके द्वारा सभा को प्रदत्त विविध विषयक, तथा अनेक भाषायी पुस्तको की अमूल्य निधि की प्रदर्शनी का उद्घाटन किया श्री लक्ष्मीनारायण जी सुधाशु, अध्यक्ष, बिहार विधान सभा ने। तदनतर सभा भवन में श्रद्धाजलि समारोह की अध्यक्षता, केंद्रीय उपमत्री, शिक्षा विभाग, नई दिल्ली श्री भक्तदर्शन जी ने की। श्रद्धाजलि अर्पित करने वालो मे प्रमुख थे आचार्य बीरबल सिंह, उपकुलपति काशी विद्यापीठ, प० सुरतिनारायण मरिग जी त्रिपाठी, उपकुलपति, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, तथा प० शिवनदनलाल जी दर, कुलसचिव, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, द्विवेदी जी की प्रतिभा तथा उनकी हिंदी सेवा पर सर्वप्रथम एक सुचिंतित व्याख्यान डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी ने दिया जिन्होने इस समारोह का उद्घाटन भी किया। हिंदी प्रयोगो के सबध मे द्विवेदी जी के नियामक रूप पर एक

कुर्सी पर बैठे हुए, बाएँ से—सर्व श्री मोहकमचंद मेहरा, प्रभात शास्त्री, वाचस्पति पाठक, करुणापति त्रिपाठी, ब्रजरत्न दास, पद्मश्री रामचंद्र वर्मा, पद्मभूषण सुमित्रानंदन पंत, सुधाकर पांडेय शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढ़ब बनारसी', डा० भोलाशंकर व्यास नजीर बनारसी, एम० भारती।

सक्षिप्त किंतु सारगर्भित भाषण श्री वेढब बनारसी ने किया जिसमें उन्होंने अपने से ही संबंधित एक संस्मरण का उल्लेख किया।

श्री भक्तदर्शन जी ने अध्यक्षीय भाषण में केंद्रीय सरकार द्वारा हिंदी के हित में किए जाने वाले अनेक कार्यों का उल्लेख किया और कहा कि द्विवेदी जी हिंदी पत्रकारिता के जनक और उन्नायक थे। उनकी विद्वत्ता आचारशीलता तथा प्रतिभा से उन्हें सहज ही आचार्यत्व मिला। यह आज कल के आचार्यत्व से भिन्न कोटि का आचार्यत्व था। आज तो एम० ए० में प्रथम श्रेणी पाना दुष्कर है, परंतु आचार्यत्व (पी-एच० डी०) पाना बहुत सरल। चालीस प्रतिशत भारतीय हिंदी भाषी हैं, तीस, पैंतीस प्रतिशत और भी लोग—आसाम, बँगाल, काश्मीर, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के—हिंदी बोल समझ लेते हैं। इसीलिए इसका राजभाषा पद पाना उचित है। अंत में आपने बताया कि द्विवेदी स्मारक डाक टिकट अगले वर्ष चालू हो जाएगा।

द्विवेदी शती संबधी कुछ ऐसे भी संकल्प सभा ने किए हैं। जो द्रव्य साध्य हैं किंतु सभा इस द्रव्य संग्रह के लिए कृतसंकल्प और आश्वस्त है :—

1. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ के सस्ते संस्करण का प्रकाशन।
2. द्विवेदी जी के पत्रों का संपादन-प्रकाशन।
3. द्विवेदी ग्रंथावली का कई खंडो में सर्वसुलभ मूल्य में प्रकाशन।
4 द्विवेदी शोध-संस्थान की स्थापना जिसमें हिंदी भाषा एवं साहित्य पर शोध कराने की व्यवस्था हो।

सभा ने पत्र-पत्रिकाओं से द्विवेदी विशेषांक तथा भारत सरकार से डाक टिकट निकालने का अनुरोध किया है। इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। यत्र-तत्र द्विवेदी जी के जो शतवार्षिकी उत्सव हो रहे हैं उनसे संपर्क रख कर उनके आयोजकों को तथा पत्र-पत्रिकाओं को उचित परामर्श एवं सामग्री-साहाय्य देकर भी सभा अपना कर्तव्य पूरा कर रही है।

इस समारोह की अविस्मरणीय विशेषता थी नवीन तथा प्राचीन पंक्तियों के साहित्यकारों का संगम। द्विवेदी युगीन लेखकों जैसे पदम श्री श्री रामचंद्र जी वर्मा, श्री शांतिप्रिय जी द्विवेदी, बाबू ब्रजरत्न दास जी, श्री कृष्णदेव प्रसाद जी गौड से लेकर वर्तमान पीढ़ी तक के प्रतिनिधि साहित्यकार एवं पत्रकार एकत्रित थे। साथ ही शिक्षा-शास्त्रियों से लेकर समाज के सभी उद्बुद्ध वर्गों के अग्रणी भी संमिलित थे।

समारोह की इस विरल सफलता का सारा श्रेय सभा की निर्मल साहित्य सेवी परंपरा को है, उस परंपरा के ध्वजवाही, नवीन पीढी के साहित्यकारों को है, तथा सभा के तपोनिष्ठ और कर्तव्यपरायण मंत्री, पुराने साहित्यकार एवं विद्वान श्री पं० शिवप्रसाद जी मिश्र 'रुद्र काशिकेय' तथा उनके सहयोगियों को है, और काशी के प्राचीन-अर्वाचीन उन सभी साहित्य-सेवियों को है जिन्होंने प्रतिमा के पीठिका-मंडप के निर्माण का सारा व्यय वहन कर अपनी निस्वार्थ सदाशयता का पुनः प्रमाण दिया। समारोह मंडल के संयोजक का उल्लेख मैं जानबूझ कर अंत में करूँगा। सारी योजना की परिकल्पना तथा उसे रूपायित करने का अथक संकल्प लेकर श्री पं० सुधाकर पांडेय जी का अहर्निश व्यस्त रहना, बाधा एवं विक्षेप के अप्रत्याशित अवसादों को अस्पृश्य बनाए रखकर अनवरत अध्यवसाय द्वारा इस यज्ञ के यशोमय समापन का भार जैसे केवल उन्हीं पर था। नई पुरानी पीढियों के इतने सौमनस्यपूर्ण संमेलन के कारण तथा व्यवस्था-कौशल के भी कारण सभा का यह साहित्यिक समारोह बहुत दिनों तक याद किया जाएगा।

ग्रंथ-सूची

नैषध चरितचर्चा

बनारस, नागरी प्रचारिणी सभा (मुद्रक बनारस, हरिप्रकाश यन्त्रालय), 1899. 4, 72 पृ॰20 सें॰ । परिचयात्मक ।

हिंदी कालिदास की समालोचना

कानपुर, मर्चेंट प्रेस, 1901. 4, 158 पृ॰ 22.5 सें॰, ला॰ सीताराम कृत कुमार सभव भाषा, मेघदूत भाषा और रघुवश भाषा की आलोचना ।

श्यामसुदरदास, सपा॰

हिंदी वैज्ञानिक कोश

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1906 म॰ प्र॰ द्वि॰ सपादित. दार्शनिक परिभाषा, पृ॰ 243–258 तक । प्रथम स्वतन्त्र मुद्रण 1901 ई॰ में ।

विक्रमांकदेवचरित चर्चा

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1907 2, 80, 13 पृ॰ 18 सें॰ विल्हण कृत विक्र॰ का परिचय ।

हिंदी भाषा की उत्पत्ति

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1907.2,96 पृ॰ 16 सें ।

संपत्तिशास्त्र

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1908 . 366 पृ॰ सचित्र 25 सें॰ भूमिका 1907 में लिखी गई। अँग्रेज़ी की कुछ पुस्तकों के आधार पर सर्वप्रथम 'सरस्वती' और 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका' में कुछ निवध छपे ।

कालिदास की निरकुंशता

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1911. 2, 88 पृ॰ 16 सें॰ आलोचना ।

नाट्यशास्त्र

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1911. 6, 59 पृ॰ 21 सें॰ 1903 में लिखी जा चुकी थी।

प्राचीन पंडित और कवि

जुही (कानपुर), कार्मर्शल प्रेस, 1918. 8 प्राचीन विद्वनो पर लेख (सरस्वती में प्रकाशित)

वनिता विलास

जुही (कानपुर), कामर्शल प्रेस, 1919. 4, 84 पृ॰ 18 सें॰ सरस्वती में प्रकाशित 12 लेख ।

कालिदास

जबलपुर, राष्ट्रीय हिंदी मदिर, 1920 (1977 वि०) 6, 235 पृ० 18 सें०
कालिदास संबधी 9 लेख ।

कालिदास और उनकी कविता

जबलपुर, राष्ट्रीय हिंदी मदिर, 1820 सरस्वती में प्रकाशित लेख।

रसज्ञ-रंजन

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1920 सरस्वती मे प्रकाशित लेखो का सग्रह।

औद्योगिकी

जबलपुर, राष्ट्रीय हिंदी मदिर, 1921 (1978 वि०) 6, 112 पृ० 18 सें०। भूमिका 1920 मे लिखी गई।

हिंदी-साहित्य-समेलन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य

कानपुर, स्वागत समिति (कमर्शल प्रेस कानपुर से मुद्रित), 30 मार्च 1923. 77 पृ० 18 सें० ।

अतीत-स्मृति

मुरादाबाद, मानस-मुक्ता-कार्यालय—रामकिशोर शुक्ल (मुद्रक सरस्वती प्रेस, काशी), 1924 6, 241 पृ०
18 सें०। सरस्वती में प्रकाशित सास्कृतिक-ऐतिहासिक लेखो का सग्रह ।

सुकवि-संकीर्तन

लखनऊ, गगा पुस्तकमाला, 1924 (1981 वि०) 4, 169 पृ० मु० चि० 18 सें० । भूमिका अक्टूबर, 1922
को लिखी गई। 13 लेख-दुर्गाप्रसाद, माइकेल, नवीनचद्र आदि पर।

अद्भुत आलाप

लखनऊ, गगा पुस्तक माला कार्यालय, 1924 (1981 वि) 4, 156 पृ० 18 से ० । सरस्वती में प्रकाशित
विभिन्न विपयो पर 21 लेख ।

महिला-मोद

लखनऊ, गगा पुस्तकमाला कार्यालय, 1925 8, 67 पृ० सचित्र 18 सें०। सरस्वती में प्रकाशित महिलोपयोगी
10 लेख ।

आख्यायिका-सप्तक

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1927 6, 86 पृ० 18 सें० । 'सामग्री बँगला, अँग्रेजी और सस्कृत से ली गई है'—
7 निबध ।

आध्यात्मिकी

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1927. 8, 203 पृ० 18 से०. सरस्वती में प्रकाशित धर्म-दर्शन सबधी लेख।

कोविद-कीर्तन

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1927 4, 138 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित 12 विद्वानो के सक्षिप्त
जीवन-चरित ।

विदेशी विद्वान्

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1927 2, 129 पृ० 18 सें० सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

आलोचलांजलि

इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1928 9, 174 पृ० 18 सें० सरस्वती में प्रकाशित लेख।

दृश्य-दर्शन

कलकत्ता, सुलभ ग्रथ प्रचारक मडल, 1928. 133 पृ० 18 सें०. सरस्वती मे प्रकाशित लेख ।

लेखांजलि

कलकत्ता, हिंदी पुस्तक एजेंसी, 1928. 8, 167 पृ० 18 सें०. सामाजिक विपयो पर 19 लेख।

— वैचित्र्य-चित्रण

सपादक प्रेमचद, लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस, 1928 6, 125 पृ० 18 सें०। छह अध्यायो मे नराध्याय, वानराध्याय, जलचराध्याय, स्थलचराध्याय, उद्भिज्जाध्याय, प्रकीर्णिकाध्याय। सरस्वती में प्रकाशित लेख।

साहित्य-संदर्भ

लखनऊ, गगा प्र० मा० कार्यालय, 1928 (1985 वि०). 6, 274 पृ० 18 सें०। सरस्वती में प्रकाशित 20 लेख। 4 अन्य लेखको के भी।

पुरावृत्त

इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1929 8, 154 पृ० 18 सें० सरस्वती में प्रकाशित 12 इतिहास सबधी लेख।

पुरातत्व-प्रसग

चिरगाँव, साहित्य प्रेस, 1929. 6, 171 पृ० 17 सें० सरस्वती में प्रकाशित पुरातत्व सबधी 13 लेख।

प्राचीन-चिह्न

इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1929.' 2, 123 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित साँची, एलौरा, खुजराहो सबधी लेख।

साहित्यालाप

पटना, खड्गविलास प्रेस, 1929. 8, 352 पृ० 18 सें० 'इस सग्रह में कुछ अन्य अभिन्नात्मा लेखको के भी लेख शामिल कर लिए गए है' सरस्वती में प्रकाशित हिंदी भापा-लिपि सबधी 18 लेख।

चरितचर्या

झाँसी, साहित्य सदन, 1930. 133 पृ० 18 सें० सरस्वती में प्रकाशित लेख।

वाग्विलास

लहेरियासराय, हिंदी पुस्तक भडार, 1930. 6, 288 पृ० 17 सें०. भापा, व्याकरण, लिपि, समालोचन तथा अन्य 14 निवध।

विज्ञान-वार्ता

लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस, 1930. 2, 233 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख।

समालोचना-समुच्चय

इलाहावाद, रामनारायणलाल, 1930 236 पृ० 18 सें० सरस्वती में प्रकाशित विभिन्न विपयो पर 20 निवध।

साहित्य-सीकर

इलाहावाद, तरुण-भारत ग्रथावली, 1930 (1987 वि०) 6, 141 पृ० 18 सें०। सरस्वती में प्रकाशित 21 लेख।

विचार विमर्श

वाराणसी, भारती भडार, 1930 2, 555 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख।

संकलन

वाराणसी, भारती भडार, 1931. 179 पृ० 18 सें० सरस्वती में प्रकाशित लेख।

चरित्र-चित्रण

इलाहावाद, हिंदी प्रेस, 1934. 2, 147 पृ० 18 सें०. सरस्वती में प्रकाशित लेख—जीवनी-साहित्य।

प्रबंध-पुष्पांजलि

झाँसी, साहित्य सदन, 1935 (1992 वि०) 6, 147 पृ० 17 सें० 11 लेख। 4 उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव सबधी तथा अन्य।

अन्य व्यक्तियों द्वारा संपादित

द्विवेदी-पत्रावली

संपा० वैजनाथसिंह विनोद; भूमिका मै० श० गुप्त । वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ, 1954. 226 पृ० 19 सें०

संचयन

सपा० प्रभात शास्त्री । इलाहावाद, साहित्यकार सघ, 1949. 27, 145 पृ० 18 सें० ।

द्विवेदी पत्रावली

2801 पत्र नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित ।

मौलिक काव्य

देवी-स्तुति शतक

जुही (कानपुर) ग्रथकार, 1892, चडी-स्तुति (पद्यात्मक)

नागरी

जयपुर, वेदविद्या प्रचारिणी सभा, 1900. 4, 23 पृ० 18 सें०. नागरी विषयक चार कविताओ का सग्रह ।

काव्य-मंजूषा (प्रथम भाग)

जयपुर, जैन वैद्य, 1903 (हरिप्रकाश और तारा यन्त्रालय वनारस में मुद्रित) 6, 143 पृ० 21 सें० (1897–1902 तक मौलिक कविताओ का सग्रह 1923 में 'सुमन' नाम से सशो० स०)

कविता कलाप नामक सचित्र कविताओ का संग्रह

इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1909 70 पृ० फलक 26 सें० (द्वि० द्वारा सपा० निजी, दे० प्र० पूर्ण, नाथू. शकर, का० गुरू और मै०श० गुप्त की कविताएँ)

सुमन

झाँसी, साहित्य सदन, 1923। 2, 135 पृ० 18 सें०. हिंदी और सस्कृत की पद्यात्मक रचनाएँ। 'काव्य मजूषा' का सशोधित सस्करण

द्विवेदी-काव्यमाला

स० देवीदत्त शुक्ल । इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1940. 19, 454 पृ० 21 सें०. सपूर्ण काव्य-संग्रह ।

अप्रकाशित

तरुणोपदेश—1894 ई०

अप्रकाशित । दौलतपुर में । 120 पृ० 4, अधिकरणो में । विस्तृत वि० देखिए डा० उदयभानु सिंह कृत प्रबध, पृ० 88—कामशास्त्र पर उपदेशात्मक पुस्तक ।

कौटिल्य कुठार

अप्रकाशित । नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित । पुस्तक में रायदेवीप्रसाद कृत सक्षिप्त भूमिका अँग्रेज़ी मे । विस्तृत विवरण के लिए देखिए—डा० उदयभानु सिंह कृत प्रवध, पृ० 90 ।

सोहागरात

अप्रकाशित, दौलतपुर में । वाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद । विस्तृत विवरण देखिए—डा० उदयभानु सिंह कृत प्रवंध पृ० 89 ।

भर्त्तृहरि

विनय-विनोद, 1899. वैराग्यशतक का पद्यात्मक (दोहा) अनुवाद ,

जयदेव

विहार-वाटिका, 1890. गीतगोविंद का भावानुवाद ।

भर्त्तृहरि

स्नेहमाला, 1890. श्रृगारशतक का पद्यात्मक अनुवाद ।

कालिदास

ऋतु-तरगिणी । कलकत्ता, आर्यावर्त प्रेस, 1891. 6, 57, 7 पृ० 17 सें०, ऋतुसहार पद्यात्मक छायानुवाद ।

जगन्नाथ पंडितराज

गंगा लहरी 1891. सवैया छदो में अनुवाद ।

भामिनी-विलास—बवई, खेमराज कृष्णदास, 1891. 16, 168 पृ० 20 सें०, गद्यात्मक अनुवाद ।

अमृत-लहरी 1896 यमुनास्तोत्र का अनुवाद ।

पुष्पदंत

(श्री) महिम्नस्तोत्र 1891. पद्यात्मक अनुवाद ।

बेकन-विचार-रत्नावली, बेकन जॉन

खेमराज कृष्णदास, बम्बई, 1901. 6, 134 पृ० 21 सें०, वेकन के 36 निवधो का अनुवाद ।

कुमारसंभव-सार

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1902. 2, 51 पृ० 17 से०, प्रथम पाच सर्गो का पद्यात्मक अनुवाद ।

शिक्षा, स्पैसर, हर्बर्ट (1820–1903), इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1906. 28, 358 पृ० 24 सें०, 'एजूकेशन' का अनुवाद ।

जल-चिकित्सा, कुने, लुई; इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1907.

स्वाधीनता

मिल, जॉन स्टुअर्ट, बवई, हिंदी ग्रथ रत्नाकर, 1907. 20, 22 पृ० 18 सें०, 'ऑन लिवर्टी' का अनुवाद । भूमिका 1905 में लिखी गई ।

महाभारत मूल आख्यान

इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1910. 15, 502, 2 पृ० 24 सें०, 'सुरेंद्रनाथ ठाकुर कृत महाभारत से स्वच्छदता-पूर्वक किया गया अनुवाद'—भूमिका 1908 मे लिखी गई ।

कालिदास

रघुवश का हिंदी गद्य में भावार्थ-बोधक अनुवाद । इलहावाद, इडियन प्रेस, 1913 6, 260 पृ० मु० चि० 21 सें०, गद्यात्मक अनुवाद ।

नारायण भट्ट

वेणी सहार नाटक का आख्यायिका के रूप मे भावार्थ । जुही (कानपुर), कामर्शल प्रेस, 1913

कालिदास

कुमारसभव का हिंदी गद्य मे भावार्थ-बोधक अनुवाद । इलाहावाद, इडियन प्रेम, 1917 7, 173 पृ० 17 सें०, गद्यात्मक अनुवाद । भूमिका 1915 में लिखी गई ।

मेघदूत का हिंदी-गद्य में भावार्थ बोधक अनुवाद इलाहावाद, इडियन प्रेस, 1917. 11, 49 पृ० 18 सें०

भारवि

किरातार्जुनीय महाकाव्य का भावार्थ बोधक अनुवाद । इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1917 57, 387 पृ० 18 से०, गद्यानुवाद ।

आलोचनात्मक, अभिनंदनपरक ग्रंथ और पत्रिकाओं के विशेषांक

उदयभानु सिंह

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग

लखनऊ, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1951.'लखनऊ विश्वविद्यालय से 1946 मे स्वीकृत प्रबंध ।

कुलवंत कोहली

युग-निर्माता द्विवेदी—बंबई, वोरा एण्ड को०, 1961 120 पृ० 18 सें० 2.50

द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा 1933 द्विवेदी संबंधी 20 लेख और संदेश ।

प्रेमनारायण टंडन

द्विवेदी-मीमांसा—इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, 1939. 6, 286 पृ० 18 सें० 2 50

बालक—द्विवेदी-स्मृति-अंक 1940

बैजनाथसिंह विनोद

द्विवेदी युग के साहित्यकारो के कुछ पत्र—इलाहाबाद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, 1958. 166, 222 पृ० 22 से०,

माधुरी, फरवरी, 1934 ई० ।

विशाल भारत, 1933 ई०

सरस्वती—द्विवेदी-स्मृति-अंक, भाग 40—स० 2 । फरवरी, 1939

सरस्वती—हीरक जयंती अंक, 1900–1959 ई० । दिसंबर, 1961

साहित्य-संदेश—द्विवेदी अंक, स० 8, भाग-2, 1939

सुधा (पत्रिका)—सितंबर, 1935

हंस—अभिनंदनांक

अप्रेल से जुलाई 1930, अप्रेल 1933 और अक्टूबर 1935 ई०

लेख-सूची

सन् 1900-1909 तक 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदीजी के लेखो की सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

लेखक परिचय

- मैथिलीशरण गुप्त, साकेत-सदन, चिरगाँव (झाँसी)।
- श्रीप्रकाश, सेवाश्रम, वाराणसी-1
- हरिभाऊ उपाध्याय, शिक्षा मन्त्री, राजस्थान, जयपुर।
- वृंदावनलाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी।
- प्रयागदत्त शुक्ल, विदर्भ हिंदी साहित्य समेलन, श्री फत्तेचद मोर हिंदी भवन, वर्धा रोड, नागपुर–1.
- जहूरबख्श, 30।10, दक्षिणी तात्या टोपे नगर, भोपाल (म० प्र०)।
- हरिशंकर शर्मा, लोहामडी, आगरा।
- गोविंद दास, राजा गोकुलदास का महल, जबलपुर।
- रामचद्र वर्मा, 47, लाजपतनगर, बनारस–2.
- विनोदशकर व्यास, द्वारा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
- रामप्रताप त्रिपाठी, सहायक मन्त्री, हिंदी साहित्य समेलन, इलाहाबाद।
- रामस्वरूप दुबे, पत्रकार, पो० बा० नबर 220, कानपुर।
- कुतल गोयल, द्वारा, प्रो० उत्तमचद्र गोयल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, सीधी (म० प्र०)।
- अमरबहादुर सिंह 'अमरेश', गाधीनगर, रायबरेली (उ०प्र०)।
- श्री दा. सातवलेकर, अध्यक्ष, स्वाध्याय मडल, पारडी (जिला-सूरत)।
- प्रमिला शर्मा (कुमारी), हृदय-निवास, सहारनपुर।
- हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, कितावघर, दतिया (म० प्र०)।
- बलबीर त्यागी, 1545, वेस्ट रोहतासनगर, शाहदरा, दिल्ली-32
- रामस्वरूप भक्त 'विमेश', हिंदी विभाग, के० एल० एस० कालेज, नवादा (गया)।
- ए० एस० सुलोचना, 31, कार स्ट्रीट, मद्रास–5
- नंददुलारे वाजपेयी, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।
- इंद्रनाथ चौधुरी, प्राध्यापक, हसराज कालेज, दिल्ली।
- गंगाप्रसाद विमल, हिंदी विभाग, दिल्ली कॉलेज, अजमेरी गेट, दिल्ली।
- अशोक महाजन, 118।28, कौशलपुरी, कानपुर।
- सुधाकर पाडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
- पप्पू जी, सुगरकेन ब्रीडिंग इस्टीट्यूट, कोयबटूर–7 (मद्रास)।
- सुरेंद्रनाथ सिंह, द्वारा, उदयभानु सिंह, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- रामफेर त्रिपाठी, 40-ई, मोतीमहल, लखनऊ।
- कन्हैयालाल शर्मा, 'ब्रजेश', राजकीय प्रेस, अलीगढ।
- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, खैरागढ (म० प्र०)।
- मार्कण्डेय उपाध्याय, मुद्रण विभाग, नागरी प्रचारिणी सभा, विश्वेश्वरगज, वाराणसी (उ० प्र०)।
- गौरीशकर गुप्त, प्रधान-मत्री, राष्ट्रकवि परिषद्, ए-2।5, गायघाट, वाराणसी –1 (उ० प्र०)।
- सोमदेव शर्मा, 4।65, रूपनगर, दिल्ली–6
- लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा', रमा निवास, हटा (दमोह)।
- देवप्रकाश गुप्त, ग्राउंड कॉटेज, 18।317, लोदी रोड, नई दिल्ली–3
- रघुबीर सिंह (डा०), सीतामऊ (मालवा)।

- परमात्माशरण बंसल, बी–4।23, लोदी कालोनी, नई दिल्ली–3
- ~~लक्ष्मीशंकर व्यास, व्यास निवास, 31।51, काल भैरव, वाराणसी–1~~
- रमेश सावद्रा 'भारती', हिंदी विभाग, शासकीय ज्ञान विज्ञान महाविद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र-राज्य)।
- चंद्रप्रकाश सिंह (कुवर), आचार्य तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, म० स० विश्वविद्यालय, वडौदा।
- उदयभानु सिंह (डा०), हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- कृष्णविहारी मिश्र, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, दयाल सिंह कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- एन. नारायण, हिंदी पंडित, एस० वी० हाई स्कूल, कनियूर (जिला-कोयवटूर)।
- रुद्र काशिकेय, प्रधान मंत्री, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
- मधुकर भट्ट, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- अगरचंद नाहटा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर।
- लक्ष्मीनारायण दुवे (डा०), हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०)।
- शिवनारायण सक्सेना, भावनगर (जिला-झाबुआ) (म० प्र०)।
- अमित चट्टोपाध्याय, बंगला विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता।
- रणजीतकुमार सेन, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली।
- नवारुढ वर्मा, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी (असम)।
- रजनीकांत दास, पत्रकार, उदितनगर, राउरकेला (उडीसा)।
- सुरेंद्र प्रकाश 4।2613, बीडनपुरा, करौलबाग, नई दिल्ली।
- सोमशेखर 'सोम', हिंदी विभाग, दि कम्युनिटी सेंटर, जयनगर, बंगलौर।
- मखनलाल बेकस, कश्मीरी यूनिट, आकाशवाणी, नई दिल्ली।
- मनहर चौहान, आई-154, कीर्तिनगर, नई दिल्ली-15.
- ललिता रामकृष्णन् (श्रीमती), केंद्रीय हिंदी निदेशालय, प्रदर्शनी मैदान, नई दिल्ली।
- हनुमच्छास्त्री अयाचित, हिंदी-तेलुगु विभाग, अलीगढ विश्वविद्यालय अलीगढ।
- हरनाम, उर्वशी, गफ्फार मार्केट, अजमल खाँ रोड, नई दिल्ली।
- कंचन कुमार, संपादक 'मराल', डी-53।90 डी, नारायणनगर, वाराणसी।
- प्रभाकर माचवे, (डा०) 120, रवीन्द्र नगर नई दिल्ली–11
- रवि वर्मा, संपादक, 'युगप्रभात', मातृभूमि बिल्डिंग्स, कालिकट (केरल)।
- हनुमत्प्रसाद शास्त्री, अ० भा० संस्कृत साहित्य संमेलन कार्यालय, नंदा लाज, शक्तिनगर, दिल्ली।
- सुमित्रानंदन पंत, 18-बी, स्टेनली रोड, इलाहाबाद।
- गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, धर्मसंघ शिक्षा मंडल, नवाबगंज, खोजवाँ, वाराणसी।
- जेठालाल जोषी, मंत्री, गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद-6.
- सूर्यनारायण व्यास, भारती भवन, उज्जैन (म० प्र०)।
- कालिदास कपूर, कपूर कुटी, हरदोई मार्ग, लखनऊ-3।
- के० पिच्चुमणि, बंगला नं० 16, नीलमकुंज, अहमदाबाद-17
- विश्वनाथ प्रसाद, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली
- जगदीश चतुर्वेदी, 27/23, ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली-12
- भक्तदर्शन, उप शिक्षा मंत्री, केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
- इंदुकांत शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

●

निदेशक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित।